पुराणों में उपलब्ध आयुर्वेदीय सामग्रियाँ

बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय झाँसी की संस्कृत
पी-एच०डी० उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध-प्रबन्ध
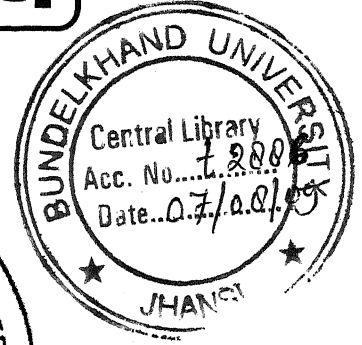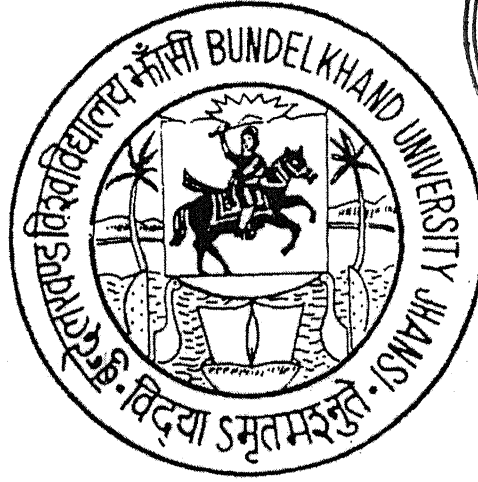
2007

निर्देशक :
डॉ० मुरली मनोहर द्विवेदी
विभागाध्यक्ष संस्कृत
प्राणनाथ स्नातकोत्तर महाविद्यालय
मऊ-चित्रकूट

प्रस्तुतकर्ता :
कृष्ण कुमार सिंह
एम०ए०, बी०एड०

शोध केन्द्र

गाँधी स्नातकोत्तर महाविद्यालय, उरई, जालौन

||श्री रामाय नमः||

डॉ० मुरली मनोहर द्विवेदी
विभागाध्यक्ष, संस्कृत
ामति प्राणनाथ स्नातकोत्तर महाविद्यालय
मऊ, चित्रकूट (उ०प्र०)

आवास :– गायत्री नगर, मऊ
चित्रकूट
दूरभाष :– 05191–220015
मो०बा० :– 9450629381
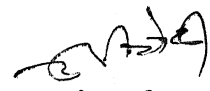
प्रमाण-पत्र

मैं प्रमाणित करता हूँ कि कृष्ण कुमार सिंह ने बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय, झाँसी से संस्कृत विषय में पी-एच०डी० उपाधि हेतु पुराणों में उपलब्ध आयुर्वेदीय सामग्रियाँ नामक शोध-प्रबन्ध मेरे निर्देशन में शोध अध्यादेश 7 के अनुसार निर्धारित उपस्थिति देकर पूर्ण किया है।

इन्हें विश्वविद्यालय के पत्रांक बु०वि०/प्रशा०/शोध/2005/439-41 दिनांक 07.11.2005 के आधार पर शोध उपाधि समिति की बैठक दिनांक 17.09.2005 के द्वारा विषय की स्वीकृति प्रदान की गयी थी।

श्री कृष्ण कुमार सिंह का प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध उच्चस्तरीय तथ्यों पर आधारित है तथा शोध के क्षेत्र में इस प्रबन्ध का मौलिक योगदान होगा।

अतएव, मैं इसे मूल्यांकनार्थ बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय, झाँसी में प्रस्तुति हेतु प्रबलतम संस्तुति करता हूँ।

(डॉ० मुरली मनोहर द्विवेदी)
एम०ए०, डी०फिल्०
विभागाध्यक्ष, संस्कृत
महामति प्राणनाथ स्नातकोत्तर महाविद्यालय
मऊ, चित्रकूट (उ०प्र०)

समर्पण

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध

ईश्वर की असीम अनुकम्पा

मेरे वंशवृक्ष परमपूज्य श्री बैजनाथ सिंह

के आशीर्वाद

वात्सल्य एवं दया की सहज मूर्ति

पूजनीया माता जी

श्रीमती धनपतिया देवी

परम विवेकी पूज्य पिताजी

श्री कुबेर सिंह

के कुशल निर्देशन

एवं आदरणीय अग्रज

श्री राकेश सिंह

एवं आदरणीया भाभी

श्रीमती प्रेमा देवी

के प्रेम का

फल है।

प्राक्कथन

तत्त्व जिज्ञासा मानव का सहज स्वभाव होती है। यद्यपि मैं हाईस्कूल में विज्ञान का छात्र रहा, पिताजी की इच्छा थी कि मैं डाक्टर बनू, किन्तु मेरी रूचि भारतीय संस्कृति और दर्शन के प्रति स्वभावत: अधिक थी। इण्टरमीडिएट मैं वाणिज्य वर्ग का छात्र होते हुए संस्कृत विषय को श्रेष्ठ दर्जा दिया अत: स्नातक में मैं विज्ञान, वाणिज्य वर्ग को छोड़कर अतर्रा स्नातकोत्तर महाविद्यालय, अतर्रा में संस्कृत हिन्दी और सैन्य विज्ञान विषय लेकर बी०ए० में प्रवेश लिया। दैवी वाक् संस्कृत के रूप में भारतीय संस्कृति और दर्शन मेरे समक्ष मूर्तिमान हो उठते थे। बी०ए० द्वितीय वर्ष में पाठ्यक्रम में निर्धारित कठोपनिषद् ने मुझे मानव जीवन की सार्थकता का मार्ग दिखाया। इसमें मेरी सहज-तत्व जिज्ञासा की भावना को और बल मिला। एम०ए० पूर्वार्ध में तर्कभाषा, सांख्यकारिका और वेदान्तसार के अध्ययन से मेरी भावना और पुष्ट हुई। फलत: अतर्रा महाविद्यालय अतर्रा के संस्कृत विभागाध्यक्ष प्रो० राजाराम दीक्षित जी के सानिध्य में षड्दर्शनों का परिचय प्राप्त किया। मैंने हाईस्कूल से ही संकल्प संजोकर रखा था कि मुझे बी०एड० और पी-एच०डी० करनी है। एम०ए० उत्तीर्ण करने के बाद बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय झाँसी की बी०एड० प्रवेश परीक्षा में नाम आ गया, इसलिए मैंने पहले बी०एड० किया इसके तुरन्त बाद जैसे ही बी०एड० सत्र पूर्ण हुआ मैंने पी-एच०डी० में पंजीयन करा लिया और अध्ययन में संलग्न हो गया। मेरा यह अध्ययन कार्य मेरे लिए बहुत सुगम नहीं रहा । मेरे निर्देशक डॉ० मुरली मनोहर द्विवेदी जी मऊ में कार्यरत हैं मेरा आवास कर्वी है तथा शोध-केन्द्र गाँधी महाविद्यालय, उरई था। जिससे निर्देशन एवं मार्गदर्शन करने हेतु मुझे मऊ एवं पुस्तकीय सहायता उपलब्ध करने हेतु प्राय: उरई जाना पड़ता था। इसके अतिरिक्त सम्बन्धित ग्रन्थों का अवलोकन करने के लिए इलाहाबाद एवं वाराणसी भी अनेक बार जाना पड़ा। किन्तु श्रेयांसि बहुविघ्नानि का ध्यान करते हुए तथा प्राप्य फल की प्रसन्नता में मुझे उक्त असुविधाएँ एवं कष्ट नगण्य लगते थे। और मैं यथा समय कृत कार्य को दिखाने तथा अग्रिम निर्देशन प्राप्त करने हेतु गुरूजी की सेवा में उपस्थित होता था। गुरूजी के सानिध्य में मुझे यथासम्भव पुस्तकीय सहायता तथा निर्देशन के साथ ही उत्साहवृद्धि एवं प्रेरणा मिलती रही। मुझे अपने इस कर्म से संतुष्टि एवं प्रसन्नता प्राप्त हुई है। मेरे इस कार्य में जो कुछ भी अच्छाइयाँ या गुण हैं वह मेरे गुरूजनों के प्रसाद का फल है और जो न्यूनताएँ हैं वह मेरी हैं।

आभार

किसी भी शोध-विषय का लिखना अत्यन्त दुरूह एवं कठिन कार्य है। बिना अनेक विद्वानों की सहायता से इसकी पूर्ति की कल्पना नहीं की जा सकती। इस शोध कार्य में मेरे निर्देशक साहित्य व्याकरण दर्शन आदि अनेक विषयों में पारंगत विद्वद्वर पितृतुल्य श्रद्धेय गुरुवर्य डॉ० मुरली मनोहर द्विवेदी, विभागाध्यक्ष-संस्कृत, प्राणनाथ स्नातकोत्तर महाविद्यालय, मऊ-चित्रकूट के सानिध्य में मुझे जो मार्गदर्शन और ज्ञान प्राप्त हुआ, वह मेरे लिए अविस्मरणीय है। उनके प्रति कृतज्ञता ज्ञापन धृष्टता नहीं अपितु गुरु गौरव की अवमानना है। इस शोध-प्रबन्ध की रचना में अनेक पूर्ववर्ती कृतियों का उपयोग किया गया है; देशभर के इन सभी मनीषियों के प्रति मैं अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ। इस महायज्ञ में मेरे अनेक मित्रों, सहयोगियों ने भी हांथ बंटाया है। समय-समय पर उनके साथ विचार -विमर्श में अनेक तथ्यों का स्फुरण हुआ है इन सभी के प्रति मैं हार्दिक धन्यवाद व्यक्त करता हूँ। अनेक ग्रन्थों, शोध पत्रों एवं लेखों का उपयोग इस शोध-प्रबन्ध में मैंने किया है जिनका यथा सम्भव उल्लेख किया है। इन सभी के लेखकों के प्रति मैं आभार ज्ञापित करता हूँ। अतर्रा स्नातकोत्तर महाविद्यालय अतर्रा के संस्कृत-रीडर एवं मनीषी डॉ० ओमकार मिश्र जी का मैं हृदय से आभारी हूँ जिन्होंने मेरे अनुरोध को सहजता से स्वीकार किया है और मुझे इस योग्य बनाया है।

शोध-प्रबन्ध की लेखन शैली में जिन महान् विद्वानों का मुझे सानिध्य प्राप्त हुआ उनके नाम इस प्रकार हैं :-

प्रो० राजाराम दीक्षित, विभागाध्यक्ष-संस्कृत, अतर्रा स्नातकोत्तर महाविद्यालय, अतर्रा

डॉ० दयाशंकर त्रिपाठी, विभागाध्यक्ष-संस्कृत, गान्धी महाविद्यालय, उरई

डॉ० तोताराम निरंजन, विभागाध्यक्ष-संस्कृत, मथुरा प्रसाद पटेल महाविद्यालय, कोंच

डॉ० वेद प्रकाश द्विवेदी, विभागाध्यक्ष-हिन्दी, अतर्रा स्नातकोत्तर महाविद्यालय, अतर्रा

डॉ० गीर्वाण दत्त मिश्र, रीडर-हिन्दी, अतर्रा स्नातकोत्तर महाविद्यालय, अतर्रा

डॉ० गया प्रसाद यादव, रीडर-हिन्दी, अतर्रा स्नातकोत्तर महाविद्यालय, अतर्रा

डॉ० अमरनाथ दत्त, शिक्षक-शिक्षा संकाय, अतर्रा महाविद्यालय, अतर्रा

डॉ० रमेश सिंह, रीडर-सैन्य विभाग, अतर्रा महाविद्यालय, अतर्रा

डॉ० दिनेश कुमार गर्ग, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी

अतः अन्त में मैं समस्त गुरुजनों, जनमानस, मित्रों एवं सहयोगियों का हार्दिक कृतज्ञता एवं धन्यवाद ज्ञापित करता हूँ।

सादर,

भवदीय

विजया दशमी, सम्वत् 2064
रविवार, 21 अक्टूबर, 2007

(कृष्ण कुमार सिंह)
एम०ए०, बी०एड०

भूमिका

भारतीय अध्यात्मक एवं चिन्तन के निरूपक उपादानों में पुराणों का असंदिग्ध महत्व है। आर्य जाति की मनीषा का महत्वपूर्ण निक्षेप पुराणों में प्राप्त होता है। न्याय, मीमांसा, धर्मशास्त्र, चार वेद, छः वेदांङ्ग और पुराण ये चौदह विद्याएँ प्राचीन भारतीय चिन्तन के सर्वांग को प्रस्तुत करती हैं स्मृति, सूत्र, महाभाष्य, न्यायभाष्य आदि प्राचीन ग्रन्थों में पुराणों का उल्लेख मिलता है। वेद के ब्राह्मण भाग और संहिता भाग में भी पुराणों के नाम मिलते हैं।

पुराणों में सृष्टि की अद्भुत कथा कही गयी है। सृष्टि, प्रतिसृष्टि, वंश, वंशानुचरित और मन्वन्तर के वृत्त में सृष्टि से लेकर विलय (प्रलय) तक के अनुक्रम विनिर्दृष्ट हुए हैं। आधुनिक विकासवाद और विज्ञान की स्थापनाएँ निश्चय ही इस प्रपत्ति के विपरीत हैं। लेकिन पुराणों का परिशीलन एक विशेष प्रकार की मानसिकता और निहित आस्था की माँग करता है। पुराणों ने ही सर्वप्रथम यह प्रतिपादित किया कि वृक्ष, लता आदि उद्भिद् चैतन्य सत्ताएँ हैं। पुराणों में विस्तृत वर्णन आए हैं कि वृक्ष, देखते हैं, सुनते हैं, सूघते हैं, स्वाद लेते हैं, सोते हैं, जागते हैं, हँसते और रोते हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि वनस्पति विज्ञान काफी हद तक इस मान्यता को स्वीकार कर चुका है।

आधुनिक विज्ञान से पौराणिक निष्पत्तियों की विलक्षण समरसता का यही प्रमाण है कि दोनों की अनेक मान्यताएँ और प्रमेय एक दूसरे के निकट आ गये हैं। आधुनिक भौतिक शास्त्र भी इस निष्कर्ष पर पहुँचा है कि इलेक्ट्रान और प्रोट्रान दो ही मूलतत्व हैं और अब यह भी सिद्ध हो गया है कि दोनों का मूल एक तत्व है।

भारत के प्राचीन साहित्य में पुराणों का रेखांकित महत्व है, क्योंकि भारतीय मनीषा, कला तथा इतिहास का उल्लेखनीय संरक्षण पुराणों के माध्यम से हुआ है। उदाहरणार्थ महाभारत का 'खिल' होकर भी हरिवंश पुराण हमारे समक्ष भारतीय संस्कृति और इतिहास की जो आधारभूत सामग्री उपस्थित करता है, वह भारतीय विद्याविदों के लिए सुखद विस्मय का विषय है। अत: महापुराण, उपपुराण, या सूत संहिता, के नाम से

अभिहित होने वाली प्राचीन कृतियाँ इसे प्रमाणित करती हैं कि पुराण साहित्य ही भारतीय विद्या का श्रीयन्त्र है, जो हमारे समक्ष दीप्तिमान् ज्ञान का अदिति-रूप उपस्थित करता है।

भारतीय जीवन विज्ञान में आयुर्वेदिक वनस्पतियों का विशेष महत्व था, क्योंकि यहॉ आयुर्वेद के ग्रन्थों में रोग को दूर करना ही स्वास्थ्य का लक्षण नहीं माना गया अपितु त्रिदोष निवारण के उपरान्त मोक्ष प्राप्त करना उनके जीवन का चरम काम्य था। जिसमें वनस्पतियों के बहुविधि प्रयोग एवं उपयोग महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। आयुर्वेदीय ग्रन्थों के साथ ही काव्य कला में भी अपनी बहुज्ञता के कारण इन वनस्पतियों के महत्व को स्वीकार किया है। वैदिक साहित्य में 'सोमरस' इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है।

आज के भौतिकतावादी एवं उपभोक्तावादी वातावरण में मानव विनाश के अनेक आयाम विकसित हो रहे हैं। जिनके प्रति वैज्ञानिक एवं समाजशास्त्रीय वेत्ता अत्यधिक चिन्तित हैं। भूमण्डलीकरण के कारण हमारी जीवन पद्धति ऐसी संक्रमणशील अवस्था को पहुँच गई है जिसमें प्राकृतिक वस्तुओं का अधिक से अधिक दोहन-क्षरण हो रहा है। परिणांम स्वरूप अंतरिक्षि से आने वाली पराबैगनी किरणों के कारण इतना प्रदूषण फैल गया है कि मानव अस्तित्व ही संकटापन्न हो गया है। इस हेतु, वैज्ञानिक, नेता, समाजशास्त्री साहित्यकार सभी प्रयासरत हैं और इनकी दृष्टि भारतीय साहित्य की ओर गई है, जहॉ औषधय: शान्ति:, वानस्पतय: शान्ति:, अन्तरिक्षि: शान्ति:, के साथ सर्वे भवन्तु सुखिन: सर्वे सन्तु निरामया: कहा गया है।

सच है कि प्रकृति आदि काल से मानव की धरती आश्रयदात्री और सहचरी रही है। फलदायी वृक्षों से उदरपूर्ति, कल-कल करती नदियों से तृषा शान्ति एवं प्राणद् जीवन्त वनस्पतियों से मानव निरामय होता रहा है, उसके सम्पूर्ण विकास में वनस्पतियों का अत्यधिक महत्व था इसीलिए वैदिक साहित्य से लेकर पौराणिक शास्त्रों में मानव की कायिक एवं मानसिक रूग्णता को दूरकर निरामय, स्वास्थ्य सौन्दर्य की चर्चा की गई है।

आयुर्वेद विश्व की प्राचीनतम चिकित्सा पद्धति तथा भारत की अमूल्य सांस्कृतिक धरोहर है। वेदों से आयुर्वेद का अवतरण हुआ है और इसे अथर्ववेद का उपवेद कहा गया है। आज से प्राय: दो हजार वर्ष पूर्व भारत वर्ष में आत्रेय अग्निवेश और धन्वन्तरि जैसे महान् चिकित्सकों के अलग-अलग पीठ स्थापित थे। चिकित्सा सम्बन्धी सिद्धान्तों के

विनिश्चय के लिए इस काल में अपने देश में अन्तर्राष्ट्रीय स्तर के सम्मेलन भी होते रहते थे, जिसमें पश्चिम एशिया तथा मध्य एशिया के अनेक प्रतिनिधि भाग लेते थे। उस काल में चिकित्सा शास्त्र का इस देश में जो अभूतपूर्व विकास हुआ वह निश्चय ही हमारे गौरवशाली अतीत का प्रतीक है परन्तु दुःख की बात यह हुई कि मध्य काल में इस क्षेत्र में कार्य करने वाले अन्य देशों के चिकित्सकों के साथ हम सम्पर्क नहीं रख सके जिससे बहुत अंशों में हमारे कार्य से इन विकासशील चिकित्सा वैज्ञानिकों की अज्ञानता ही रही और हमारी उपलब्धियों का सही मूल्यांकन नहीं हो पाया।

विभिन्न चिकित्सा पद्धतियों की कार्यप्रणाली में चाहे जो भी अन्तर हो परन्तु सब का मुख्य उद्देश्य मानव के स्वास्थ्य तथा कल्याण की कामना ही है। स्वस्थ मानव उत्तम स्वास्थ्य की कामना करता है और रोगी रोग मुक्ति चाहता है। उसका लगाव किसी एक चिकित्सा पद्धति से नहीं रहता। चिकित्सकों को पीड़ित मानवता के सफल उपचार के लिए मिलकर कदम बढ़ाना चाहिए।

आयुर्वेद के सिद्धान्त चिकित्साविदों की संभाषा परिषदों द्वारा निर्णीत हैं। जहाँ पक्ष विपक्ष सम्बन्धी समस्त तर्कों को रखने का सभी को अवसर दिया गया था। "नात्मार्थं नापि कामार्थमथ भूतदयां प्रति" का उद्देश्य भी महान् था औ।र 'कृत्सनो हि लोको बुद्धिमताचार्यः" की नीति भी दूरदृष्टिपूर्ण थी।

हर्ष का विषय है कि स्वतंत्र भारत में आयुर्वेद के पुरूत्थान के प्रयत्नों में प्रगति हो रही है और शिक्षा, अनुसन्धान, चिकित्सा तथा ग्रन्थ लेखन प्रभृति सभी दिशाओं में कार्य हो रहा है।

इन सभी दृष्टियों से प्राचीन भारतीय पुराण साहित्य में आयुर्वेद सम्बन्धी विषय वस्तु का अध्ययन एवम् प्रकाशन अत्यन्त प्रासंगिक होगा।

विषय अनुक्रमणिका

अध्याय प्रथम

पुराण परिचय

अध्याय - प्रथम
पुराण परिचय

पुराण भारतीय साहित्य का गौरव ग्रन्थ है। बिना पुराण के अध्ययन के कोई भी व्यक्ति विचक्षण नहीं माना जा सकता है -

यो विद्याच्चतुरो वेदान्सांगोपनिषदो द्विजः।
न चेत्पुराणं संविद्यान्नैव स स्याद्विचक्षणः।।[1]

भारतीय संस्कृति के स्वरूप की जानकारी के लिए पुराण के अध्ययन की महती आवश्यकता है। पुराण भारतीय संस्कृति का मेरूदण्ड है – वह आधार पीठ है जिस पर आधुनिक भारतीय समाज अपने नियमन को प्रतिष्ठित करता है।

वेद तो हमारे सनातन धर्म के सर्व प्रामाणिक तथा प्राचीनतम ग्रन्थ हैं ही, परन्तु वेदार्थ का उपबृंहण करने से पुराण ''वेद का पूरक'' माना जाता है। ''पुराण'' शब्द की व्युत्पत्तियों में 'पूरणात् पुराणम्' भी अन्यतम व्युत्पत्ति है। जिसका तात्पर्य यही है कि वेदार्थ के पूरण करने के कारण ही इस ग्रन्थ को पुराण नामकरण प्राप्त हुआ।

इसी व्युत्पत्ति के आधार पर जीव गोस्वामी वेद तुल्य पुराण को भी अपौरुषेय मानते हैं। उनका तर्क यह है कि पूर्ति करने वाला पदार्थ भी मूल पदार्थ से सर्वथा समानता रखता है।

पुराण शब्द की व्युत्पत्ति पाणिनि, यास्क तथा स्वयं पुराणों ने भी दी है। 'पुराभवम्' (प्राचीन काल में होने वाला) इस अर्थ में ''सायं चिरंप्राह्णप्रगऽत्ययेभ्यष्टयुट्युलौ तुट् च''[2]

पाणिनि के इस सूत्र से 'पुरा' शब्द से 'ट्यु' प्रत्यय करने तथा 'तुट्' के आगमन होने पर ''पुरातन'' शब्द निष्पन्न होता है, परन्तु स्वयं पाणिनि ने ही अपने दो सूत्रों – पूर्वकालैक–सर्व– जरत्पुराणनव–केवलाः समानाधिकरणेन'[3]

तथा 'पुराण प्रोक्तेषु ब्राह्मण कल्पेषु' (4/3/105) में 'पुराण' शब्द का प्रयोग किया है जिससे तुडागम का अभाव निपातनात् सिद्ध होता है। तात्पर्य यह है कि पाणिनि की प्रक्रिया के अनुसार 'पुरा' शब्द से ट्यु प्रत्यय अवश्य होता है, परन्तु नियम प्राप्त 'तुट्' का आगम नहीं होता।

---

1. ब्रह्माण्ड पुराण अ0 1
2. पाणिनि सूत्र 4/3/23
3. पाणिनि सूत्र 2/1/49

पुराण शब्द ऋग्वेद में एक दर्जन से अधिक स्थानों पर मिलता है। यास्क के निरूक्त (3/19) के अनुसार पुराण की व्युत्पत्ति है पुरा नवं भवति (अर्थात् जो प्राचीन होकर भी नया होता है)।

वायु पुराण[1] के अनुसार यह व्युत्पत्ति है – पुरा अनति अर्थात् प्राचीन काल में जो जीवित था।

पद्म पुराण[2] के अनुसार यह निरूक्ति इससे किञ्चित भिन्न है – 'पुरा परम्परां वष्टि कामयते' अर्थात् जो प्राचीनता की अर्थात् जो परम्परा की कामना करता है वह पुराण कहलाता है।

ब्रह्माण्ड पुराण[3] की इससे भिन्न एक तृतीय व्युत्पत्ति है – 'पुरा एतत् अभूत् अर्थात् प्राचीन काल में ऐसा हुआ।[3]

'पूरणात् पुराणम्' व्युत्पत्ति के आधार पर जीव गोस्वामी वेद तुल्य पुराण को भी अपौरूषेय मानते हैं। उनका तर्क यह है कि पूर्ति करने वाला पदार्थ भी मूल पदार्थ से सर्वथा समानता रखता है। पूरक पदार्थ में भिन्नता होने के कारण मूल पदार्थ का पूरण क्या यथार्थतः कभी हो सकता है? स्वर्णाभूषण की पूर्ति क्या जतु (लाह) कभी कर सकता है? सुवर्ण के आभूषणों में यदि कहीं च्युति हो जाये, तो उसकी पूर्ति सुवर्ण से ही की जा सकती है, लाह से नहीं। पूरक पदार्थ की मूल पदार्थ से एक जातीयता अनिवार्य है। इस तर्क का आश्रय लेकर इतनी दूर तक न जाने पर भी इतना तो मानना ही पडेगा कि वेदार्थ का उपबृंहण पुराण सर्वथा करता है।

---

1. यस्मात् पुरा ह्यनक्तीदं पुराणं तेन तत् स्मृतम्।
   निरूक्तमस्य यो वेद सर्व पापैः प्रमुच्यते।।

   – वायु पुराण 1/203

2. पुरा परम्परां वष्टि पुराणं तेन तत् स्मृतम्।।

   – पद्म पुराण 5/2/53

3. यस्मात् पुरा ह्यभूच्चैतत् पुराणं तेन तत् स्मृतम्।
   निरूक्तमस्य यो वेद सर्व पापैः प्रमुच्यते।।

   – ब्रह्माण्ड पुराण 1/1/173

पुराण क्या है?

पुराण शब्द का साधारण अर्थ है – प्राचीन या 'पुराना'। हिन्दी भाषा का पुराना शब्द इसी से निष्पन्न हुआ है। गुप्त कालीन शब्दकोष 'अमर कोष' की टीका में भानुजी दीक्षित ने इसकी व्युत्पत्ति तीन प्रकार से बतलायी है –

1. **पुराणवम्** : पुराने काल में या पूर्व काल में होने वाले को पुराण कहते हैं।
2. **पुरानवम्** : प्राचीन काल से प्रवहमान होते हुए भी नया रहने वाला पुराण है।
3. **पुराणम्** : 'पुरा' शब्द का अर्थ है – अतीत व अनागत।

'अण' शब्द का अर्थ है – कहना (आज भी गढवाल में ''अण'' शब्द का अर्थ पहेली का अर्थ कहने से होता है।) अर्थात् जो प्राचीन व अनागत बातों को समझाए, वही पुराण है। 'अण' धातु का एक अन्य अर्थ है, सांस लेना, जीवित रहना। अर्थात् जो प्राचीन काल से सांस ले रहा है और जीवित है यानी पारंपरिक ज्ञान की वह चिर-निरंतर धारा, जो प्राचीन काल से प्रवाहमान है, परन्तु बहते जल की भांति नित नवीन है, वही पुराण है। वायु पुराण में इसी भाव को व्यक्त करते हुए कहा गया है-

यस्मात्पुरा ह्यक्तीदं पुराणं तेन हि स्मृतम्।
निरूक्तमस्य यो वेद सर्वपापैः प्रमुच्यते।।[1]

प्राचीन काल से यह जीवित और प्रवहमान होने के कारण इसे पुराण कहा गया है। जो व्यक्ति इसके निरूक्त को जान लेता है, वह सब पापों से मुक्त हो जाता है। यहां पर जिज्ञासुओं के मन में एक सहज व स्वभाविक प्रश्न का जन्म होता है कि प्राचीनतम् ज्ञानधारा जो वेदों से व वेदों में ही प्रवाहित है, तो फिर वेद व पुराणों में क्या अन्तर है या क्या समानता है? इनका परस्पर अन्तः सम्बन्ध क्या है? वेद, पुराण व उपनिषदों का यह पारस्परिक अन्तः सम्बन्ध विपुल या विशद भारतीय ज्ञान, अध्यात्म व दर्शन की त्रिवेणी को भली भांति जानने के लिए अत्यन्तावश्यक है।

प्रजापिता ब्रह्मा को सर्वप्रथम पुराणों का स्मरण हुआ था और उसके पश्चात् वेदों का निःसरण हुआ। इस प्रकार वेदों की अभिव्यक्ति से पूर्व पुराणों की अभिव्यक्ति होने के कारण यह पुरातन, प्राचीन, पुराने या पुराण कहलाए।

---

1. वायु पुराण 1/203

वेद और पुराण में अन्तर :-

पुराण वेदों से पूर्व हुए हैं, परन्तु वेद अनादि व अपौरूषेय हैं। पुराण पौरूषेय व अपौरूषेय दो प्रकार के भेदों से युक्त है। अपौरूषेय का अर्थ तो स्वतः स्पष्ट है कि इसकी रचना किसी पुरूष द्वारा नहीं हुई है, ये ब्रह्म के निःश्वास है। पुराण के दोनों भेदों का अन्तर क्या है? क्योंकि वेद भी ब्रह्मा जी के निःश्वास हैं और पुराण भी। ब्रह्मा जी ने जिस पुराण की रचना की, वह केवल एक अपौरूषेय पुराण था और उसमें सौ करोड या एक अरब श्लोक थे ओर देवलोक में आज भी वह एक पुराण ही प्रचलित है। परन्तु उस एक पुराण की विशालता व विशदता को सरल व सर्वजनग्राही बनाने के लिए व्यास जी ने उसका विभाजन करके उसमें 18 खण्ड कर दिये तथा श्लोकों की संख्या 4 लाख सीमित कर दी, जो पौरूषेय पुराण के नाम से प्रसिद्ध हुए। यह पौरूषेय पुराण वेद के परवर्ती काल की रचना की है।

पुराणों व वेदों में दूसरा प्रमुख अन्तर यह है कि ब्रह्मा जी के मुख से प्रकट होने पर भी वैदिक मन्त्रों का दृष्टा ऋषियों को कहा गया है, जबकि पौराणिक ज्ञान धारा को ग्रहण करने वाले मुनि कहलाए अर्थात् वैदिक ज्ञान धारा, यज्ञ व कर्म काण्डीय संस्कृतियों का वहन ऋषि कुल परम्परा ने किया, जबकि पौराणिक ज्ञान की लौकिक व्रत, उपासना, तीर्थ व अनुष्ठान संस्कृति के वाहक मुनि बने। ऋषि द्रष्टा है व मुनि प्रवक्ता। पुराण व वेदों के विशिष्ट अन्तः सम्बन्ध की भांति ऋषि व मुनि शब्दों को लेकर जन सामान्य में यह भ्रान्ति प्रचलित है कि ऋषि व मुनि तो समानार्थक शब्द है। इनमें क्या अन्तर है? इस अन्तर को आचार्य शंकर ने सनत्सुजातीय भाष्य में स्पष्टतः व्यक्त किया है -

न केवलं वेदा, अपितु, मुनयोऽपि तद् ब्रह्म विश्ववैसत्यं।
विश्वरूप विपरीतस्वरूप मुदाहरन्ति।।

वस्तुतः ऋषि शब्द के चार प्रमुख अर्थ हैं -

1. गति, 2. श्रुति, 3. सत्य, 4. तपस्।

वेदों की शैली रूपकमयी है। पुराणों की शैली अतिशयोक्तिमयी है अर्थात् वेदों में जो बात सूत्र रूप में कही गयी है, वही पुराणों में विस्तार रूप से वर्णित है। इस पौराणिक ज्ञान का उपदेश सर्वप्रथम व्यास जी ने गुरू + शिष्य - परम्परा में अपने शिष्य सूत जी को दिया और कालान्तर में सूत जी ने एक ओर तो नैमिषारण्य तीर्थ में 88 हजार ऋषियों को प्रवक्ता के रूप में पुराणों का प्रवचन किया।

इन समग्र व्युत्पत्तियों की मीमांसा करने से स्पष्ट है कि 'पुराण' का वर्ण्य विषय प्राचीन काल से सम्बद्ध था। प्राचीन ग्रन्थों में पुराण का सम्बन्ध 'इतिहास' से इतना घनिष्ठ है कि दोनों सम्मिलित रूप से 'इतिहास-पुराण' नाम से अनेक स्थानों पर उल्लिखित किए गये हैं। 'इतिहास' के अत्यन्त प्राचीन ग्रन्थों में उल्लिखित होने पर भी लोगों में यह भ्रान्त धारणा फैली हुई है कि भारतीय लोग ऐतिहासिक कल्पना से भी सर्वथा अपरिचित थे। परन्तु यह धारणा निर्मूल तथा अप्रमाणिक है। यास्क के कथनानुसार ऋग्वेद में ही त्रिविध ब्रह्म के अन्तर्गत 'इतिहास-मिश्र' मन्त्र पाये जाते हैं।[1] **छान्दोग्य उपनिषद् में सनत्कुमार से ब्रह्मविद्या सीखने के अवसर पर नारद मुनि** ने अपनी अधीत विद्याओं के अन्तर्गत 'इतिहास-पुराण' को पञ्चम वेद बतलाया है। इस संयुक्त नाम से स्पष्ट है कि उपनिषद् युग में दोनों में घनिष्ठ सम्बन्ध की भावना क्रियाशील थी। यास्क ने अपने निरुक्त में ऋचाओं के विशदीकरण के लिए ब्राह्मण ग्रन्थों की कथाओं को 'इतिहासमाचक्षते' कहकर उद्धृत किया है। इतना ही नहीं, निरुक्त में वेदार्थ व्याख्या[2] के अवसर पर उद्धृत अनेक विभिन्न सम्प्रदायों में ऐतिहासकों का भी एक पृथक् स्वतन्त्र सम्प्रदाय था जिसका स्पष्ट परिचय 'इति ऐतिहासिंकाः' निरुक्त के इस निर्देश से मिलता है। इस सम्प्रदाय के मन्तव्यानुसार अनेक मन्त्रों की व्याख्या यास्क ने स्थान-स्थान पर की है।

पुराणों के प्राचीन उल्लेख -

पुराण के विषय में दो दृष्टियां प्राचीन काल में देखी जाती हैं। एक अर्थ में तो यह प्राचीन काल के वृत्तों के विषय में विद्या के रूप में प्रयुक्त होता था। दूसरे अर्थ में यह एक विशिष्ट साहित्य या ग्रन्थ के लिए प्रयुक्त किया गया उपलब्ध होता है। ऋग्वेद[3] में 'पुराण' शब्द का प्रयोग अनेक मन्त्रों में उपलब्ध होता है। परन्तु इन स्थलों पर 'पुराण' शब्द केवल प्राचीनता का ही बोधक है। अन्यत्र (9/99/4)

---

1. त्रिंत कूपेऽवहितमेतत् सूक्तं प्रतिवभौ।
   तत्र ब्रह्मेतिहास - मिश्रमिङ्मिश्रं गाथामिश्रं भवति।।

   - निरुक्त 4/6

2. ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणमितिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदम्।।

   - छान्दोग्य 7/1

3. ऋग्वेद 3/58/6, 10/30/6

'पुराणी' शब्द 'गाथा' शब्द के विशेषण के रूप में मिलता है। इससे अर्थ लगाया जा सकता है कि ऋग्वेद के युग में कुछ गाथाएं ऐसी विद्यमान थीं, जिनका उदय किसी प्राचीन काल में हुआ था। ऋग्वेद के काल में हम इससे अधिक कुछ नहीं कह सकते। अथर्ववेद में हमें 'पुराण' शब्द इतिहास, गाथा तथा नाराशंसी शब्दों के साथ प्रयुक्त मिलता है। पुराण का उदय 'उच्छिष्ट' संज्ञक ब्रह्म से बतलाया गया है।

अथर्ववेद (11/7/24) मन्त्र का अर्थ है - ऋक्, साम, छन्दस् (अथर्व) और यजुर्वेद के साथ ही पुराण भी उस उच्छिष्ट से यज्ञ के अवशेष से अथवा जगत पर शासन करने वाले यज्ञमन्त्र परमात्मा से उत्पन्न हुए तथा द्युलोक में निवास करने वाले देव भी उसी उच्छिष्ट से पैदा हुए।

उद्धरण -

ऋचः सामानि छन्दांसि पुराणं यजुषा सह।
उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिविश्रिताः।।[1]

मन्त्र का अर्थ है कि उच्छिष्ट से ऋचाएं, साम, छन्दस् (अथर्व) तथा पुराण यजुष् के साथ उत्पन्न हुए। इतना ही नहीं, दिव्लोक में निवास करने वाले देव भी उसी उच्छिष्ट से उत्पन्न हुए। 'उच्छिष्ट' शब्द के तात्पर्य के विषय में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है। कुछ लोग इसका अर्थ 'यज्ञ का अवशेष' मानते हैं सायण की दृष्टि में 'उद् ऊर्ध्वम् अर्थात् सर्वेषां भूतभौतिकानामावसाने शिष्ट उर्वरितः परमात्मा' इस प्रकार की व्युत्पत्ति से सब पदार्थों का अवसान होने पर शेष रहने वाले परमात्मा की द्योतना इस शब्द के द्वारा होती है। उपनिषदों में प्रयुक्त 'नेति-नेति' शब्द का अभिप्राय इससे भिन्न नहीं है।[2]

---

1. अथर्ववेद 11/7/4
2. पुराणों में भी परमात्मा इसी प्रकार 'निषेधशेष' विशेषण के द्वारा अभिव्यक्त किया गया है। भागवत की गजेन्द्र स्तुति के अवसर पर यह शब्द प्रयुक्त है -

   स वै न देवासुरमर्त्यतिर्यङ्
   न स्त्री न षण्ढो न पुमान् न जन्तुः।
   नायं गुणः कर्म न सन्न चासन्
   निषेधशेषो जयतादशेषः।।- भाग0 8/3/24

उद्धरण -

स बृहतीं दिशमनुत्यचलत् ।।10।।
तमितिहासश्च पुराणं च गाथाश्च
नाराशंसीश्चानुत्यचलन् ।।11।।
इतिहासस्य च स वै पुराणस्य च गाथानां च
नाराशंसीनां च प्रियं धाम भवति, य एवं वेद ।।12।।[1]

व्रात्यस्तोम के अन्तर्गत व्रात्यपद से रूद्रावतार परमात्मा की यहां विवक्षा है। पैप्यलाद संहिता की 'व्रात्यो वा इदमग्र आसीत्' यह उक्ति तथा विश्वसृष्टि की आद्यावस्था में 'व्रात्य' के सबसे अग्रिम होने का यह निर्देश उसका परमात्म तत्व के साथ ऐक्य स्थापित कर रहे है। रूद्राध्याय में 'नमो व्रात्याय' कहकर व्रात्य का रूद्र के साथ ऐक्य प्रतिपादन स्वयं ऊध्य है। इसी रूद्र के प्रतिनिधि व्रात्य के अनुगमन का विधान इस सूक्त में देवादिकों तथा वेदादिकों के द्वारा बतलाया गया है। फलतः अथर्व की दृष्टि में इतिहास और पुराण ऋग् साम तथा यजुष् के समान ही अभ्यर्हित् है तथा पञ्चम् वेद का प्रतिनिधित्व करते हैं।

"व्रात्यस्तोम के प्रसङ्ग, में इतिहास, पुराण, गाथा तथा नाराशंसी भी उसके पीछे-पीछे चलीं। जो व्यक्ति इसे जानता है वह इतिहास का, पुराण का, गाथाओं का तथा नाराशंसियों का प्रिय धाम-प्यारा घर होता है।" यहां इतिहास, गाथा तथा नाराशंसी के साथ 'पुराण' शब्द का सहप्रयोग इन सबके साहित्यिक रूप में समान आकार की ओर इंगित करता है। मेरी दृष्टि में ये चारों शब्द वैदिक साहित्य से पृथग्भूत किसी लौकिक साहित्य को सत्ता की ओर स्पष्टतः संकेत करते हैं। वैदिक युग में ही साहित्य की प्रवहमान दो धाराएं प्रतीत होती हैं- एक धारा तो विशुद्ध धार्मिक है जिसमें किसी देवता की स्तुति तथा प्रार्थना ही मुख्य लक्ष्य है। दूसरी धारा विशुद्ध लौकिक है जिसमें लोक में प्रख्याति पाने वाले महनीय व्यक्तियों का तथा लोक प्रसिद्ध वृत्त का वर्णन करना ही अभीष्ट तात्पर्य होता है। ऋग्वेद के भीतर ही अनेक दान स्तुति तथा नाराशंसी उपलब्ध होती है। जिनसे मन्त्र दृष्टा ऋषि प्रभूत दान देने वाले अपने किसी आश्रय दाता शासक की ऐतिहासिक वृत्त से संवलित स्तुति करता है। 'पुराण' का सम्बन्ध इसी द्वितीय धारा से मानना नितान्त उपयुक्त प्रतीत होता है।

---

1. अथर्ववेद 15/1/6

उद्धरण -

येत आसीद् भूमिः पूर्वा यामद्धा तय इद् विदुः
यो वै तां विद्यान्नामथा स मन्येत पुराणवित्।।[1]

तात्पर्य -

इसी (दीखती हुई भूमि) से पहले (अर्थात् पहले कल्पवाली) जो भूमि थी, उस भूमि को सत्य ज्ञानी पुरुष ही जानते हैं। जो निंश्चय करके उस प्रथम कल्पवाली भूमि को नामतः -

यथार्थ रूप से - जान ले वह पुराण वित् (अर्थात् पुराणों के वृतान्त का जानने वाला) माना जाना चाहिए।

इन उल्लेखों से स्पष्ट प्रतीत होता है, कि अथर्ववेद के काल में पुराण का तथा पुराणविद् व्यक्तियों का अस्तित्व अवश्यमेव विद्यमान था।

ब्राह्मण साहित्य में पुराण :-

ब्राह्मण साहित्य में भी 'पुराण' का अस्तित्व प्रमाणित होता है। शतपथ तथा गोपथ ब्राह्मणों में 'पुराण' का बहुशः उल्लेख उपलब्ध होता है जिससे इसकी लोक प्रियता प्रमाणित होती है। गोपथ का कथन है कि कल्प, रहस्य, ब्राह्मण, उपनिषद्, इतिहास, अन्वाख्यान तथा पुराण के साथ सब वेद निर्मित हुए। यहां इतिहास-पुराण का सम्बन्ध वेद से जोडा गया है। दूसरे मन्त्र में गोपथ ब्राह्मण पांच वेदों के निर्माण की बात कहता है और ये वेदपञ्चक हैं - सर्ववेद, पिशाचवेद, असुरवेद, इतिहासवेद तथा पुराणवेद।

उद्धरण -

4. **एवमिने सर्वे वेदा निर्मिताः सकल्पाः सरहस्याः सब्राह्मणाः सोपनिषत्काः ऐतिहासाः सान्वाख्याताः सपुराणाः।।**[2]

5. **पंचवेदान् निरमिमत सर्पवेदं पिशाचवेदमसुरवेद मितिहासवेदं पुराणवेदम्।**
स खलु प्राच्या एव दिशः सर्पवेदं निरमिमत दक्षिणस्याः पिशाचवेदं प्रतीच्या असुरवेदमुदीच्या इतिहासवेदं ध्रुवायाश्चोर्ध्वायाश्च पुराणवेदम्। - तत्रैव 1/10

---

1. अथर्ववेद 11/8/7
2. गोपथ पूर्वभाग 2/10

स तान् पंचवेदानभ्यश्राम्यदभ्यतपत् समतपत् तेभ्यः श्रान्तेभ्यस्तप्तेभ्यः संतप्तेभ्यः पंचमहाव्याहृतीर्निरभिमत वृधत् करत् गुहत् महत् तदिति। वृधदिति सर्पवेदात्, करदिति पिशाचवेदात् गुहदित्यसुरवेदात् महादितीतिहासवेदात् तदिति पुराणवेदात्।

– तत्रैव 1/10

इन वेदों के निर्माण के विषय में कहा गया है कि प्राची दिशा से सर्पवेद का निर्माण हुआ, दक्षिण दिशा से पिशाचवेद का, पश्चिम दिशा से असुरवेद का, उत्तर दिशा से इतिहास वेद का तथा ध्रुवा (पैरों के ठीक नीचे होने वाली दिशा) और ऊर्ध्वा (सिर के ठीक ऊपर की दिशा) से पुराण का निर्माण हुआ। ये उस युग में स्वतन्त्र वेद या वेद के समान ही मान्य शास्त्र थे। ये पांचों ही स्वतन्त्र थे, इसकी सूचना मिलती है व्याहृतियों की उत्पत्ति से। इसी सन्दर्भ में पांच महाव्याहृतियों – बृधत्, करत्, गुहत्, महत् तथा तत् – की उत्पत्ति निर्दिष्ट पांचों वेदों से क्रमशः वर्णित है। भिन्न दिशाओं से उत्पन्न होने के कारण तथा भिन्न व्याहृतियों के उद्‌गम स्थल होने के हेतु गोपथ ब्राह्मण इतिहास और पुराण को भिन्न-भिन्न विद्याओं के रूप में ग्रहण करता है। उस युग में दोनों का पार्थक्य निश्चित हो चुका था।

उद्धरण –

6. मध्वाहुतयो ह वा एता देवानाम्।
यदनुशासनानि विद्या बाकोवाक्यमितिहासपुराणं गाथा नाराशंस्यः।
य एवं विद्वान् अनुशासनानि विद्या वाको वाक्यमितिहासपुराणं गाथा नाराशंसीरित्यहरहः स्वाध्यायमधीते।।
मध्वाहुतिभिरेव तद्देवांस्तर्पयति।[1]

ब्रह्मयज्ञ के प्रसंग से यह सम्बन्ध रखता है। विभिन्न वेदों का स्वाध्याय विभिन्न फल प्रदान करता है। अनुशासन, विद्या, बाकोवाक्य, इतिहास-पुराण गाथा तथा नाराशंसी के स्वाध्याय करने से वेदों को मधु से पूर्ण आहुतियां प्राप्त होती हैं। इस प्रकार उस युग में दोनों प्रकार की भावनाएं क्रियाशील थीं – सम्मिलित भावना तथा पार्थक्य भावना।

---

1. शतपथ 11/5/6/8

इस प्रकार ब्राह्मण काल में पुराण की महत्ता का परिचय भली-भांति मिलता है।

ब्राह्मण ग्रन्थों के अनुशीलन से एक विशिष्ट तथ्य का उद्‌भव होता है। शतपथ ब्राह्मण में 'इतिहास पुराण' सम्मिलित रूप से एक ही समस्त पद द्वारा निर्दिष्ट किया गया है। प्रतीत होता है कि दोनों में विषय का सादृश्य था। इसीलिए गोपथ पुराण वेद को इतिहास वेद से पृथक् निर्दिष्ट करता है। ऐसे विकास की सम्पत्ति ब्राह्मण युग में ही पुराण के गाढ अनुशीलन तथा आलोडन का तथ्य द्योतित करती प्रतीत होती है।

आरण्यक तथा उपनिषद् में पुराण :-

ब्राह्मणों के ही आरण्यक और उपनिषद् अन्तिम भाग हैं। श्रुति के इस अंश में भी पुराण तथा इतिहास की स्थिति पर्याप्तरूपेण सिद्ध होती है - विकसित रूप में अर्थात् ब्राह्मणों में अपनी पूर्व स्थिति से विकसित रूप में इतिहास पुराण के रूप हमे साहित्य में उपलब्ध होता है।

1. **ब्रह्मयज्ञ प्रकरणे-यद् ब्राह्मणानीतिहासान् पुराणानि कल्पान् गाथा नाराशंसीर्मेदाहुतयो देवानामभवन्।**
   ताभिः क्षुधं पाप्मानम-पाघ्नन।
   अपहत-पाप्मानों देवाः स्वर्ग लोकमायन्।
   ब्राह्मणः सायुज्यमृषयोऽगच्छन्।।[1]

यहां पर तैत्तिरीय आरण्यक ब्रह्मयज्ञ के प्रसंग में 'पुराणानि' पद का व्यवहार करता है। इससे बहुत ग्रन्थों की सत्ता मानना उचित नहीं होगा। यहां पुराणगत आख्यानों का ही बहुत्व अभीष्ट है। बृहदारण्यक उपनिषद् तो पुराण के उदय को वेद के उदय के समान ही बतलाया है - इतिहास-पुराण उस महाभूत (परमेश्वर, सब स्रष्टा) के निःश्वसित है - श्वासरूप हैं।

यहां 'निःश्वसित' पद की व्याख्या शंकराचार्य ने यह कहकर की है कि जैसे श्वास बिना यत्न के ही पुरूष से प्रकट होता है, वैसे ही वेद आदि उस परमात्मा, से बिना यत्न के ही प्रकट हुए। शतपथ का यह वचन पुराण को वेद के समकक्ष रखता है तथा वेद के समान पुराण को भी नित्य मानता है।

निष्कर्ष :-

वैदिक साहित्य के अनुशीलन से कई तथ्य अभिव्यक्त होते हैं - **क.** महाभूत परब्रह्म (या उच्छिष्ट) से वेदचतुष्टय के समान ही इतिहास पुराण की भी उत्पत्ति हुई,

1. तैत्तिरीय आरण्यक 2 प्र0 9 अनु0

ख. वेद के समान ही पुराण भी नित्य है, **ग.** इतिहास पुराण इसीलिए पञ्चमवेद के नाम से अभिहित है, **घ.** यह केवल मौखिक तत्व का द्योतक न होकर सम्भवतः ग्रन्थ के रूप में सन्निविष्ट था क्योंकि वह अध्ययन का विषय था, ङ. आरण्यक युग में पुराणों की बहुत्व की कल्पना आरम्भ हो चुकी थी – पुराण एक न होकर अनेक रूप में वर्तमान था, ग्रन्थ रूप में न सही, आख्यानरूप में तो निश्चय ही।

सूत्र ग्रन्थ तथा पुराण -

अथ स्वाध्यायमधीद्यीत ऋचो यजूंषि सामान्यथर्वाङ्गिरसो ब्रह्मगानि कल्पान्गाथा नाराशंसीरितिहासपुराणानीति ।।1।।

यद्वचोऽधीते <u>पय</u> आहुतिभिरेव तद्देवतास्तर्पयति यद्यजूंषि घृताहुतिभिर्यत्सामानि मध्वाहुतिभिर्यदयर्वाङ्गिरसः सोमाहुतिभिर्यद्ब्राह्मणानि कल्पान्गाथा नाराशंसीरितिहासपुराणा नीत्यमृताहुतिभिः ।।2।।

यदृचोऽधीते पयसः कुल्या अस्य पितृन् स्वधा उपक्षरन्ति यद्यजूंषि घृतस्य कुल्या यत्सामानि मध्वः कुल्या यदथर्वाङ्गिरसः सोमस्य कुल्याः यद्ब्राह्मणानि कल्पान् गाथा नाराशंसीरितिहासपुराणानीत्यमृतस्य कुल्याः ।।3।।[1]

तं दीपयमाना आसत आ शान्त रात्रादायुष्मतां कथाः कीर्तयन्तो माङ्गल्यानीतिहासपुराणनीत्याख्यापयमानाः ।।6।।[2]

कल्प सूत्रों से पुराण के अस्तित्व का, उनके अध्ययन का तथा उससे उत्पन्न होने वाले पुण्य का पूरा संकेत हमें उपलब्ध होता है –

क. आश्वलायन गृह्यसूत्र में पुराण-पठन का उल्लेख अनेक बार मिलता है। एक मन्त्र (4/6) में इतिहास और पुराणों के स्वाध्याय करने वाले व्यक्ति के देवों और पितरों को अमृत की कुल्या (नहर) प्राप्त हाने का तथ्य उद्घाटित किया गया है। अन्य स्थल (4/6) पर चिरंजीवी मनुष्यों की कथाएं और माङ्गलिक इतिहास-पुराणों का पाठ करते हुए मथित अग्नि को दीप्त करने के समय को बताने का स्पष्ट निर्देश मिलता है।

म. आपस्तम्ब धर्म सूत्र में किसी पुराण के दो श्लोक उद्धृत किए गये हैं जिनका अर्थ यह है – जो अठासी हजार ऋषि सन्तान की कामना करते थे, वे तो अर्यमा के दक्षिण मार्ग से चलकर श्मशान में पहुंचे, परन्तु जो

---

1. आश्वायन गृह्यसूत्र – अ03 ख0 6.
2. आश्वायन गृह्यसूत्र – अ0 4 ख06

अठासी हजार ऋषि सन्तान की कामना नहीं करते थे, उन्होने अर्यमा के उत्तर मार्ग से चलकर अमृतत्व को प्राप्त किया। इन श्लोकों का तात्पर्य यही है कि प्रवृत्ति मार्ग में रहने पर संसार के जन्म-मरण के चक्कर में सदा घूमना पडता है और निवृत्ति मार्ग का आश्रय करने पर मानव मुक्ति को प्राप्त होता है।[1]

आपस्तम्ब धर्मसूत्र का रचनाकाल ईस्वी पूर्व पञ्चम-षष्ठ शतक माना जाता है। उस समय पुराण का रूप आज कल उपलब्ध, पुराण के समान ही धर्मशास्त्रीय विषय से सम्पन्न था। 'पुराण' के सामान्य निर्देश के संग में 'भविष्य पुराण' का विशिष्ट निर्देश इस तथ्य का विशद प्रतिपादक है कि उस युग में कम से कम एक पुराण का प्रणयन हो चुका था। इस प्रकार ग्रन्थ रूप में पुराण का यह निर्देश निःसन्देह प्राचीन तथा महत्वपूर्ण है। इस कथन में कुछ आलोचकों को सन्देह है। इतने प्राचीन काल में अन्यत्र किसी विशिष्ट पुराण के उल्लेख के अभाव में यह सम्भावना जान पडती हैं कि यहां भी किसी विशेष पुराण का नाम निर्देश नहीं है। भविष्य पुराण के नाम से उद्धृत सिद्धान्त भविष्य जन्म से सम्बन्ध रखता है। इस शब्द का संकेत भविष्यकाल की घटना का वर्णन करने वाले सामान्य पुराण से ही हैं, तन्नामधारी किसी विशिष्ट पुराण से नहीं।

पुराण और महाभारत :-

महाभारत के तीन संस्करण माने जाते हैं - जय, भारत तथा महाभारत। आजकल का महाभारत भी नवीन ग्रन्थ नहीं है। गुप्तकालीन शिलालेखों में इसके लक्षश्लोकात्मक आकार का परिचय मिलता है। फलतः यह तृतीयशती से अर्वाचीन नहीं हो सकता। इसका मूल तो और भी प्राचीन होना चाहिए। महाभारत में पुराण का सामान्य रूप ही उल्लिखित नहीं है, प्रत्युत उनकी कथाओं के रूप तथा वैशिष्ट्य से तथा अठारह पुराणों से वह परिचय रखता है।

पुराण मानव धर्म (अर्थात् मनुस्मृति), साङ्गवेद, चिकित्साशास्त्र - ये चारों ईश्वर की आज्ञा से सिद्ध हैं अर्थात् इनका वर्णन यथार्थ और प्रामाणिक है। तर्क का आश्रय लेकर इनका खण्डन करना कथमपि उचित नहीं है -

पुराणं मानवो धर्मः साङ्गो वेदश्चिकित्सतम्।
आज्ञासिद्धानि चत्वारि, न हन्तव्यानि हेतुभिः।।[2]

---

1. आपस्तम्ब धर्मूसूत्रे 2/23/35·
2. महाभारत अनुशासन पर्व

पुराणे ही कथ्वा दिव्या आदिवंशाश्च धीमताम्।
कथ्यन्ते ये पुरास्माभिः श्रुतपूर्वाः चिहुस्तव।।[1]

यह श्लोक पुराण के वर्ण्य-विषय का प्रतिपादक है। पुराणों में अनेक दिव्य कथाएं होती हैं, तथा विशिष्ट बुद्धिमानों के आदिवंशों का वर्णन भी रहता है। यह श्लोक स्पष्टतः वंशानुचरित को तथा देवसम्बन्धी आख्यान को पुराण का अविभाज्य अंग मानता है।

सत्यवती-पुत्र व्यास जी ने प्रथमतः 18 पुराणों का प्रणयन किया और तदुपरान्त पुराणों के उपबृहण रूप से महाभारत की रचना की।

अष्टादश पुराणानि कृत्वा सत्यवती सुतः।
पश्चात् भारतमाख्यानं चक्रे तदुपबृंहितम्।।[2]

महाभारत में वायुपुराण का स्पष्ट उल्लेख किया गया है, एक विशिष्ट पुराण के रूप में, जिसमें प्राचीन राजाओं का वर्णन विशेष रूप से निर्दिष्ट किया गया है। कहना व्यर्थ है कि आज कल प्रचलित 'वायुपराण' में राजाओं की वंशावली दी गयी है जिसमें दोनों पुराणों की एकता स्वतः सिद्ध हो जाती है -

एतत् ते सर्वमाख्यातमतीतानागतं तथा।
वायु प्रोक्तमनुस्मृत्य पुराणमृषिसंस्तुतम्।।[3]

बाल्मीकीय रामायण में भी पुराण तथा पुराणवित् का स्पष्ट निर्देश आज भी उपलब्ध होता है। यहां सुमन्त्र पुराण के वेत्ता (पुराणवित्) बतलाये गये हैं। वे सूत थे। फलतः पुराणों से परिचय रखने की बात उनके विषय में स्वभाव सिद्ध है। वे राजा दशरथ की सन्तान हीनता तथा उसके निवारण की बात पुराणों से सुन चुके हैं और इसलिए अवसर पाकर उसे सुनाने से पराङ्मुख नहीं होते थे :-

1. **इत्युक्त्वान्तः पुरद्वारमाजगाम पुराणवित्।**[4]
2. **स तदन्तः पुरद्वारं समतीत्य जनाकुलम्।**
   प्रविभक्तां हतः कक्षामससाद पुराणवित्।।[5]

---

1. महाभारत आदि पर्व 5/2
2. महाभारत आदि पर्व
3. महाभारत वनपर्व, 191/16
4. वाल्मीकि रामायण अयो0 15/18
5. वाल्मीकि रामायण अयो0 16/1

इत्युक्ता तु रहः सूतो राजानमिदमब्रवीत।
श्रूयतां यत् पुरावृत्तं पुराणेषु यथाश्रुतम्।।[1]

फलतः रामायण पुराण से परिचय रखता है तथा महाभारत भी सामान्य परिचय से अतिरिक्त वह उसके विषय को भली भांति जानता है। वायुपुराण का आश्रयण लेकर महाभारत में कथा का विस्तार किया गया है। महाभारत का यह स्पष्ट निर्देश है।

पुराण तथा कौटिल्य :-

कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र के अनेक स्थलों पर पुराण तथा इतिहास का बहुमूल्य निर्देश किया है जो ऐतिहासिक दृष्टि से कम महत्वशाली नहीं है –

1. वेद के स्वरूप का वर्णन करते हुए कौटिल्य का कथन है कि साम्, ऋक् तथा यजुः त्रयी कहलाते हैं। यह त्रयी, अथर्ववेद तथा इतिहासवेद–वेद के अन्तर्गत माने जाते हैं –

सामर्ग्यजुर्वेदास्त्रयस्त्रयी अथर्ववेदेतिहासवेदौ च वेदः।[2]

इससे पता चलता है कि कौटिल्य के युग में वेद के समान 'इतिहास' एक विशिष्ट ग्रन्थ का घोतक था तथा वह उसी प्रकार पवित्र माना जाता था।

2. अन्यत्र उन्मार्ग पर चलने वाले राजा की शिक्षा के अवसर पर कौटिल्य का कथन है कि राजा का हित चाहने वाला अर्थशास्त्र का वेत्तामन्त्री इतिवृत्त (प्राचीन काल के राजाओं के चरित्र) तथा पुराण के द्वारा राजा को उन्मार्ग में चलने से रोके –

मुख्यैरवगृहीतं वा राजानं तत् प्रियाश्रितः।
इतिवृत्तपुराणाभ्यां बोधयेदर्थशास्त्रवित्।।[3]

इससे स्पष्ट है कि कौटिल्य के समय में पुराणों में सदाचार सम्बन्धी विषय अवश्यमेव विद्यमान थे जिनका उपदेश देकर कुमार्ग से राजा को सुमार्ग में लाया जा सकता है।

3. राजा की दिनचर्या के प्रसङ्ग में कौटिल्य का कहना है कि राजा दिन के पूर्वार्द्ध को हस्ती, अश्व, रथ, प्रहरण विद्याओं के ग्रहण में बितावें और उत्तरार्ध को इतिहास के श्रवण में। इस प्रसंग में इतिहास से

---

1. वाल्मीकि रामायण बाल0 9/1
2. अर्थशास्त्र 1/3
3. अर्थशास्त्र 5/6

महाभारत के समान ही कोई ग्रन्थ उन्हे अभीष्ट है जो अपने को अर्थशास्त्र, कामशास्त्र तथा मोक्षशास्त्र बतलाता है। कौटिल्य ने अपने 'अर्थशास्त्र' में पुराण की गणना 'इतिहास' के अन्तर्गत की है। कौटिल्य की दृष्टि में इतिहास का क्षेत्र बहुत ही विस्तृत है। उनका कथन है कि दिन के पिछले भाग को राजा इतिहास के सुनने में बिताये। इतिहास क्या है? पुराण, इतिवृत्त, आख्यायिका, उदाहरण, धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्र-इन सब की गणना 'इतिहास' के भीतर माननी चाहिए। फलतः पुराण से कौटिल्य परिचय रखते हैं। अपने ग्रन्थ के भीतर पुराणों के वर्ण्य विषय से भी उनका परिचय कम नहीं है -

पश्चिममितिहासश्रवणे। पुराणमितिवृत्तमाख्यायिकोदाहरणं
धर्मशास्त्रमर्थशास्त्रं चेतीतिहासः।।[1]

राजा के द्वारा वेतनभोगी अधिकारियों के प्रसंग में कौटिल्य का कथन है कि राजा इन अधिकारियों को एक सहस्र पण का वेतन देकर अपने कार्य के लिए नियुक्त करे - कार्न्तान्तिक (फलित ज्योतिषी), नैमित्तिक (उत्पात से परिचय रखने वाला व्यक्ति), मौहूर्तिक (शोभन मुहुर्त बतलाने वाला विद्वान्), पौराणिक (पुराणवेत्ता), सूत, मागध तथा पुरोहित पुरूष :-

कान्तान्तिक-नैमित्तिक-मौहूर्तिक-पौराणिक-सूतमागधाः
पुरोहितपुरूषाः सर्वाध्यक्षाश्च साहसाः।[2]

इस सूची का अनुशीलन बतलाता है कि ईस्वी पूर्व तृतीय शती में पुराण का वक्ता पौराणिक राजा के द्वारा नियुक्त किया जाता था और उसका वेतन एक हजार पण होता था। उस युग में पौराणिक एक महत्वशाली व्यक्ति माना जाता था और विशिष्ट वेतन पर उसकी नियुक्ति उसके वैशिष्ट्य का द्योतक है। कौटिल्य का यह उल्लेख पुराण के प्रचार-प्रसार के महत्व का विशद द्योतक है।[3]

पुराण की महनीयता :-

पुराणार्थ की वेदार्थ से महनीयता मानने मे जीवगोस्वामी जी ने अपने 'तत्वसन्दर्भ' के उपोद्घात में तीन कारणों को उपन्यस्त किया है -

1. वैदिक साहित्य को दुष्पारता (वेद का साहित्य इतना विशाल है कि उसका पार पाना एकान्ततः कठिन है।)

---

1. अर्थशास्त्र अ0 5/13-14
2. अर्थशास्त्र अ0 5/3
3. पुराण विमर्श प्रथम परिच्छेद, पुराण की प्राचीनता पृ0सं0 1-22

2. वेदार्थ की दुरधिगमता (वेद की भाषा के सर्वाधिक प्राचीन होने के कारण उसके अर्थ को समझना नितान्त कठिन है।)

3. वेदार्थ के निर्णय में मुनियों का परस्पर विरोध उदाहरणार्थ 'वृत्र' के स्वरूप का निर्णय आज भी यथार्थरूपेण नहीं हो पाया। इसीलिए महर्षि यास्क ने अपने 'निरुक्त' ग्रन्थ में नाना सम्प्रदायों का उल्लेख करके निर्णय के प्रश्न को खुला ही छोड दिया है। इन कारणों से उत्पन्न दुरूहता पुराण में कहीं भी नहीं है। पुराण न तो दुष्पार है, न उसका अर्थ दुरधिगम है और न उसके अर्थ निर्णय में 'मुनीनां च मतिभ्रमः' वाली बात है। पुराण तथा वेद की इस शैली और भाषागत वैभिन्य को मूलतः समझ लेना नितान्त आवश्यक है। वेद की भाषा प्राचीन तथा दुरूह है वेद की शैली रूपकमयी तथा प्रतीकात्मक है। इसके ठीक विपरीत पुराण की भाषा व्यावहारिक तथा सरल और शैली रोचक तथा आख्यानमयी है। इसीलिए जनता के हृदय तथा धर्म के तत्व को सुबोध भाषा के द्वारा पहुंचा देने में पुराण का प्रतिस्पर्द्धी कोई साहित्य नहीं है।

वेद में सूत्र रूप में जो बातें कही गयी हैं, उन्ही की व्याख्या पुराणों में भाष्य रूप से की गयी है। यह बात पुराण रचयिता व्यास जी ने स्वयं कही है -

'इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्' अर्थात् इतिहास (रामायण-महाभारत) और पुराण की सहायता से वेद का अर्थ समझना चाहिए। यही कारण है कि वेद में जिन बातों की सूचना मात्र है, पुराण में उपाख्यान आदि के द्वारा उन्ही का विस्तार है। जैसे ऋग्वेद के 'इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्' मन्त्र में विष्णु के अवतार की सूचनामात्र है, पर वामनपुराण में त्रिविक्रम वामनावतार के प्रसंग में तथा अन्य पुराणों में भी विष्णु के वामनावतार का विस्तार से वर्णन किया गया है।

पुराण में जितनी सरलता से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष रूप चतुर्वर्ग की सिद्धि का साधन मिलेगा उतना अन्यत्र नहीं है। 18 पुराणों में परोपकार को सब धर्मों का सारभूत पुण्य बताया गया है और परपीडा को महापाप। यह पाप-पुण्य की परिभाषा मानवता को कितना सुन्दर और मौलिक आचरण बता रही है।

पुराणों में सत्यान्वेषण करने की दृष्टि से, सत्यवादी हरिश्चन्द्र आदि के उपाख्यान से ज्ञात होता है कि उन्होने सत्य की मूलवत्ता को कितना आत्मसात् किया था। सती अनसूया, सीता, सावित्री, सुकन्या आदि देवियों ने अपनी निष्ठा और सत्य

से अलौकिक चमत्कार की सिद्धि प्राप्त की थी। भगवान राम की जीवनचर्या से उनके चरित्र की विशेषता और मर्यादा पालन की हृदयग्राही शिक्षा मिलती है। राम ने जनमत का सम्मान कर अपनी धर्म पत्नी सती सीता को छोड दिया था। पैतृक अनुशासन और आज्ञा का आदर्श स्थिर करने के लिए राज्य का भी त्याग किया एवं अत्याचार का शमन करने के लिए एक स्वेच्छाचारी अधिनायक का विध्वंस किया। श्रीराम के चरित्र में जो आदर्श हैं तथा जिस उच्च भूमिका पर समाज के जीवन का नैतिक, सामाजिक, चारित्रिक, धार्मिक, व्यावहारिक, आध्यात्मिक और आधिभौतिक स्तर प्रतिष्ठित करने का अद्वितीय लक्ष्य है, उसका दर्शन अन्यत्र दुर्लभ है। रामराज्य के सम्बन्ध में ब्यास जी ने लिखा है – 'न पुत्रमरणं केचिद्रामे राज्यं प्रशासति।' इसी बात को महर्षि बाल्मीकि ने इस प्रकार लिखा है –

न पुत्रमरणं केचिदृक्ष्यन्ति पुरूषाः क्वचित्।
नार्यश्चाविधवा नित्यं भविष्यन्ति पतिव्रताः।।

– बाल्मीकि रामायण

अर्थात् राम के राज्य में कोई पुरूष पुत्र की मृत्यु नहीं देखता था, कोई स्त्री विधवा नहीं होती थी और सभी पतिव्रता होती थीं।

पुण्य शासन का यही आदर्श है। क्या राम के शासन के अतिरिक्त संसार के किसी भी शासन का यह आदर्श मिलता है ?

इसी प्रकार मार्कण्डेय मुनि के जीवन से दीर्घायु तथा दधीचि, शिवि आदि के चरित्र से त्याग आदि का आदर्श पुराणों के द्वारा ही मिलता है। पुराणों में ज्ञान, वैराग्य, भक्ति, श्रद्धा, विश्वास, यज्ञ, दान, तप, संयम, यम, नियम, सेवा, भूत, दया, वर्णधर्म, आश्रम धर्म, राज धर्म, मानव धर्म, व्यक्ति धर्म, स्त्री धर्म, सदाचार और नाना श्रेणियों के पुरूषों के विभिन्न कल्याणकारी उपदेश सुन्दर, सरल और उपादेय भाषा में लिखे गये हैं। एतदतिरिक्त पुरूष, प्रकृति, महत्तत्व, प्रकृति–विकृति, भूगोल, खगोल, ऋषिवंश तथा राजवंश का वर्णन और स्थावर जंगम सृष्टि का बहुत सुन्दर रीति से सूक्ष्म विवेचन किया गया है। कोश, दर्शन, व्याकरण, छन्द, ज्योतिष, निरुक्त, शिक्षा, कला, आयुर्वेद, गन्धर्ववेद, स्थापत्यवेद, राजनीति, समाजनीति, योग, तन्त्र आदि शास्त्रों का भी परिज्ञान हमें इनसे प्राप्त होता है। आध्यात्मिक एवं आधिदैविक विषयों के अतिरिक्त आधिभौतिक वाद की भी प्रचुर सामग्री पुराणों में पायी जाती है। इन्ही विशेषताओं के कारण स्वयं नारदीय पुराण का कथन है –

वेदार्थाददधिकं मन्ये पुराणार्थं वरानने।

वेदाः प्रतिष्ठिताः सर्वे पुराणे नात्र संशयः।।[1]

पुराणों का आविर्भाव :-

महर्षि वात्स्यायन ने अपने न्यायदर्शन भाष्य में लिखा है कि वेदों और पुराणों का आविर्भाव काल समान ही है। जैसे वेद अपौरूषेय है, गौतम, वसिष्ठ, अत्रि, कश्यप, भरद्वाज, वामदेव आदि ऋषि वेद-मन्त्रों के द्रष्टा मात्र हैं कर्ता नहीं, वैसे ही पुराणों की मौलिक सामग्री का कर्ता कोई भी नहीं है, किन्तु वेद प्रति पादित पुराणों के स्मर्ता ब्रह्मदेव हैं और वक्ता अनेक ऋषि हैं। तात्पर्य यह है कि जो वेद के द्रष्टा हैं वे ही पुराणों के स्मर्ता एवं वक्ता है। जिस प्रकार वेद का आरम्भ ब्रह्मा से है, उसी प्रकार पुराणों का आरम्भ भी ब्रह्मा से ही हुआ है। विशेषता इतनी है कि मन्त्रोपदेश से पूर्व विनियोग आवश्यक है तथा विनियोग की पूर्णता के लिए ऋषि, देवता, छन्द तथा चरित्र का ज्ञान भी अत्यावश्यक है।

अतः पहले पुराणों को जान लेने पर ही मन्त्रोपदेश सफल हो सकता है, अन्यथा नहीं। इसी अभिप्राय से पद्मपुराण के सृष्टि खण्ड के अध्याय 104 में सिद्ध किया गया है कि सर्वप्रथम ब्रह्मा के मुख से पुराणों का ही स्मरण हुआ, पश्चात् उनके मुख से वेदमन्त्र निकले -

पुराणं सर्वशास्त्राणां प्रथमं ब्रह्मणा स्मृतम्।

अनन्तरं च वक्त्रेभ्यो वेदास्त य विनिर्गताः।।[2]

कालेनाग्रहणं दृष्ट्वा पुराणस्य ततो नृप।

तदष्टादशधा कृत्वा भूलोकेऽस्मिन् प्रकाश्यते।।[3]

अर्थात् हे निष्पाप! कल्पान्तर में एक ही पुराण था, जो धर्म, अर्थ और काम का साधक तथा सौ करोड श्लोकों में फैला हुआ (रचित) था। तब हे राजन्! समय बीतने पर उस विस्तृत पुराण का ग्रहण करना असंभव देखकर उसे अठारह भागों में विभक्त करके इस भूलोक में प्रकाशित किया।

पद्मपुराण एवं बृहन्नारदीय पुराण में भी इस तरह के श्लोक पाये जाते हैं।

---

1. नारदीय पुराण 2/24/17
2. पद्मपुराण सृष्टिखण्ड अ0 104
3. पद्मपुराण सृष्टिखण्ड अ0 104

इससे सिद्ध होता है कि पहले के प्रसिद्ध पुराण ग्रन्थ के आधार पर ही अठारह पुराणों की उत्पत्ति हुई है। उसी आदिम ब्रह्माण्डपुराण से मन्त्रार्थोपयोगी आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक उपाख्यानों को लेकर महर्षियों ने ब्राह्मणग्रन्थों में सन्निविष्ट कर दिया। इसीलिए ऐतरेय ब्राह्मण के निम्नलिखित मन्त्र में सिद्ध आख्यानों के वक्ताओं का ही प्रतिपादन किया गया है –

सोमो वै राजाऽमुष्मिन् लोके आसीदत देवाश्च ऋषयश्चाभ्यध्यायन् – कथमयमस्मान् सोमो राजा गच्छेदिति, तेऽब्रुवन् छन्दासि श्रूयां न इमं सोमं राजानमाहरतेति, तथेति, ते सुपर्णा भूत्वोदपतन् ते यत् सुपर्णा भूत्वोदपतन् तदेतत् सौपर्णमिति आख्यानविद आचक्षते।

यद्यपि ब्राह्मणग्रन्थों में महर्षियों ने ही आख्यानों को कहा है किन्तु वे आख्यान ब्राह्मण ग्रन्थ कर्ता महर्षियों द्वारा प्रणीत नहीं है, क्योंकि मन्त्रार्थ के उपपादन में उन आख्यानों का उपादान होने से उन्हे मन्त्र–रचना के बाद की कल्पना का विषय नहीं माना जा सकता। इसीलिए ब्रह्मा द्वारा प्रस्तुत चिरन्तन ब्रह्माण्डपुराण से ही ये आख्यान संकलित किये गये हैं, ऐसा मानना चाहिए। ब्राह्मण ग्रन्थों में उल्लिखित पुराणार्थ – आख्यानों को ब्रह्मकृत मानकर ही पद्मपुराण के सृष्टिखण्ड में कहा गया है –

सूतेनानुक्रमेणेदं पुराणं सम्प्रकाशितम्।
ब्राह्मणेषु पुरा यच्च ब्रह्मणोक्तं सविस्तरम्।।

इन ब्राह्मण–ग्रन्थों में प्रायः सभी विद्याओं का उल्लेख है, किन्तु वे क्रम बद्धता से रहित सूत्र रूप में अस्पष्ट है। अतएव उन्हे बुद्धिग्राह्य बनाने के लिए विशिष्ट बुद्धिशाली महर्षियों ने अपनी प्रतिभा के बल पर उन ब्राह्मण ग्रन्थों से उन विद्याओं को अलग करके युक्ति–प्रयुक्ति और सिद्धि के द्वारा विशद करके लोक कल्याणार्थ प्रसारित किया। जैसे कपिल और पतञ्जलि आदि ने सांख्य और योग को, वात्स्यायन आदि ने कामसूत्र को, मनु आदि ने धर्मसूत्र को, धन्वन्तरि आदि ने आयुर्वेद को, यास्क आदि ने निरुक्त को और इन्द्र, पाणिनि आदि ने व्याकरण को प्रवर्तित किया। इसी प्रकार वशिष्ठ के प्रपौत्र शक्ति के पौत्र और पराशर के पुत्र सत्यवती के गर्भ से उत्पन्न भगवान् कृष्ण द्वैपायन ने लोकोपकार के लिए समस्त–ब्राह्मण–ग्रन्थों से सभी उपाख्यानों एवं गाथाओं का संकलन करके कथा प्रसंग में आयी हुई कल्पशुद्धियों को भी ठीक–ठीक जोडकर लौकिक आख्यानों से मिश्रित तथा संगतिबद्ध करके पूर्वोक्त

वेदरूप ब्रह्माण्डपुराण में कहे गये जगत्सृष्टि प्रलय रूप पदार्थों को आख्यान[1], उपाख्यान[2], गाथा[3], और कल्पशुद्धि[4] से गुम्फित करके अठारह खण्डों में विभक्त एक संहिता का निर्माण किया। उसे पुराण संहिता इसलिए कहते हैं कि उसमें पुराण पद से अभिहित तथा ब्राह्मण आदि ग्रन्थों में उल्लिखित विश्व-सृष्टि विद्याओं का एक जगह संग्रह करके समाहार किया गया है। फिर कृष्ण द्वैपायन ने अपने शिष्य सूतोत्पन्न लोमहर्षण को वह संहिता पढायी।

लोकहर्षण ने भी सम्पूर्ण संहिता को पढकर 1. सर्ग (सृष्टि), 2. प्रतिसर्ग (प्रलय), 3. वंश (देवताओं और पितरों की वंशावली), 4. मन्वन्तर (किस मनु का कब तक अधिकार रहता है), 5. वंशानुचरित (सूर्य, चन्द्रप्रभृति राजवंशों में उत्पन्न होने वाले राजाओं के संक्षिप्त वर्णन) - इन पांच विषयों में विभक्त करके एक लोमहर्षणी नाम की संहिता बनायी। उन्हे अपने छह शिष्यों - 1. सुमति, 2. अग्नि, 3. मित्रयु, 4. सुशर्मा, 5. अकृतव्रण और 6. सोमदत्ति को पढा दिया। ये ही छह व्यक्ति गोत्र-नाम के क्रम से 1.आत्रेय, 2. भारद्वाज, 3. वसिष्ठ, 4. शांशपायन, 5. काश्यप और 6. सावर्णि कहे जाते हैं। इन छहों ने भी पूर्वोक्त संहिताद्वय के आधार पर स्वेच्छानुसार क्रम रखकर छह संहिताओं का निर्माण किया। उन छहों संहिताओं में जिज्ञासा, आख्यान, संवाद एवं प्रवृत्ति के अनुरोध से प्रसंगतः संक्षिप्त और विस्तृत अनेक कथानक जोड दिये गये। जिससे उनके आकारों में भिन्नता आ गयी, पर सर्ग, प्रतिसर्ग आदि सामान्य धर्म उनमें बराबर ही बने रहे। इस प्रकार पुराणों की आठ संहितायें बन गयीं, यह किन्ही आचार्यो का मत है। वैसे वायु पुराण और विष्णुपुराण के मत से चार ही संहिताएं हैं - 1. लोमहर्षिणिका, काश्यपिका, सावर्णिका और शांसपायनिका। इन चार संहिताओं के आधार पर ही वेद व्यास ने ब्रह्मपुराण आदि प्रसिद्ध पुराणों की रचना की और उसमें उग्रश्रवा प्रभृति सूतों ने संवृद्धि की।

आगे चलकर उन चारों संहिताओं में उल्लिखित कथाओं में भिन्नता आ गयी। इसका कारण यह है कि समय-समय पर मुनियों की गोष्ठियों में उन पर चर्चा होती रही, जिसमें सात्विक, राजस और तामस उपासना के भेद से उनकों भिन्न-भिन्न प्रकार से निरूपित किया गया, फलतः मुख्य उद्देश्य में भिन्नता आ जाने से इतिहास

---

1. स्वयं देखे गये विषयों का वर्णन।
2. कर्ण-परम्परा द्वारा सुने गये विषयों का वर्णन।
3. पितरगण, परलोक अथवा अन्यान्य विषयों के गीत व अनुश्रुतियां।
4. श्राद्धकल्प आदि के निर्णय।

और प्रबन्ध में भी भेद हो गया। बाद में उन-उन पुराणों में आये हुए पुलस्त्य एवं भीष्म और पराशर एवं मैत्रेय आदि के संवादों का प्रचार करने के लिए कभी लोमहर्षण सूत नैमिषारण्य में जाकर वेदव्यास ही के द्वारा विभक्त किये अठारह पुराणों को शौनक आदि जिज्ञासु मुनियों को सुनाने लगे।

यद्यपि वेदव्यास द्वारा व्यक्त किये गये पुराणों, का पूर्वापर क्रम दूसरे प्रकार से निर्धारित था, किन्तु लोमहर्षण ने जिज्ञासुओं के अनुरोध से निर्धारित क्रम की उपेक्षा करके क्रमशः ब्रह्मपुराण, पद्मपुराण, विष्णुपुराण, कूर्मपुराण, मत्स्यपुराण, वामनपुराण, वाराहपुराण, ब्रह्मवैवर्त पुराण, नारदीय पुराण तथा भविष्यपुराण - इन दस पुराणों को पूर्ण रूप से सुनाकर अग्निपुराण को आधा ही सुनाया। इसी बीच संयोग से नैमिषारण्य में आये हुये बलभद्र ने अवशिष्ट अग्निपुराण को सुनाते हुए ही सूत को - यह बिना मेरा अभिवादन किये शूद्र होकर पुराण सुना रहा है - ऐसा सोचकर क्रोधावेश में मार डाला। तब लोमहर्षण के दिवंगत हो जाने पर शोकाकुलित शौनक आदि मुनियों ने लेमहर्षण के पुत्र उग्रश्रवा नामक सूत को बुलाकर व्यासगद्दी पर बैठाकर उससे अग्निपुराण के अवशिष्ट आधे भाग के साथ और भी सात पुराण सुन लिये। यह बात पद्मपुराण के उत्तरखण्ड में आयी है। लोमहर्षण की जीवितावस्था में भी नित्य वे ही मुनियों को पुराण नहीं सुनाते थे, अपितु उनकी आज्ञा से उग्रश्रवा से भी नैमिषारण्य में जाकर मुनियों को पुराण सुनाया करते थे। यह बात भी पद्मपुराण से विदित होती है।

१. पुराणों की संख्या

पुराणों का क्रम -

विष्णु पुराण के अनुसार पुराणों की रचना (सृष्टि) का क्रम इस प्रकार है -

1. ब्रह्म	2. पद्म	3. विष्णु	4. वायु (शिव)
5. भागवत	6. नारदीय	7. मार्कण्डेय	8. अग्नि
9. भविष्य	10. ब्रह्मवैवर्त	11. लिंग	12. वाराह
13. स्कन्द	14. वामन	15. कूर्म	16. मत्स्य
17. गरुड	18. ब्रह्माण्ड		

इन्ही अठारह पुराणों का आद्य अक्षर लेकर निम्नलिखित श्लोक में मात्र सूची प्रत्तुत की गयी है -

मद्वयं भद्वयं चैव ब्रत्रयं वचतुष्टयम्।
अनापकूस्क लिंगानि पुराणानि प्रचक्षते।।

दो	म	दो	भ	तीन	ब्र	चार	व
7		5		1		3	
16		9		10		12	
				18		14	
						4 (मत भेद से)	
अ0	ना0	प0	क0	स्क0	लि0	ग0	
8	6	2	15	13	11	17	

पुराणों की अष्टादश संख्या :-

यद्यपि पौराणिक शैली प्रधानतया त्रैगुण्य - रचना और प्रकृति की विकासक है तथा प्रत्येक पुराण त्रैगुण्य - रचना और प्रकृति की विकासक है तथा प्रत्येक पुराण में गुण त्रय और गुणातीत संसार एवं अव्यक्त ब्रह्म का प्रतिपादन और उस प्रतिपाद्य की प्राप्ति का विधान है तो भी कोई पुराण प्रधानतया सात्विक कोई राजसिक और कोई तामसिक होने से प्रधान - अप्रधान के भेद से नौ भेदों में पर्यवसित हो जाते हैं। फिर नवों के शक्तयात्मक एवं शिवात्मक भेद होने से अठारह संख्या हो जाती है। वस्तुतः संख्या नौ ही है। परन्तु तन्त्र-शास्त्र के अनुसार शिव-शक्त्यात्मक योग से नौ संख्या अष्टादश हो जाती है।

इसी सिद्धान्त के आधार पर अष्टादश पुराण, अष्टादश स्मृतियां, अष्टादश पर्व तथा गीता के अष्टादश अध्याय आदि कहे गये है।

वैदिक प्रक्रिया के अनुसार सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड तीन भागों में विभक्त हैं -

1. पृथ्वी
2. अन्तरिक्ष और
3. द्यौः।

कालक्रमानुसार इन तीनों में 6-6 परिवर्तन होते हैं, 1. सत्ता, 2. उत्पत्ति, 3. वृद्धि, 4. परिपाक, 5. अपचय और विनाश। उसे प्रत्येक विकारों की गणना करने से 18 होता है। 18 पुराण इन तीनों स्थानों की सृष्टि, प्रलय आदि का विरूपण करते हैं। इसलिए 18 भाव-विकारों को व्यक्त करने के लिए पुराण भी 18 माने गये हैं। फिर कल्प भी 18 माने जाते है। एक-एक कल्प में एक-एक पुराण की प्रधानता रहती है। इस दृष्टि से विचार करने पर भी पुराणों की अष्टादश संख्या के रहस्य का उद्घाटन होता है।

विष्णु पुराण (3/6/20-24) तथा भागवत (12/13/3-8) आदि में इन पुराणों का निर्देश एक विशिष्ट क्रम के अनुसार है और यही क्रम तथा नाम अन्य पुराणों में भी उपलब्ध होते हैं।

1. विष्णु पुराण (3/6/24) ने इन्ही अष्टादश पुराणों को महापुराण के नाम से भी व्यवहृत किया है। 'उपपुराण' का उल्लेख तथा विशिष्ट नामों का अनुल्लेख यही सिद्ध करता है कि इन पुराणों में पृथक् तथा भिन्न 'उपपुराण' का सामान्य उदय तो हो गया था, परन्तुः सम्भवतः विशिष्ट उपपुराणों की रचना नहीं हुई थी।

पुराणों का वर्गो में विभाजन -

उक्त अष्टादश पुराणों को वर्गो में विभक्त किया गया है। स्कन्दपुराण के केदार खण्ड में यह चर्चा आयी है कि अठारहों महापुराणों में दस शैव, चार ब्राह्म, दो शाक्त और दो वैष्णव हैं। फिर उसी पुराण के रहस्यखण्डान्तर्गत सम्भवकाण्ड में लिखा है कि शिव, भविष्य, मार्कण्डेय, लिंग, वाराह, स्कन्द, मत्स्य, वामन, कूर्म और ब्रह्माण्ड - ये दस पुराण शैव हैं। इन सबकी श्लोक संख्या 3 लाख है। विष्णु, भागवत विष्णु की महिमा वर्णित है। ब्रह्म और पद्म - ये दो पुराण ब्रह्मा से सम्बन्धित हैं। अग्निपुराण अग्नि की और ब्रह्मवैवर्त पुराण कृष्ण की (मतान्तर में सूर्य की) महिमा से पूर्ण है। ब्रहम पुराण में ब्रह्मा, विष्णु और महेश का साम्य प्रतिपादित करते हुए भी ब्रह्मा को श्रेष्ठ और विष्णु को त्रिदेवात्मक सिद्ध किया गया है। इसी प्रकार शैव पुराणों में शिव को सभी देवताओं से अधिक शक्तिशाली माना गया है। मत्स्य पुराण में यद्यपि विष्णु के मत्स्यावतार का ही वर्णन किया गया है, पर शिव के विविध अवतारों एवं कार्यो का भी इसमें वर्णन मिलता है। इसी प्रकार वाराह, वामन और ब्रह्माण्ड में भी शिव की अनन्त शक्ति का वर्णन किया गया है, जिसके सम्मुख विष्णु, ब्रह्मा, प्रभृति सभी देवों एवं शक्तियों को कई बार प्रभावहीन होते दिखाया गया है। शैव मत की प्राचीनता एवं उसके उदात्त विचारों का ही यह परिणाम है कि अधिकांश पुराणों में उसकी चर्चा की गयी है। ऋग्, यजु, साम और अथर्व इन चारों वैदिक संहिताओं में रूद्र की स्तुति मिलती है। इनमें यजुर्वेदान्तर्गत रूद्राष्टाध्यायी का आज भी बहुत प्रचार है यद्यपि इस बात में विवाद उठाया गया है कि वैदिक रूद्र ही पौराणिक शिव अथवा रूद्र है, पर यह परम्परा इतनी प्रचलित हो गयी है कि वह तर्क नहीं स्वीकार करती। वाजसनेयी संहिता में शतरूद्रों के बीच-बीच में शिव, गिरीश, पशुपति, नीलग्रीव, शितिकण्ठ, भव, शर्व, महादेव इत्यादि नामें को देखने से रूद्र और शिव के एकत्व में

अविश्वास नहीं रह जाता। अथर्वसंहिता में भी महादेव, भव, पशुपति आदि नामों का उल्लेख हुआ है। अस्तु शैव पुराणों में प्रायः इन्ही उपर्युक्त नामों की चरितार्थता मनोहर कथाओं के रूप में की गयी है। इनके अतिरिक्त सात्विक, राजस् एवं तामस् इन तीनों गुणों के आधार पर भी पुराणों का वर्ग – विभाग किया गया है।

पुराणों की श्लोक संख्या :-

पुराणों के नाम		भागवत	देवी भागवत	अग्निपुराण
		(12/13)	(1/13)	(अ0 272)
मत्स्य				(अ0 53)
ब्रह्म	10 हजार	10 हजार	25 हजार	13 हजार
पद्म	55 हजार	55 हजार		55 हजार
विष्णु	23 हजार	23 हजार	23 हजार	23 हजार
शिव	24 हजार	24600 (वायु)	14000 (वायु)	24हजार (वायु)
भागवत	18 हजार	18 हजार	18 हजार	18 हजार
नारद	25 हजार	25 हजार	25 हजार	25 हजार
मार्कण्डेय	9 हजार	9 हजार	9 हजार	9 हजार
अग्नि	15400	16 हजार	12 हजार	16 हजार
भविष्य	14500	14500	14 हजार	14500
ब्रह्मवैवर्त	18 हजार	18 हजार	18 हजार	18 हजार
लिंग	11 हजार	11 हजार	11 हजार	11 हजार
वराह	24 हजार	24 हजार	24 हजार	24 हजार
स्कन्द	81100	81 हजार	84 हजार	81 हजार
वामन	10 हजार	10 हजार	10 हजार	10 हजार
कूर्म	17 हजार	17 हजार	8 हजार	18 हजार
मत्स्य	14 हजार	14 हजार	13 हजार	14 हजार
गरुड	19 हजार	19 हजार	8 हजार	19 हजार
ब्रह्माण्ड	12 हजार	12100	12 हजार	12200

योग : 4 लाख

श्लोक संख्या की चार सूचियों का यह परीक्षण अनेक वैभिन्य उपस्थित करता है। ब्रह्मपुराण में नारदीय (92/31) तथा भागवत के अनुसार 10 हजार श्लोक हैं, परन्तु अग्नि0 के अनुसार 25 हजार। विष्णुपुराण की श्लोक संख्या 6 हजार से लेकर 24 हजार मानी गयी है। वायुपुराण की श्लोक संख्या साधारणतः 24 हजार मानी जाती है, परन्तु देवी भागवत ने इससे 6 सौ श्लोक अधिक माना है, अग्नि0 में केवल 14 हजार परन्तु ग्रन्थ के भीतर केवल 12 हजार। उपलब्ध वायुपुराण में 10 हजार से कुछ ही अधिक श्लोकों की उपलब्धि मूल द्वादश सहस्रों के पास चली जाती है। मार्कण्डेय की श्लोक संख्या 9 हजार सर्वत्र है, परन्तु स्वयं मार्कण्डेय के ही आधार पर वह संख्या 6 हजार 9 सौ ही केवल है (मार्कण्डेय 134/39) अग्नि पुराण के श्लोकों की संख्या के विषय में इसी प्रकार विभिन्नता मिलती है। मत्स्य के अनुसार 16 हजार, भागवत के मत में इससे 6 सौ कम, परन्तु स्वयं अग्नि के अनुसार केवल 12 हजार और आजकल उपलब्ध संख्या केवल इतनी ही है। स्कन्द की श्लोक संख्या 81 हजार है, परन्तु अग्नि ने इसमें तीन हजार और जोडकर इसे 84 हजार बना दिया है। गरूड पुराण की भी यही दशा है भागवत तथा देवी भागवत के अनुसार 19 हजार, मत्स्य के अनुसार 18 हजार, परन्तु अग्नि के अनुसार केवल 8 हजार। इस प्रकार इन पुराणस्थ श्लोक संख्या में पर्याप्त भिन्नता है।

इस सूची की तुलना करने पर अग्निपुराण की सूचना अनेक पुराणों के विषय में सबसे विचित्र है। उसे छोड देने पर भागवत, मत्स्य आदि के वर्णन की समानता है। समग्र पुराणों की श्लोक संख्या गिनाने पर 4 लाख से कई हजार ऊपर ठहरती है, परन्तु सामान्य रूप से चार लाख श्लोकों की संख्या पुराणस्थ श्लोकों की मानी जाती है।[1] इस सूची में प्रदत्त श्लोक संख्या को प्रचलित पुराणों के श्लोकों से मिलाने पर वह परिणाम में बहुत न्यून ठहरती है।

इस तथ्य की ओर पुराणों के कतिपय मान्य व्याख्याकारों का भी ध्यान आकृष्ट हुआ था जिन्होने अपनी टीकाओं में इस वैषम्य का निर्देश भली-भांति किया है। ब्रह्मपुराण में नारदीय के अनुसार 10 सहस्र तथा अग्निपुराण के अनुसार 25 सहस्र श्लोक हैं, परन्तु आनन्दाश्रम ग्रन्थावलि में मुद्रित ब्रह्मपुराण में लगभग 14 सहस्र (निश्चित संख्या 13,7,83) श्लोक मिलते हैं। विष्णु

पुराण की श्लोक संख्या में तो बडा ही तीव्र वैषम्य लक्षित होता है। इस पुराण के विष्णुचित्ति तथ वैष्णवाकूतचन्द्रिका (रत्नगर्भभट्ट) नामक व्याख्याओं के अनुसार विष्णुपुराण की श्लोक संख्या 6, 8, 9, 10, 22 तथा 23 से लेकर 14 हजार तक बदलती रही, परन्तु इन दोनों टीकाओं ने तथा श्रीधर स्वामी ने भी 6 हजार श्लोक वाले पाठ पर ही अपनी व्याख्यायें लिखी हैं। वल्लालसेन का 'दानसागर' तेइस सहस्र वाले विष्णु के पाठ का उल्लेख करता है। 'स्कन्द पुराण' अपने दोनों विभाजनों में 81 हजार श्लोकों वाला माना गया है, परन्तु वेंकटेश्वर प्रेस (बम्बई) से मुद्रित संस्करण में इससे कई हजार अधिक श्लोक मिलते हैं। इसके विषय में भविष्य पुराण एक विचित्र तथ्य को प्रकट करता है। उसका कथन है कि समस्त पुराण मूलतः 12 हजार श्लोकों में थे, परन्तु कालान्तर में नवीन विषयों का सन्निवेश तथा सम्मिश्रण करने से यह संख्या अधिक बढ गयी है जिससे स्कन्द पुराण तो एक लाख श्लोकों से युक्त है तथा भविष्य पुराण पचास हजार श्लोकों से। परन्तु यह कथन भी प्रामाणिक नहीं माना जा सकता, क्योंकि श्रीमद्भागवत की रचना से एक रूपता का सर्वत्र समर्थन होता है। उसमें क्षेपक की कल्पना नितान्त अनुचित है। फलतः उसका मूल रूप ही 18000 श्लोकों का था। ऐसी दशा में भविष्य के पूर्वोक्त कथन में हम कथमपि श्रद्धा नहीं धारण कर सकते।

1. **व्यासरूपमहं कृत्वा संहरामि युगे युगे।**
चतुर्लक्षणप्रमाणेन द्वापरे द्वापरे सदा।।
तदष्टादशधा कृत्वा भूर्लोऽस्मिन् प्रकाशते।
अद्यापि देवलोकेऽस्मिन् शतकोटिप्रविस्तरम्।।
तदर्थोऽत्र चतुर्लक्षं संक्षेपेण निवेशितम्।।

कहीं - कहीं मूल पुराण के समग्र अंशों की अनुपलब्धि श्लोक - संख्या के ह्रास का कारण मानी जा सकती है। उदाहरणार्थ, कूर्म में मूलतः चार संहिताएं वर्तमान थी।[1] ब्राह्मी, भागवती, सौरी तथा वैष्णवी। इनमें से केवल प्रथम संहिता (ब्राह्मी) ही

1. ब्राह्मी भागवती सौरी वैष्णवी च प्रकीर्तिताः।
चतस्रः संहिताः पुण्या धर्मकामार्थ मोक्षदाः।।
इयं तु संहिता ब्राह्मी चतुर्वेदस्तु सम्मिता।
भवन्ति षड् सहस्राणि श्लोकानामत्र संख्यया।।

- कूर्म, 1 अ0 श्लोक 22 - 23

उपलब्ध है जिसमें कूर्म (1/23) के अनुसार ही छः हजार श्लोक है। कूर्म में श्लोकों की संख्या 17 हजार भागवत तथा देवी भागवत के अनुसार तथा 7 हजार अग्नि पुराण के अनुसार मानी जाती है। 17 या 18 हजार श्लोक चारों संहिताओं के श्लोकों की सम्मिलित संख्या प्रतीत होती है। अग्नि की आठ हजार श्लोक संख्या किसी एक या दो संहिताओं के योग का फल है। परन्तु आज उपलब्ध कूर्म पुराण में केवल 6 हजार श्लोक मिलते हैं जो केवल ब्राह्मी संहिता की उपलब्धि से अनुचित नहीं है।

प्राचीन निबन्धकारों ने अपनी दृष्टि के अनुसार इस वैषम्य को सुलझाने का प्रयास किया है। मित्र मिश्र ने अपने 'परिभाषा प्रकाश' में इस विषय में जो लिखा है वह हमारे निबन्धकारों के दृष्टिकोण को समझाने के लिए आदर्श माना जा सकता है।[1]

पहले दी गयी सूची में पुराणों का जो क्रम दिया गया है वह सर्वत्र मान्य नहीं है। अनेक पुराण ब्रह्म को ही आदि पुराण मानते हैं और पूर्वोक्त सूची का अक्षरशः अनुवर्तन करते हैं। ब्राह्मण्ड पुराण तो अपने को आदि पुराण मानता है, विष्णु पुराण भी उसी का समर्थन करता है।[2] श्रीमद्भागवत आदि अनेक पुराण इसी मत के समर्थक हैं। केवल वायु पुराण (104/3) तथा देवीभागवत (1/3/3) प्रथम पुराण होने का श्रेय मत्स्य पुराण को प्रदान करते हैं। वामनपुराण भी मत्स्य को ही पुराणों में मुख्य बतलाता है।[3] इसके विपरीत, स्कन्दपुराण (प्रभासखण्ड 2/8-9) में ब्रह्माण्ड आदि

---

1. मत्स्य पुराणे तु भागवतीयगणनातः षट्शत्याऽग्निपुराणं द्विशत्या च ब्रह्माण्डपुराणमधिकमुक्त्वा अन्ते चतुर्लक्षमित्युपसंहृतम्, तददूरषिप्रकर्षेण। भवन्ति ईदृशा अपि वादा यत् किन्चिन्न्यूनाधिकं शतं लब्ध्वा शतं मया लब्धामिति। एवं भागवतीयमपि चतुर्लक्षवचनं व्याख्येयम्। यापि विष्णु पुराणे ब्रहमाण्डपादाय वायवीयत्यागेन, या च ब्रह्मवैवर्ते वायवीयमुपाक्षय ब्रह्माण्डपुराणपरित्यागेन अष्टादशसंख्योक्ता, सा कल्पभेदेन व्यवस्थापनीया।

   – परिभाषा प्रकाश पृ0 12–13 (चौखभा सं0 काशी)

2. तेऽपि श्रुत्वा मुनिश्रेष्ठाः पुराणं वेदसम्मितम्।
   आद्यं ब्राह्माभिधानं च सर्ववाञ्छाफलप्रदम्।। – ब्राह्म 245/4
   आद्यं सर्वपुराणानां पुराणं ब्राह्ममुच्यते। – विष्णु 3/6/20

3. मुख्यं पुराणेषु यथैव मात्स्यं, स्वायम्भवोक्तिस्त्वथ संहितासु।
   मनुः स्मृतीनां प्रवरो यथैव, तिथीषु दर्शो विबुधेषु वासवः।।

   – वामन 12/48

पुराण माना गया है। परन्तु ये सब उत्सर्ग हैं, विधि नहीं। अष्टादश पुराणों का वही क्रम प्रायः अधिकांश पुराणों में माना जाता है जो हमने पूर्व सूची में दिया है। इन पुराणों के विषयों की सूची अनेक पुराणों में संक्षेप तथा विस्तार से दी गयी है। संक्षेप में यह सूची मत्स्य (अध्याय 53) अग्नि (अध्याय 272) तथा स्कन्द (प्रभास खण्ड, 2/28-76) में उपलब्ध है। परन्तु नारद पुराण में यह विषय-सूची बडे विस्तार से 18 अध्यायों में दी गयी है। (पूर्वार्ध 92 अध्याय - पूर्वार्ध 109 अ0 तक)

अपनी यथार्थता तथा प्रामाणिकता के लिए नारद की यह पुराण विषय-सूची विशेष परीक्षण की अपेक्षा रखती है। इस सूची में स्वयं नारदपुराण के विषयों की भी सूची दी गयी है। इससे कुछ लोग इसे सन्देह की दृष्टि से देखते हैं और मूल नारद में इसे अवान्तर प्रक्षेप मानते हैं। परन्तु मेरी ऐसी धारणा है कि दशम शती तक सब पुराण अपने वर्तमान रूप में आ गये थे।

पुराण - लक्षण :-

स्वयं पुराणों में ही 'पुराण' के कई लक्षण दिये गये हैं। कोशकारों के अनुसार उसका सर्वाधिक प्रचलित लक्षण है -

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च।
वंशानुचरितंचैव पुराणं पंचलक्षणम्।।

अर्थात् जिसमें सर्ग ईश्वरकृत सृष्टि (कारणसृष्टि), प्रतिसर्ग पुनः (कार्य) सृष्टि और लय, देवताओं एवं पितरों की वंशावली, समस्त मन्वन्तर (किस मनु का कब अधिकार रहता है) तथा वंशानुचरित (सूर्य चन्द्र प्रभृति राजवंशो में उत्पन्न होने वाले राजाओं के संक्षिप्त वर्णन) पुराण के ये ही पांच लक्षण है। इस लक्षण से सर्वांशतः घटित होने वाले प्रायः अधिकांश महापुराण हैं, पर कुछ ऐसे भी है जिनमें सब लक्षण घटित नहीं होते। 'पुराण' शब्द का व्यवहार अथर्ववेद, शतपथ ब्राह्मण, छान्दोग्य, बृहदारण्यक तैत्तिरीयारण्यक, आश्वलायनगृह्यसूत्र, आपस्तम्बधर्मसूत्र, मनुसंहिता, रामायण, महाभारत प्रभृति हिन्दू जाति के प्राचीनतम एवं सम्मान्य ग्रन्थों में किया गया है। पर यह विवादास्पद है कि उस समय भी पुराण का यही लक्षण था। अथर्वसंहिता के 'ऋचः सामानि छन्दांसि पुराणं यजुषा सह' (अथर्व 11, 7, 24) इस मत का 'ऋक्, साम, छन्द और पुराण ये साथ उत्पन्न हुए' यह स्फुट अर्थ है। बृहदारण्यक और शतपथ ब्राह्मण में एक स्थान पर यह वर्णन किया गया है कि जिस प्रकार गीले काष्ठ से उत्पन्न अग्नि से पृथक् पृथक् धुंआँ निकलता है उसी प्रकार इस महान् भूत के निःश्वास से ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, इतिहास, पुराण, विद्या,

उपनिषत् श्लोक, सूत्र, व्याख्यान और अनुख्यान निकले हैं। ये सभी इनके निःश्वास हैं।' इसमें भी 'पुराण' का इतिहासादि से पृथक् कथन किया गया है। छान्दोग्योपनिषद् के 'स होवाच ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहासं पुराणं पंचमं वेदानां वेदम्।' इस वचन के द्वारा 'पुराण' भी वेद समूह में पांचवा वेद माना गया है। इसी प्रकार महाभारत और रामायण में भी पुराण शब्द का अनेक स्थलों पर प्रयोग हुआ है। भगवान् शंकराचार्य ने बृहदारण्यक के भाष्य में 'पुराण' शब्द की व्याख्या की है। उनका कहना है कि 'वेदों में उर्वशी और पुरूरवा के कथोपकथन आदि ब्राह्मण भाग का नाम इतिहास और सबसे पहले एक मात्र असत् था इत्यादि सृष्टि प्रक्रिया के घटित वृतान्त का नाम पुराण है।'

इसी प्रकार आचार्य सायण ने भी वेदों में आये हुए पुराण शब्द की निरूक्ति करते हुए सृष्टि-प्रक्रिया-घटित वृतान्त को 'पुरा' माना है। शंकराचार्य एवं सायण की परिभाषा के अतिरिक्त महाभारत एवं रामायण में पुराणों का जो परिचय दिया गया है, उसमें सृष्टि-प्रक्रिया घटित वृत्तान्तों के अतिरिक्त अन्य विषयों का भी उल्लेख किया गया है। महाभारत के आदिपर्व में महर्षि शौनक ने कहा है -

पुराणे हि कथा दिव्या आदिवंशा च धीमताम्।
कथ्यन्ते ये पुरास्माभिः श्रुतपूर्व पितुस्तव॥[1]

अर्थात् पुराणों में दिव्य कथाओं एवं परम बुद्धिमान व्यक्तियों के आदिवंशों के वर्णन हैं। यही नहीं, महाभारत के आदि पर्व में उन समस्त राजाओं की नामावली है, जिनके वंश पुराणों में वर्णित हैं। इसी प्रकार रामायण के बालकाण्ड के नवें सर्ग से लेकर ग्यारहवें सर्ग तक वर्णित कथाओं को भी 'पुराण' संज्ञा दी गयी है। इन बातों पर विचार करने से पता चलता है कि वेद काल से लेकर रामायण एवं महाभारत काल तक जो पुराण प्रचलित थे, उनमें सृष्टि प्रक्रिया - घटित वृत्तान्तों, दिव्य कथाओं एवं परम बुद्धिमान, व्यक्तियों के आदिवंशों का वर्णन था। 'पुराण' के अधुना प्रचलित 'सर्गश्च प्रतिसर्गश्च' इस उपर्युक्त लक्षण से इसकी समानता है। अस्तु उपर्युक्त सर्वमान्य 'सर्गश्च-प्रतिसर्गश्च' इत्यादि लक्षण के अतिरिक्त ब्रह्मवैवर्तपुराण में महापुराण के दूसरे लक्षण भी बताये गये और उस सर्वमान्य लक्षण को उपपुराणों का लक्षण बतलाया गया -

सृष्टिश्चापि विसृष्टिश्च स्थितिस्तेपाञ्च पालनम्।
कर्मणां वासनावार्तामनूनाञ्च क्रमेण च॥

1. महाभारत आदिपर्व 5,2

वर्णनं प्रलयानांच मोक्षस्य च निरूपणम्।
उदकीर्तत हरेरेव देवानाञ्च पृथक् पृथक्।
दशाधिकं लक्षणञ्महतां परिकीर्तितम्।।[1]

इस प्रकार यदि ब्रह्मवैवर्त पुराण का मत माना जाय तो महापुराण में उपर्युक्त दस लक्षण होने चाहिए और उप पुराणों में पांच। किन्तु इससे भी अमरकोश में वर्णित में उक्त सर्वसम्मत लक्षण की ही मान्यता सिद्ध होती है, क्योंकि उपपुराणों में उक्त पांच लक्षण भी नहीं मिलते।

पुराण के अष्टादश होने का तात्पर्य :-

संस्कृत साहित्य में 18 संख्या बडी पवित्र, व्यापक और गौरवशाली मानी जाती है। महाभारत के पर्वो की संख्या 18 है, श्रीमद्भागवद्गीता के अध्यायों की संख्या 18 है तथा श्रीमद्भागवत के श्लोकों की संख्या 18 हजार है। इसी प्रकार पुराणों की संख्या सर्वसम्मति से 18 ही है। विद्वानों की मान्यता है कि यह पुराण संख्या निर्हेतुक न होकर सहेतुक है – साभिप्राय है और इस अभिप्राय को दिखलाने के लिए पण्डित प्रवर मधुसूदन ओझा ने अपने पुराण विषय ग्रन्थों में अनेक युक्तियां प्रदर्शित की हैं।

विद्वानों का आग्रह है कि पञ्लक्षण पुराण में सर्ग-सृष्टि का विषय ही प्रमुख है और इसी विषय के विकास और व्यापकता दिखलाने के लिए उसमें, इतर चार लक्षण मन्वन्तर, वंश, वंशानुचरित तथा प्रतिसर्ग भी समाविष्ट किये गये हैं। पुराणों की अष्टादश संख्या भी इस सृष्टितत्व से सम्बन्ध रखती है और यही कारण है कि सर्वत्र यह संख्या प्रमाण मानी गयी है।

क. शतपथ ब्राह्मण के अष्टमकाण्ड में सृष्टि नामक इष्टियों के उपाधान (रखने) का विधान है, वहां 17 इष्टिकाओं के रखने का कारण बतलाया गया है। कारण यही है कि तत्सम्बन्ध सृष्टि भी सत्रह प्रकार की हैं तथा उसका उदय, प्रजापति से होता है, जिससे दोनों को एक साथ मिलाने पर सृष्टि के सम्बन्ध में अष्टादश संख्या की निष्पत्ति होती है। शतपथ का कथन है कि मासों की संख्या बारह है, ऋतुओं की पांच। ये सत्रह पदार्थ एक संवत्सर से उत्पन्न होते हैं। इसी प्रकार प्रजापति से इन सत्रह सृष्टियों का विधान उपपन्न है -

तस्य द्वादश मासाः, पञ्चर्तवः, संवत्सर एव प्रतूर्तिः।[2] 'प्रतूर्तिरष्टादशः'।[3]

1. ब्रह्मवैवर्व प्र0 132, 35-36

2. शतपथ 8/4/1/13

3. यजुर्वेद 14/23

ख. वेद में सृष्टि का उदय वैदिक छन्दों में स्वीकार किया गया है। वेद के सात छन्दों में गायत्री तथा विराट् की प्रमुखता है जिनका सृष्टितत्व के साथ गहरा सम्बन्ध है। गायत्री है पृथ्वी - स्थानीया प्रकृतिरूपा (गायत्री वा इयं पृथिवी)[1] तथा विराट् है द्युस्थानीय पुरूष रूप (वैराजो वै पुरूषः - ताण्ड्य)[2]

द्यावापृथिवी इस सृष्टि के पिता-माता माने गये हैं - द्यौष्पिता पृथिवी माता। फलतः गायत्री तथा विराज् छन्द का सृष्टि-प्रक्रिया में प्रमुख होना बोधगम्य है। अब यह तो प्रख्यात ही है कि गायत्री के प्रतिपाद में आठ अक्षर होते हैं और विराज् के 10 अक्षर और इन्ही दोनों के मिलाने पर अठारह की संख्या आती है। ('अष्टाक्षरा गायत्री'[3] तथा 'दशाक्षरो विराट्[4]। फलतः छन्दः सृष्टिवाद की दृष्टि से अष्टादश की संख्या का सृष्टि-प्रतिपादक पुराणों के साथ सम्बन्ध होना नितान्त युक्तिपूर्ण है।

ग. सांख्यदर्शन की सृष्टि-प्रक्रिया पुराणों में स्वीकृत की गयी है - यह तो इतिहास पुराण का साधारण भी अध्येता भली-भांति जानता है। सांख्य में 25 तत्व स्वीकृत किये गये हैं। इन तत्वों की समीक्षा से इनके स्वरूप का परिचय मिलता है। पुरूष तथा प्रकृति तो नित्य मूल स्थानीय तत्व हैं, जिनकी सृष्टि नहीं होती। इनसे इतर तत्व हैं - महत् तत्व, अहंकार, पंचतन्मात्राएं = 7 प्रकृति-विकृति, केवल विकृति = 16 (मन को मिलाकर 11 इन्द्रियां तथा पंचमहाभूत पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश) इस योजना में तन्मात्रों से ही महाभूतों का साक्षात् सम्बन्ध है। अन्तर केवल स्वरूप का है। तन्मात्र होते हैं सूक्ष्म और महाभूत होते हैं 'स्थूल' इसके स्वरूप का वैशिष्ट्य न मानकर दोनों की एकत्र गणना की जाती है। फलतः 25 तत्वों में से इन सात तत्वों को निकाल देने पर सृज्यमान तत्वों की संख्या का 18 ही होती है। और सृष्टि प्रतिपादक पुराणों की संख्या का 18 होना इस तर्क से भी प्रमाणित माना जा सकता है।

घ. दृश्य ब्रह्माण्डों के सब पदार्थ अपने निवेश-स्थान की दृष्टि से तीन लोकों से सम्बद्ध रहते हैं - पृथ्वी, अन्तरिक्ष तथा आकाश। अब प्रत्येक पदार्थ की छः अवस्थायें हैं, जिनका निर्देश यास्क ने अपने निरूक्त में किया है - अस्ति (सत्ता), जायते (उत्पत्ति), वर्धते (वृद्धि), परिणमते (पकना), अपक्षीयते (ह्रास) तथा विनश्यति (विनाश)।

---

1. शतपथ 4/3/4/9
2. ब्राह्मण 2/7/8
3. ऐतरेय ब्राह्मण 6/20
4. तैत्तिरीय 1/1/5/3

ये छहों दशाएं त्रिलोकी के समस्त पदार्थों के साथ नित्य सम्बद्ध हैं। पुराण इन सब पदार्थों के सर्ग-प्रतिसर्ग का वर्णन करता है। फलतः उसका संख्या में अठारह होना उचित ही है।
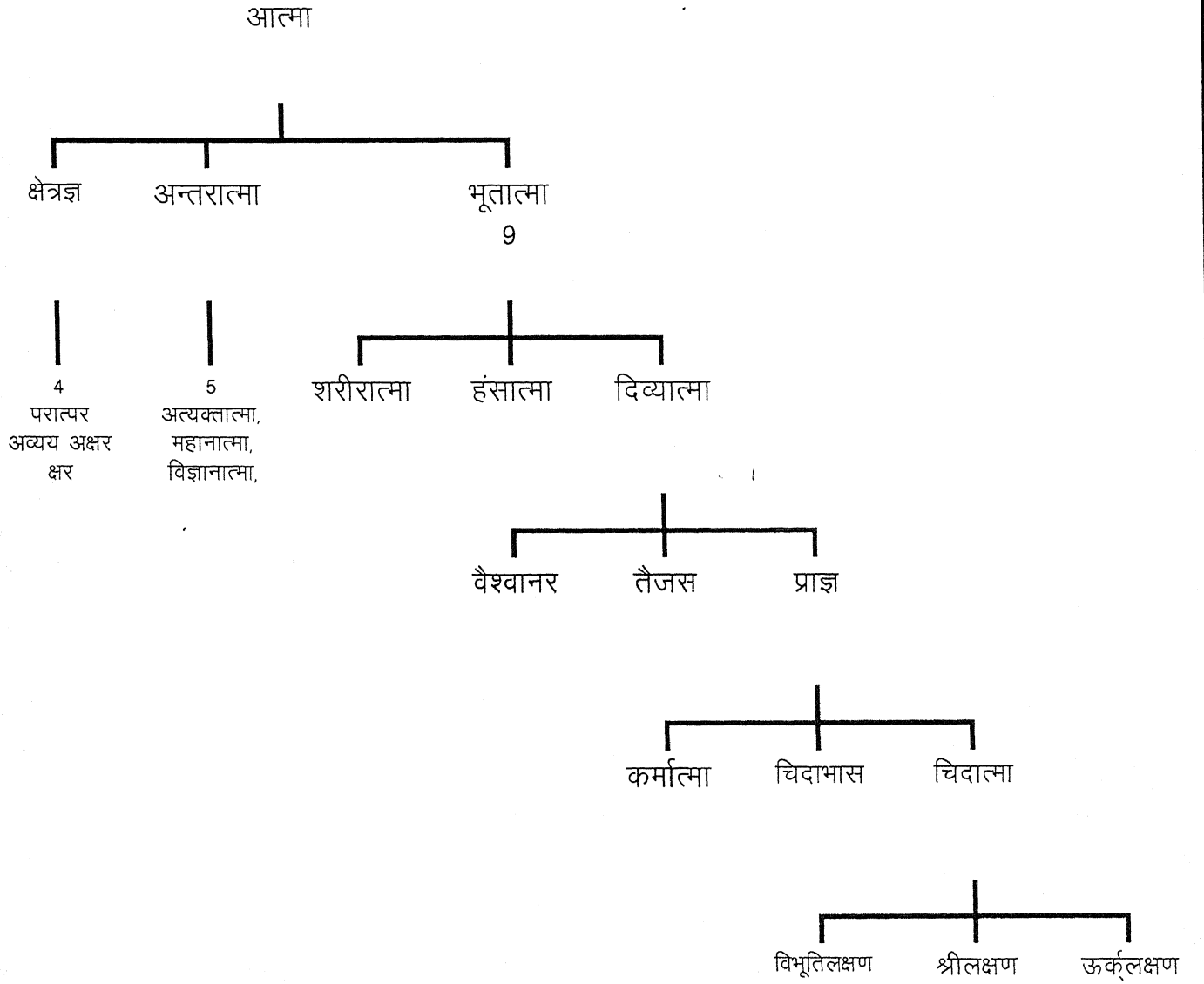
क्षेत्रज्ञ	= 4 प्रकार
अन्तरात्मा	= 5 प्रकार
भूतात्मा	= 9 प्रकार
कुल	= 18 प्रकार

ङ. पुराणों के अष्टादश होने का एक अन्य हेतु यहां उपस्थित किया जा रहा है। पुराण मुख्य रूप से पुराण – पुरूष परमात्मा का ही प्रतिपादन करता है। आत्मा स्वरूपतः एक ही है, परन्तु उपाधि तथा अवस्था की विभिन्नता के कारण वह 18 प्रकार का होता है। इन अठारह प्रकार के आत्मा का प्रतिपादन होने के कारण पुराण भी 18 प्रकार के माने गये हैं।

अब आत्मा के 18 प्रकारों से परिचय रखना आवश्यक है। विषय की स्पष्टता के लिए इन प्रकारों को ऊपर चार्ट के द्वारा दिखलाया गया है। उक्त चार्ट की व्याख्या इस प्रकार समझनी चाहिए –

मूलभूत आत्मा के तीन भेद होते हैं – 1. क्षेत्रज्ञ, 2. अन्तरात्मा, 3. दिव्यात्मा, मनुस्मृति के आधार पर इन तीनों भेदों का स्वरूप जाना जा सकता है।[1]

1. जीवात्मा के कारयिता या उत्पादक को क्षेत्रज्ञ कहते हैं। जीव को प्रेरित करने वाला विशुद्ध आत्मा ही 'क्षेत्रज्ञ' नाम से पुकारा जाता है।
2. जिसके द्वारा नाना जन्मों में सब सुख और दुःख का अनुभव किया जाता है। अर्थात् विभिन्न जन्मों में सुख और दुःख का भोग करने वाला जो जीव है वही 'अन्तरात्मा' की संज्ञा पाता है।
3. जो आत्मा सब कर्मो को करता है वह 'भूतात्मा' कहा जाता है। इनमें क्षेत्रज्ञ चार प्रकार का, अन्तरात्मा 5 प्रकार का तथा भूतात्मा नव प्रकार का होता है और इस प्रकार आत्मा के 18 भेद स्वीकार किये जाते हैं।

1. क्षेत्रज्ञ के चार प्रकार परात्पर, अव्यय, अक्षर और क्षर होते हैं। इस समस्त विश्व का अधिष्ठान, भूमा तथा साथ ही साथ विश्वातीत जो आत्मा है वही 'परात्पर' (परमात्मा) है। इस सृष्टि का जो आधारभूत आत्मा है वही अव्यय है जिसका किसी प्रकार भी व्यय या नाश नहीं होता। अक्षर आत्मा इस सृष्टि का निमित्त कारण है अर्थात् जिसक़ी प्रेरणा से सृष्टि उत्पन्न होती है वही अक्षर तत्व है। क्षर आत्मा सृष्टि का उपादान कारण होता है। घट के लिए मिट्टी के समान ही उसकी स्थिति है। संक्षेप में गीता के आधार पर हम कह सकते हैं कि समस्त भूत ही क्षर हैं, कूटस्थ अविकारी पुरूष ही

---

1. योऽस्यात्मनः कारयिता तं क्षेत्रज्ञ प्रचक्षते।
   यः करोति तु कर्माणि स भूतात्मोच्यते बुधैः।।
   जीवसंज्ञोऽन्तरात्माऽन्यः सहजः सर्वदेहिनाम्।
   येन वेदयते सर्व सुखं दुःखं च जन्मसु।। – मनु स्मृति अ0 12

अक्षर है तथा लोक त्रय को धारण करने वाला उत्तम पुरूष ही 'पुरूषोत्तम' कहलाता है। आत्मा का यह विभाजन गीता (15/16-17) के प्रख्यात पद्यों के आधार पर है।[1]

2. अन्तरात्मा के पांच अवान्तर भेद बतलाये जाते हैं - अव्यक्तात्मा, महानात्मा, विज्ञानात्मा, प्रज्ञानात्मा, प्राणात्मा। अव्यक्तात्मा वह है जिससे इस शरीर की जीवित रूप में रहने की सम्भावना होती है और उसके अभाव में यह शरीर जीवित नहीं रह सकता। महानात्मा वह है जिससे सत्व, रजस् तथा तमस् इन तीन गुणों की प्रवृत्ति होती है। वज्ञानात्मा वह है जो धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य का तथा इसके विपरीत अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य और अनैश्वर्य का प्रवर्तक होता है प्रज्ञानात्मा वह है जो ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों को अपने-अपने विषयों में प्रवृत्त करता है। प्राणात्मा वह है जिससे शरीर में सक्रियता उत्पन्न होती है। इन पञ्चविध प्रकारों का आधार स्थान हैं कठोपनिषद् के वे श्लोक जिनमें अव्यक्त, महान्, बुद्धि, मन तथा इन्द्रियों का निर्देश किया गया है और एक को दूसरे से बडा बतलाकर अव्यक्त से पुरूष या परात्पर की श्रेष्ठता मानी गयी है।[2]

3. भूतात्मा के प्रथमतः तीन भेद होते हैं - शरीरात्मा, हंसात्मा तथा दिव्यात्मा। मनुष्य, पशु आदि भूतों का यह प्राण सम्पन्न शरीर ही शरीरात्मा कहलाता है। पृथ्वी और चन्द्रमा के बीच विचरण करने वाला वायु ही हंसात्मा है। यह नामकरण वेद के आधार पर है जो कहता है कि यह एक हंस कभी सोता नहीं, सर्वदा ही जागता रहता है और सोये हुए शरीरात्मा की रक्षा किया करता है।[2] दिव्यात्मा का तात्पर्य

---

1. इन्द्रियाणि पराण्वाहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिः बुद्धेरात्मा महान् परः।।
महतः परमव्यक्तम् अव्यक्तात् पुरूषः परः।
पुरूषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गतिः।।

2. पनेव शारीरमभिप्रहृत्यासुप्तः सुप्तानभी चाकशीति।
शुक्रमादाय पुनरेति स्थानं हिरण्मयः पौरूष एकहंसः।।
प्राणेन रक्षन्नवरं कुलायं बहिः कुलायादमृतश्चरित्वा।
स ईयते अमृतो यत्र कामं हिरण्यमयः पौरूष एकहंसः।।

मनुष्य, पशु तथा निर्जीव पदार्थ (पाषाण आदि) से है। इसीलिए इसके भी प्रथमतः तीन भेद है – वैश्वानर, तैजस और प्राज्ञ। पत्थर आदि निर्जीव पदार्थ 'वैश्वानर' के अन्तर्गत, अन्तः संज्ञा वाले प्राणी (वृक्ष आदि) तैजस के अन्तर्गत तथा व्यक्त संज्ञा वाले मानव प्राणी, जिनमें बुद्धि का विकाश होता है, प्राज्ञ के अन्तर्गत माने जाते हैं।

इन तीनों में 'प्राज्ञ' ही सबसे अधिक चैतन्य तथा बुद्धि से सम्पन्न होता है। इसके तीन विभाग माने जाते हैं – कर्मात्मा, चिदाभास और चिदात्मा। कर्मात्मा का सम्बन्ध कर्म से है। कर्म की महिमा शर्वातिशायिनी है। कर्म के बिना कोई भी जीवित नहीं रह सकता।

प्राणी को कर्म करना ही पडेगा। गीता का सुस्पष्ट कथन है – न हि कश्चित् क्षणमपि जातु, तिष्ठत्यकर्मकृत्। श्रुति भी कर्म की महिमा के प्रसंग में कहती है कि कर्म के बिना प्राण अपूर्ण ही रहते हैं और इसीलिए कर्माग्नि की सृष्टि हुई – "अकृत्स्ना उ वै प्राणाः ऋते कर्मणः। तस्मात् कर्माग्नि मसृजत् (शतपथ)"। परन्तु कर्म होता है शीघ्र विनाशशाली वह नष्ट भले ही हो, परन्तु वह अपना संस्कार छोड जाता है। ये ही संस्कार जिसमें समवेत होकर एकत्र निवास करते हैं वही है कर्मात्मा अर्थात् जीव।

चिदाभास का अर्थ है चैतन्य का आभास अर्थात् ईश्वर चैतन्य का वह अंश जों मनुष्य के शरीर में प्रविष्ट होकर हृदयस्थित होता है। वही है चिदाभास जो प्रति शरीर में भिन्न-भिन्न होता है। इस विभाजन की अन्तिम कडी है – चिदात्मा ईश्वर का वह भाग, जो समस्त विश्व में व्याप्त होता है और साथ ही साथ शरीर में भी व्याप्त रहता है, परन्तु व्यारित स्थानों के धर्मो से संपृक्त नहीं होता, चिदात्मा उसी का नाम है। इसे ही साधारण भाषा में ईश्वर, परपुरूष आदि नामों से व्यवहृत करते हैं। इसके तीन भेद होते हैं जो गीता के अनुसार (अध्याय 10, श्लोक 41)[1]

विभूतिलक्षण, श्रीलक्षण और ऊर्क्लक्षण माने जाते हैं। गीता के इस श्लोक में ईश्वर को तीन पदार्थो से सम्पन्न होने की बात कही गयी है – विभूति, श्री तथा ऊर्ज् और इसी कारण यहां त्रैविध्य स्वीकृत है।

संक्षेप में कह सकते हैं कि क्षेत्रज्ञ के चार प्रकार अन्तरात्मा के पांच प्रकार

---

1. यद् यद् विभूतिमत् सत्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।।
   तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्।।

   – गीता 10/41

तथा भूतात्मा के नव प्रकार - इन सबों की सम्मिलित संख्या 18 होती है। अतः पुराण-पुरूष के इन 18 प्रकारों को वर्णन करने के हेतु पुराणों में अष्टादश संख्या का समवेत होना युक्ति तथा तर्क से संवलित है।

२. उप पुराणों की संख्या :-

पुराणों की तरह उप पुराण और औपपुराण भी संख्या में अष्टादश ही हैं। यथा

उपपुराण -

1. सनत्कुमार कृत आदि पुराण
2. नरसिंह पुराण
3. कुमार कृत स्कन्द पुराण
4. शिवधर्म पुराण
5. दुर्वासः पुराण
6. नारद पुराण
7. कपिल पुराण
8. वामन पुराण
9. औशनस पुराण
10. ब्रह्माण्ड पुराण
11. कालिका पुराण
12. वरूण पुराण
13. माहेश्वर पुराण
14. साम्ब पुराण
15. सौर पुराण
16. पाराशर पुराण
17. मारीच पुराण
18. भास्कर पुराण हैं।

औप पुराण -

1. सनत्कुमार पुराण
2. बृहन्नारदीय पुराण
3. आदित्य पुराण
4. सूर्य पुराण
5. नन्दिकेश्वर पुराण
6. कौर्म पुराण
7. भागवत पुराण
8. वसिष्ठ पुराण
9. भार्गव पुराण
10. मुद्गल पुराण
11. कल्कि पुराण
12. देवी पुराण
13. महाभागवत पुराण
14. बृहद्धर्म पुराण
15. परानन्द पुराण
16. वह्नि पुराण
17. पशुपति पुराण और
18. हरिवंश पुराण हैं।

इन उपपुराणों और औपपुराणों की रचना पुराणों के आधार पर ही हुई है। प्राचीन काल के विभिन्न विद्वानों ने 18 महापुराण की छाया लेकर ही इनकी रचना की है। विस्तार के भय से इनमें कहीं - कहीं तो कथाओं में नावीन्य लाने के लिए परिवर्तन भी कर दिया गया है। इतना अन्तर होने पर भी इनका मूल अष्टादश पुराण

ही है। श्रीमद्भागवत के यशस्वी टीकाकार श्रीधर स्वामी के प्रधान शिष्य नीलकण्ठ ने देवी भागवत की टीका में इस विषय का स्पष्ट संकेत किया है -

अष्टादशभ्यस्तु पृथक् पुराणं यत्प्रदृश्यते।
विजानीध्वं द्विजश्रेष्ठास्तथा तेभ्यो विनिर्गतम्।।

पुराणों के विभाजन - मत्स्य पुराण (53/67-68) के अनुसार पुराणों का त्रिविध विभाजन मान्य है - सात्विक, राजस्, तामस। सात्विक पुराणों में विष्णु का माहात्म्य अधिक रूप से वर्णित है, राजस् पुराणों में ब्रह्मा का तथा अग्नि का माहात्म्य अधिकांश वर्णित है। तामस पुराणों में शिव का।[1]

इन तीनों से भिन्न एक संकीर्ण भेद भी है जिसमें सरस्वती तथा पितृगणों का माहात्म्य अधिकतर वर्तमान है। पद्म पुराण में सात्विक पुराणों की गणना भी निर्दिष्ट है - वैष्णव, नारद, भागवत, गरूड, पद्म तथा वाराह। परन्तु ध्यान देने की बात है कि इस विभाजन में अन्य पुराणों के साथ ऐकमत्य नही है, आश्चर्य तो तब होता है जब निश्चयरूपेण शिवभक्ति के प्रतिपादक वायु पुराण को गरूडपुराण सात्विक पुराणों के अन्तर्गत रखता है। फलतः इस विभाजन में वैज्ञानिकता की आशा करना दुराशामात्र है। गरूड पुराण[2] एक पग आगे बढकर सात्विक पुराणों के भीतर तीन प्रकार का विभाग मानता है -

क. **सत्त्वाधम** = मत्स्य तथा कूर्म

ख. **सात्विक मध्यम** = वायु

ग. **सात्विक उत्तम** = विष्णु, भागवत तथा गरूड। देवता के प्राधान्य से पुराणों का विभाजन विद्वानों ने किया है। गरूड पुराण के पूर्वोक्त कथन में कूर्म भी सात्विक अर्थात् विष्णुमाहात्म्य प्रतिपादक पुराणों के अन्तर्गत स्वीकार किया गया है, परन्तु इसके प्रकाशित अंश (ब्राह्मी-संहिता) में शिव-शिवा के माहात्म्य का ही पूर्णतः प्रकाशन है महेश्वर ही परम तत्व माने गये हैं। शक्ति का भी यहां विशिष्ट वर्णन है। श्रीकृष्ण भी शिव की स्तुति करते हुए दिखलाये गये हैं।

---

1. सात्विकेषु पुराणेषु माहात्म्यमधिकं हरेः।
   राजसेषु च माहात्म्यमधिकं ब्रह्मणो विदुः।।67।।
   तद्‌दग्नेश्चमाहात्म्यं तामसेषु शिवस्य च।
   सङ्कीर्णेषु सरस्वत्याः पितृणां च निगद्यते।।68।। - मस्त्य अ0 53
2. सन्त्वाधमे मात्स्यकौर्म तदाहुवार्यं चाहुः सात्विकं मध्यमं च।
   विष्णोः पुराणं भागवतं पुराणं सत्वोत्तमे गारूडं प्राहुरार्याः।। - गरूड पुराण

स्कन्दपुराण के केदारखण्ड के अनुसार दश पुराणों में शिव, चार में भगवान् ब्रह्मा, दो में देवी और दो में हरि - इस प्रकार विभाजन किया गया है। परन्तु तत् तत् पुराणों के नाम - निर्देश न होने से इस विभाजन की वैज्ञानिकता मापी नहीं जा सकती। इसी पुराण के 'शिवरहस्य' नामक खण्ड के अन्तर्गत सम्भवकाण्ड में (2/30/38) एक दूसरा विभाजन किया गया है। जो इस प्रकार है -

1.	**शैव**	=	शिव विषयक शिव, भविष्य, मार्कण्डेय, लिङ्ग, वाराह स्कन्द, मत्स्य, कूर्म, वामन तथा ब्रह्माण्ड	(10)।
2.	**वैष्णव**	=	विष्णु विषयक विष्णु, भागवत, नारदीय तथा गरूड	(4)।
3.	**ब्राह्म**	=	ब्रह्मा विषयक ब्रह्म तथा पद्म	(2)।
4.	**आग्नेय**	=	अग्नि विषयक अग्नि पुराण	(1)।
5.	**सावित्र**	=	सूर्य विषयक ब्रह्मवैवर्त	(1)।
			कुल =	18

स्कन्द पुराण के अनुसार प्रतिपाद्य देवानुसारी यह विभाजन वैज्ञानिकरीत्या शोभन नहीं माना जा सकता, क्योंकि 'पद्म पुराण' तो निश्चयेन भगवान् विष्णु की महिमा का सविशेषभावेन प्रतिपादक है। इसीलिए गौडीय वैष्णवों के सिद्धान्तों का विकास, विशेषतः राधा का, इसी पुराण के आधार पर है। यह विभाजन सामान्य रीत्या ही मान्य है।

स्कन्दपुराण का विभाजन दो प्रकार से उपलब्ध होता है -

क.	**खण्डात्मक विभाजन**	ख.	**संहितात्मक विभाजन**
1.	माहेश्वर खण्ड	1.	सनत्कुमार संहिता =55हजार श्लोक
2.	वैष्णवी खण्ड	2.	सूत संहिता =6 हजार श्लोक
3.	ब्रह्म खण्ड	3.	शाङ्करी संहिता=30 हजार श्लोक
4.	काशी खण्ड	4.	वैष्णवी संहिता =5 हजार श्लोक
5.	अवन्ती खण्ड	5.	ब्राह्मी संहिता =3 हजार श्लोक
6.	नागर खण्ड	6.	सौरी संहिता =1 हजार श्लोक

7. प्रभास खण्ड कुल = 1 लक्ष[1] श्लोक

पुराण का वर्गीकरण : -

अष्टादश पुराणों के वर्गीकरण अनेक प्रकार से किये गये हैं। भिन्न पुराणों ने इस विषय में विभिन्न दृष्टियां अपनायी हैं। पुराण के पञ्चलक्षण को आधार मानकर प्राचीन और प्राचीनोत्तर - ये दो विभाग किये जा सकते हैं। इस कसौटी के अनुसार वायु, ब्रह्माण्ड, मत्स्य और विष्णु प्राचीन पुराण मालूम पडते हैं, क्योंकि इन चारों में पुराण के पांचों विषय उचित परिमाण में वर्णित हैं। इससे भिन्न पुराणों को प्राचीनोत्तर वर्ग में अन्तर्भुक्त समझना चाहिए। देवता के विचार से पुराणों का अन्य वर्गीकरण है। पद्म पुराण के अनुसार मत्स्य, कूर्म, लिंग, शिव, स्कन्द, अग्नि - ये छः पुराण तामस हैं। ब्रह्माण्ड, ब्रह्मवैवर्त, मार्कण्डेय, भविष्य, वामन और ब्राह्म - ये छः राजस पुराण हैं तथा विष्णु, नारद, भागवत, गरूड, पद्म् और बाराह - ये छः सात्विक पुराण माने गये हैं। यह वर्गीकरण विष्णु को सात्विक देव मानकर किया गया है। यहां तामस, राजस तथा सात्विक पुराणों की समान संख्या निर्धारित हैं।[2] मत्स्य पुराण

सात्विकेषु पुराणेषु माहात्म्यमधिकं हरेः,
राजसेषु च माहात्म्यमधिकं ब्रह्मणो विदुः।
तदूदग्नेश्च माहात्म्यं तामसेषु शिवस्य च,
संकीर्णेषु सरस्वत्याः पितृणां च निगद्यते।।

- मत्स्य 53 अ0, 68 - 69 श्लोक

---

1. मात्स्यं कौर्म तथा लैङ्गं शैवं स्कान्दं तथैव च।
आग्नेयं च षडेतानि तामसानि निबोध मे।।
वैष्णवं नारदीयं च तथा भागवतं शुभम्।
गारूडं च तथा पाद्मं बाराहं शुभदर्शने।।
सात्विकानि पुराणानि विज्ञेयानि शुभानि वै।।
ब्राह्माण्डं ब्रह्मवैवर्त मार्कण्डेयं तथैव च।
भविष्यं वामनं ब्राह्मं राजसानि निबोध मे।।

- पद्मपुराण, उत्तरखण्ड 163/81-84

2. यह नाम संहिताओं तथा उनकी श्लोक संख्या सूतसंहिता (1 अ0 श्लोक 19-24) के आधार पर है जो आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावली (ग्रन्थाङ्क 25) में प्रकाशित है (1924 ई0)।

इससे कुछ विभिन्न बात बतलाया है। उसकी दृष्टि में विष्णु के वर्णनापरक पुराण सात्विक, ब्रह्मा और अग्नि के प्रतिपादक पुराण राजस, शिव के प्रतिपादक तामस, सरस्वती और पितरों के माहात्म्य का वर्णन करने वाले पुराण संकीर्ण माने गये हैं।

३. पुराणों की संक्षिप्त विषय सामग्री :-

पुण्य वर्ष भारत में सुदूर प्राचीन काल से ही वेदों और पुराणों की समान मान्यता जनमानस से सुप्रतिष्ठित है। मिथिला के प्राक्कालिक सर्वश्रेष्ठ विद्वान् महर्षि याज्ञवल्क्य की स्मृति तथा उसकी मिताक्षरा टीका की सर्वाधिक मान्यता प्राचीन काल से अभी तक सभी न्यायालयों में प्रचलित है। प्रमाण के लिए वह सर्वप्रथम पुराणों का ही उल्लेख करती है। पुराणादि की सहायता से ही वेद-विद्या और धर्म का स्थान निश्चित होता है -

पुराणन्यायमीमांसाधर्मशास्त्राङ्गमिश्रिताः।
वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश।।[1]

वेद के परम प्रामाण्य होने पर भी उसके सभी अंश प्राप्त नहीं हैं। भगवान् पतंजलि ने अपने महाभाष्य ग्रन्थ के प्रथम आह्निक में लिखा है कि 'सहस्रवर्त्मा सामवेदः' - अर्थात् सामवेद की एक हजार शाखाएं हैं। आज सामवेद की मात्र तीन शाखाएं मिल रहीं हैं। यही दशा अन्य वेदों की भी हैं। मत्स्य पुराण के 144 वें अध्याय से भी द्वापरान्त के बाद वेदों की दुर्दशा का विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है। इसके अनुसार प्राप्त अंशों का अर्थ भी सहज ज्ञानगम्य नहीं है। अतः वेद के अर्थो के निर्णय के लिए पुराण और इतिहास ही साधन है, जो वेदांश विदित नहीं है, वे भी पुराण के आधार पर ही दृष्ट और अनुमेय हो सकते हैं, अतः पुराण ही वेद के प्रामाण्य का सुगम साधन है। इसीलिए महाभारत में कहा गया है कि इतिहास और पुराणों के आधार पर वेद का अर्थ स्पष्ट समझना चाहिए -

इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्।
विभेत्यल्पश्रुताद्वेदो मामयं प्रहरेदिति।।[2]

उपर्युक्त श्लोक से प्रतीत होता है कि वेदों के साथ ही पुराणों का अस्तित्व रहा है, 'पुरा अनतीति पुराणम्' - इस व्युत्पत्ति के अनुसार भी पुराणों का अस्तित्व बहुत

---

1. याज्ञवल्क्य 1,2
2. याज्ञवल्क्य 1,2

प्राचीन मालूम पडता है क्योंकि पुरा का अर्थ है पहले और अन का अर्थ है श्वास लेना, अर्थात् जिसका अस्तित्व बहुत पहले था। अथर्ववेद में पुराणों के उल्लेख इस प्रकार मिलते हैं -

तमितिहासश्च पुराणं च गाथाश्च नाराशंसीश्चानुत्यचलन्।[1]
ऋचः सामानि छन्दांसि पुराणं यजुषा सह।
उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा विविश्रिताः।।[2]

स्कन्दपुराण के प्रभासखण्ड में उल्लिखित है कि पूर्वकाल में देव - पितामह ब्रह्मा ने उग्र तपस्या की। उसके फलस्वरूप षडङ्ग पदक्रम के साथ वेद का आविर्भाव हुआ। अनन्तर ब्रह्मा के मुख से नित्य शब्दमय, शतकोटिश्लोकनिबद्ध, सुविस्तृत, पवित्र, सर्वशास्त्रमय, परमार्थ तत्व के प्रतिपादक ब्रह्म, पद्म, विष्णु, वायु, भागवत, नारदीय, मार्कण्डेय, अग्नि, भविष्य, ब्रह्मवैवर्त, लिंग, वराह, स्कन्द, वामन, कूर्म, मत्स्य, गरुड और ब्रह्माण्ड - इन अठारह पुराणों का आविर्भाव हुआ -

पुरा तपश्चचारोग्रममराणां पितामहः।
आविर्भूतास्ततो वेदाः सषडङ्गपदक्रमाः।।
ततः पुराणमखिलं सर्वशास्त्रमयं ध्रुवम्।
नित्यं शब्दमयं पुण्यं शतकोटिप्रविस्तरम्।।[3]

ऐसे ही श्रीमद्भागवत के वेदोत्पत्ति - प्रकरण में कहा गया है कि ब्रह्मा के पूर्व आदि मुखों से यथाक्रम से ऋक्, यजुः, साम और अथर्व आविर्भूत हुए एवं इतिहास - पुराणात्मक पञ्चम वेद का सभी मुखों से आविर्भाव हुआ -

इतिहासपुराणानि पञ्चम् वेदमीश्वरः।
सर्वेभ्य एव वक्त्रेभ्यः ससृजे सर्व दर्शनः।।[4]

यही कारण है कि 'पुराणं पञ्चमो वेदः' साङ्गवेद की कौथुमीय शाखा और तवलकार शाखा की छान्दोग्य उपनिषद् में स्पष्ट शब्दों में पुराणों को पञ्चम वेद के रूप में निर्दिष्ट किया गया है - 'ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं चतुर्थमतिहासं पुराणं पञ्चम् वेदानां वेदम्' (छा० 7, 1, 2)

---

1. अथर्ववेद 15/7/11
2. अथर्ववेद 15/7/24
3. स्कन्द पुराण 7/2/27-28
4. श्रीमद्भागवत् 3/12/39

इससे स्पष्ट है कि चार वेदों में पुराण के अन्तर्भाव का प्रश्न भी नहीं उठता। वेदाध्ययन के अनूठे, सामान्यजनो के अध्ययन योग्य महर्षि व्यासकृत पुराण और इतिहास है। व्यास ने ही वेद-विभाजन और इतिहास-पुराण की रचना साधारणजन के कल्याण की भावना से की है।

पुराण के पञ्चम वेद के रूप में मान्यता के लिए वायु एवं विष्णु आदि पुराणों में भी प्रमाण उपलब्ध होते हैं। वहां वेदों का व्यसन (विस्तार) करने से ही पुराणकर्ता को 'व्यास' संज्ञा दी गयी है -

'व्यस्यति वेदान् इति व्यासः।'[1]

आख्यान, उपाख्यान तथा पुरावृत्त आदि से संबलित पंचलक्षणात्मक पुराणों का एवं महाभारत आदि संहिताओं का प्रणयन व्यास ने किया। वेदों का मुख्य लक्ष्य यज्ञ - सम्पादन है। यजुर्वेद की प्रधानता यज्ञ - सम्पादन में ही है। सुविधा के लिए फिर उसके चार भेद किये गये, यह बात सूत ने कही है-

आख्यानैश्चाप्युपाख्यानैर्गाथाभिर्द्विजसत्तमाः।
पुराणसंहिताश्चक्रे पुराणार्थविशारदः।।
इतिहास पुराणानां वक्तारं सम्यगेव हि।
मां चैव प्रतिजग्राह भगवानीश्वरः प्रभुः।।
एक आसीद् यजुर्वेदस्तं चतुर्धा व्यकल्पयत्।
चातुर्होत्रमभूत, तस्मिन्स्तेन यज्ञमकल्पयत्।।
आध्वर्यवं यजुर्भिस्तु होत्रमृत्विग्भिरेव च।
उद्गात्रं सामभिश्चैव ब्रहमत्वं चाथर्वणेन तु।।[2]

मत्स्य पुराण मे भगवान ने भी कहा है कि द्विजवर! कालधर्म के अनुसार मनुष्य सभी पुराणों को ग्रहण करने में समर्थ नहीं है अतः प्रत्येक युग में मैं व्यास रूप में अवतीर्ण होकर पूर्वसिद्ध शतकोटि संख्यक पुराण - राशि को मनुष्य के संग्रह की दृष्टि से संक्षिप्त करता हूं। पुराण को शत कोटि प्रविस्तर, पद्मपुराण में भी कहा है -

कालेनाग्रहणं मत्वा पुराणस्य द्विजोत्तमाः।
व्यासरूपमहं कृत्वा संहरामि युगे - युगे।।[3]

---

1. विष्णु पुराण 3/4/4
2. वायु पुराण 60/16-19
3. मत्स्य पुराण 11/8

पुराणं सर्वशास्त्राणां प्रथमं ब्रह्मणा स्मृतम्।
त्रिवर्ग साधनं पुण्यं शतकोटिप्रविस्तरम्।।[1]

फिर मत्स्य पुराण में कहा है – प्रत्येक द्वापर युग में चार लाख श्लोकों में संक्षिप्त एक पुराण को अठारह भागों में विभक्त करके मर्त्यलोक में प्रचारित किया। आज भी देवलोक में पुराण शतकोटि के रूप में विद्यमान हैं। उसी का संक्षिप्त रूप मर्त्यलोक में अष्टादश पुराण है। इस प्रकार यजुर्वेद का अवशिष्ट अंश ही पुराण है–

चतुर्लक्षप्रमाणेन द्वापरे द्वापरे सदा।
तदष्टादशधा कृत्वा भूर्लोकेऽस्मिन् प्रभाष्यते।।
अद्यापि स्वर्गलोके तु शतकोटि प्रविस्तरम्।
तदर्थोऽस्य चतुर्लक्षः संक्षेपेण निरूपितः।।[2]

शिवपुराण की वायवीय संहिता में भी इस विषय को कहा गया है –

संक्षिप्तचतुरो वेदांश्चतुर्धा व्यभजत् प्रभुः।
व्यस्ता वेदा यतस्तेन वेदव्यास इति स्मृतः।।
पुराणमीप संक्षिप्तं चतुर्लक्षप्रमाणतः।
अधाप्यमर्त्यलोके तु शतकोटिप्रविस्तरम्।।[3]

विष्णु पुराण में स्पष्ट उल्लेख मिलता है कि वेद पुराणों में प्रतिष्ठित है – 'वेदाः प्रतिष्ठिताः सर्वे पुराणे नात्र संशयः।' वेद के दुरूह अंश की व्याख्या के कारण पुराण का वैशिष्ट्य सर्वथा मान्य है।

नारदीय पुराण में पुराण को वेद से भी बढ–चढकर बताया गया है। वहां शंकर ने पार्वती से कहा कि वेदों में ग्रहसंचार, तिथि निर्णय आदि स्पष्ट नहीं है, वे स्मृतियों में भी नहीं हैं, पर पुराणों ने इसका निर्णय किया है, अतः हे सुमुखि! मैं वेदार्थ से पुराणों के अर्थ को अधिक मानता हूं – **'वेदार्थमधिकं मन्ये पुराणार्थं वरानने'** (2, 20, 5) क्योंकि वेदार्थ पुराण में ही प्रतिष्ठित है इसमें सन्देह नहीं।

पद्म पुराण के सृष्टिखण्ड के अध्याय 104 में तो यहां तक कहा गया है कि सर्वप्रथम ब्रह्मा के मुख से पुराणों का ही स्मरण किया गया, पश्चात्

---

1. पद्म पुराण सृष्टि खण्ड – 1/53
2. मत्स्य पुराण 53/9–10
3. शिव पुराण 2/1/16–17

उनके मुख से वेद - मन्त्र निकले -

पुराणं सर्वशास्त्राणां प्रथमं ब्रह्मणा स्मृतम्।
अनन्तरं च वक्त्रेभ्यो वेदास्तस्य विनिर्गताः।।

इस प्रकार पुराण का प्रामाण्य वेद के समान सुनिश्चित है। ऐसी स्थिति में भारत में जो सृष्टि प्रमेय लोग वेदों को तो मानते हैं, किन्तु पुराणों को नहीं, वे अपने आपको धोखा देते हैं। उनके लिए उदयनाचार्य के शब्दों में - **'काले कारुणिक त्वयैव कृपया ते भावनीया नराः'** - यही हम कह सकते हैं।

पुराणों में भारतीय संस्कृति के ज्ञान का अक्षय भण्डार तो भरा ही है। इस ज्ञान की प्राप्ति के लिए पुराणों का विशेष महत्व माना गया है, इसके अतिरिक्त पुराणों का धार्मिक महत्व भी है।

पुराण सुनने वालों की विपत्तियों का दूर होना, उनके लिए स्वर्ग में स्थान पाना, उनकी कामनाओं का पूरा होना, पापों से छुटकारा पाना आदि सम्भव होता है। पुराणों की बहुविध उपयोगिता का सांगोपांग वर्णन महापुराण (1, 204 - 207) में इस प्रकार मिलता है[1] -

पुराणमृषिभिः प्रोक्तं प्रमाणं सून्तमाञ्जसम्।
ततः श्रद्धेयमध्येयं ध्येयं श्रेयोऽर्थिनामिदम्।।
इदं पुण्यमिदं पूतमिदं मङ्गलमुक्तमम्।
इदमायुष्मग्र्यं च यशस्यं स्वर्गमेव च।।
इदमर्चयतां शान्तिस्तुष्टिः पुष्टिश्च पृच्छताम्।
पठतां क्षेममारोग्यं शृण्वतां कर्म निर्जरा।।
इतो दुः स्वप्ननिर्णाशः सुस्वप्नस्फातिरेव च।
इलेऽभीष्ट फलव्यक्ति निमित्तमभि पश्यताम्।।

- ब्रह्मवैवर्तपुराणम् उत्तरभागः (श्रीकृष्ण जन्मखण्ड) के प्रस्तावना से अवतरित।

1. महापुराण 1/204-207

४. पुराणों का कर्त्ता-काल

पुराणों का देश और काल :-

पुराणों का निर्माण किस स्थल पर हुआ और कब हुआ? यह समस्या पौराणिक वैदुषी के लिए एक जीती जागती चुनौती है। साम्प्रदायिक मान्यता तो यह है कि महर्षि वेदव्यास ने प्राची सरस्वती के तीरस्थ अपने आश्रम में बैठकर ध्यानस्थ होकर समग्र पुराणों का प्रणयन किया। फलतः पुराणों के देश में ऐक्य के समान उनके काल में भी ऐक्य है। परन्तु ऐतिहासिक पद्धति के विद्वानों को यह सिद्धान्त कथमपि रूचिकर नहीं है। पुराणों ने इदमित्थं रूप से अपने निर्माण क्षेत्र या प्रणयन स्थल का निःसंदिग्ध रूप से निर्देश नहीं किया है, केवल विशिष्ट भौगोलिक क्षेत्र पर विभिन्न पुराणों की आस्था है, उसे ही भारत वर्ष में प्रकृष्ट क्षेत्र या तीर्थ मानते हैं। इस प्रकार की आस्था गाढ़ परिचयमूलक ही हो सकती है। पुराण का वह रचयिता उस तीर्थ विशेष या प्रान्त विशेष से विशेष परिचय रखता है और इसीलिए उस स्थान पर इतना आग्रह दिखलाता है तथा इनकी श्रद्धा प्रदर्शित करता है। इसी पद्धति से पुराण के देश का कुछ संकेत किया जा सकता है। नितान्त निर्णय एकदम असम्भव नहीं तो भी दुःख सम्भव अवश्य है। इसी प्रकार की सूचनाएँ एकत्र कर पुराण के देश का यहाँ निर्देश एक विषम पहेली है।

काल का भी निर्णय एक विषम पहेली है। पुराणों की रचना का काल निर्णय विषम समस्या है, जिसका समाधान नितान्त कठिन है। इसका कारण अवान्तर शताब्दियों में पुराणों का संस्कार तथा प्रति संस्कार माना जाना चाहिए। मूलभूत पुराणों में कालान्तर में यत्र-तत्र स्फुट श्लोक ही नहीं जोड़े गये, प्रत्युत अध्याय का अध्याय जोड़ा गया है। अनेंक पुराणों में प्रतिसंस्कार की मात्रा ने मूल स्वरूप को सर्वात्मना आच्छादित कर लिया है। उनके मूल रूप को खोज निकालना बहुत अधिक गम्भीर अनुशीलन चाहता है। किन्हीं पुराणों में मूल रूप की आविष्कृति सम्भावना से परे की बात हो गयी है। ऐसी स्थिति में पुराणों के मूल स्वरूप का समय निर्धारण नितान्त असम्भव नहीं तो दुःसम्भव अवश्य है। सच तो यह है कि पुराणों के अध्यायों का नहीं, प्रत्युत उनमें निर्दिष्ट श्लोकों के भी अलग-अलग समय का निरूपण किया जाना चाहिए। अतएव पुराणों के आविर्भाव काल के विषय में इदमित्थं रूप से कहना कठिन है। केवल तारतम्य परीक्षा के द्वारा दो पुराणों के बीच में किसी को इतर पुराणापेक्षया अर्वाचीन अथवा प्राचीन माना जा सकता है।

वस्तुस्थिति ऐसी ही है। तथापि कतिपय सिद्धान्तों का संक्षिप्त निर्देश यहाँ किया जा रहा है, जो इस विवाद-विषय का कथञ्चित् समाधान प्रस्तुत कर सकते हैं।

काल निर्णय के कतिपय नियामक साधन :-

(क) आवृत्त अंश वाले पुराण अनावृत्त अंश वाले पुराणों की अपेक्षा नूनं प्राचीनतर है। इस तथ्य का कारण भी अनिर्देश्य नहीं है। पहले दिखलाया गया है कि पुराण संहिता का मूल परिमाण के बल चार सहस्र श्लोक ही हैं। इसका विकास कालान्तर में अष्टादश पुराणों के रूप में सम्पन्न हुआ। फलतः कुल प्राचीनतम् सामाग्री (श्लोकात्मक ही नहीं, अपितु अध्यायात्मक भी) कई पुराणों में आवृत्त होती गयी है। इसके विपरीत अनेक पुराण किसी सम्प्रदाय की मान्यता को अग्रसर करने के उद्देश्य से निर्मित हुए हैं। फलतः ये अभिनव रचनायें हैं, जिनका क्षेत्र नितान्त सीमित है। इसलिए उनके श्लोक अथवा अध्याय कहीं भी आवृत्त नहीं हुए। इस कसौटी पर कसने से विष्णु-पुराण श्रीमद्भागवत की अपेक्षा प्राचीनतर सिद्ध होता है। विष्णु पुराण के अनेक अध्याय का तदंश मार्कण्डेय पुराण में तथा हरिवंश में एकाकार हैं। प्राकृत-वैकृत नव सर्गों के वर्णन वाले श्लोक दोनों में एक ही हैं।

विष्णु पुराण प्रथम अंश से आरम्भ कर 26 श्लोक तक का अंश मार्कण्डेय अ0 47 के श्लोक 14 से 37 तक एक ही है। इसी प्रकार विष्णु के इसी अध्याय के 28 श्लोक से आरम्भ कर अध्यायान्त भाग मार्कण्डेय का 48वाँ अध्याय है, जिसमें देवादि स्थावरान्त सृष्टि का विवरण है। इसके विपरीत, श्रीमद्भागवत का कोई भी विशिष्ट अंश किसी भी पुराण में आवृत्त नहीं हुआ है। इसका छोटा अपवाद अवश्य है। श्रीमद्भागवत के प्रथम स्कन्ध तृतीय अध्याय के 21 श्लोक (6-26 तक) गरुड के पूर्वार्द्ध के प्रथम अध्याय में आवृत्त या उद्धृत हैं। (गरुड़ 1/14-1/34) यह अंश विष्णु के अवतारों का क्रमशः वर्णन करता है। परन्तु इससे हमारे मूल सिद्धान्त का विपर्यास नहीं होता कि विष्णु पुराण की अपेक्षा श्रीमद्भागवत अर्वाचीन है। इस तथ्य का पोषक एक अन्य प्रमाण भी अनुसन्धेय है। श्रीमद्भागवत वैष्णव सम्प्रदायों के अन्तर्गत भागवत सम्प्रदाय का अपना विशिष्ट पुराण हैं, जिसमें तत्सम्प्रदाय के मान्य तथ्य बड़ी मार्मिकता से उद्घाटित किये गये हैं। विष्णु पुराण किसी भी सम्प्रदाय के अन्तर्भुक्त न होकर सामान्यतः विष्णु-महात्म्य का प्रतिपादक एक महत्वपूर्ण पुराण है, इसीलिए मध्य युगीन समग्र वैष्णव सम्प्रदायों का यह उपजीव्य ग्रन्थ रहा है। जिस प्रकार श्री वैष्णव तथा माध्वों ने इससे स्वकीय अनेक सिद्धान्तों का ग्रहण तथा संपोषण किया, उसी प्रकार गौडीय वैष्णवों ने भी अपने अनेक दार्शनिक तत्वों का आधार इसे ही बनाया। फलतः इन दोनों साक्ष्यों के आधार पर दोनों पुराणों के काल निर्णय का तारतम्य भली भाँति मिलाया जा सकता है। आवृत्त अध्यायों की अधिकता होने के कारण ही वायु तथा ब्रह्माण्ड प्राचीन पुराणों में गिने जाते हैं।

(ख) कभी-कभी किसी विशिष्ट शब्द के विकृत परिवर्तन के हेतु से भी पुराणो का काल-तारतम्य निर्णीत किया जा सकता है। एक प्रसिद्ध दृष्टान्त से इसे समझना चाहिए। आभीर जाति का वर्णन महाभारत तथा पुराणों में अनेकत्र उपलब्ध होता है। महाभारत में मौशल पर्व में 7 तथा 8 अ0 इस विषय में विशेष रूपेण दृष्टब्य हैं। आभीरों का हथियार कोई धातुज शस्त्र न होकर लाठी तथा ढ़ेला ही था। वे ग्राम में ही रहते थे, पंञ्चनन्द (पंजाब) के धनधान्य पूर्ण क्षेत्र में। गोपालन आभीरों का प्रधान व्यवसाय था। इनकी संख्या बहुत ही अधिक थी। फलतः श्रीकृष्ण की स्त्रियों को उसी मार्ग से लौटाते समय आभीरों के हाथों से अर्जुन को पराजित होना पड़ा था। वेदव्यास जी के आश्रम पहुँचने पर उन्होंने अर्जुन से हतप्रभ होने के कारण जिज्ञासा की। इस प्रसंग में एक गूढ़ार्थ श्लोक आता है -

नखकेश दशा कुम्भ वारिणा किं समुक्षितः।
आबीरजानुगमनं ब्राह्मणों वा हतस्त्वया।
युद्धे पराजितो वाति गतश्रीरिव लक्ष्यते।।[1]

किसी भी व्यक्ति को हतश्री बनाने वाले ऊपर निर्दिष्ट सात कारणों में से 'आवीरजानुगमनं'' अत्यन्त कारण है। 'आवीरजा' का अर्थ नीलकण्ठ ने 'रजस्वला' देकर छुट्टी ले ली। इस शब्द की भी पूरी व्याख्या इस प्रकार होगी -

आविर् (धूतं) रजः यस्याः सा आवीरजा' तस्या अनुगमनं मैथुनम्।

रजस्वला से तीन दिनों से पूर्व अनुगमन करना धर्मशास्त्र से निषिद्ध है। उसका आचरणकर्ता नियमेन हतश्री होता है, इनमें तनिक भी सन्देह नहीं।

विष्णु पुराण के पंचम अंश (38अध्याय) में यही प्रसंग इसी रूप में आया है, जहाँ मौशल पर्व के श्लोकों की छाया है, तथा कही-कहीं व्याख्या भी की गयी है। ऊपर लिखे श्लोक का रूप यहाँ इस प्रकार है -

आबीरजोऽनुगमनं ब्रह्महत्या कृताऽथवा
दृढ़ाशाभङ्गदुःखीव भ्रष्टच्छायोऽसि साम्प्रतम्।[2]

दोनों श्लोकों को मिलाने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि विष्णु पुराण के समान 'आवीरजा' शब्द अप्रसिद्ध होने से विस्मृतप्राय हो गया। फलतः महाभारत का वह शब्द 'अबीरजोऽनुगमनं' के रूप में आया जहाँ इसका अर्थ होता है - भेड़ो की धूलि का अनुगमन, जो किसी प्रकार धर्मशास्त्र की दृष्टि से निषिद्ध भले ही हो, परन्तु मूल शब्द का विकृत रूप अवश्यमेव है। ब्रह्मपुराण के 212 अध्याय में ठीक यही वर्णन विष्णु पुराण के समान श्लोकों

1. महाभारत मौशल पर्व्र, 8/5-6
2. विष्णु0 5/38/37

में ही है, परन्तु उक्त श्लोक का परिवर्तन रूप इस प्रकार है -

अजारजोऽनुगमनं ब्रह्महत्याऽथवा कृता

जयाशाभङ्गदुःखीव भ्रष्टच्छायोऽसि साम्प्रतम् ।।[1]

विष्णु पुराण का 'अवीरजोऽनुगमनं' शब्द यहाँ खटक रहा है अतः अधिक बोधगम्य परिवर्तन इस प्रकार होगा - अजारजोऽनुगमनम् निष्कर्ष- इस विशिष्ट शब्द के अर्थानुसन्धान करने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि कठिन मूल शब्द से बोधगम्य अर्थ निकालने में यह श्लोक उपलब्ध होता है, उनके काल के विषय में हम कह सकते हैं कि मौशल पर्व सबसे प्राचीन है। विष्णु पुराण उससे कालक्रम में हट्कर है तथा ब्रह्मपुराण तो विष्णु से भी आवान्तर कालीन है।

(ग) पुराणों में निर्दिष्ट चरित्रों का तुलनात्मक समीक्षण भी उनके काल-निर्णय का एक साधन माना जा सकता है। भगवान् श्रीकृष्ण के चरित की ही मीमांसा इस विषय में दृष्टान्तरूप से ली जा सकती है। यह चरित मूल में तो एकाकार ही है, परन्तु घटनाओं के विन्यास से इसका क्रमविकास भी अनुसन्धेय है। जितना कम विस्तार किसी पुराण में होगा वह उतना ही प्राचीन होगा। मान्यता यह है कि प्राचीन पुराणों में कृष्णचरित की स्थूल कतिपय घटनाएँ ही उल्लिखित हैं और अवान्तरकाल में श्रीकृष्ण के महात्म्य तथा आकर्षण की अभिवृद्धि होने से उस चरित में नयी-नयी घटनाएँ जोड़कर उसे परिपुष्ट किया गया है। इस मान्यता का ध्यान में रखने पर उस कथा के वर्णन परक पुराणों का काल-निर्णय भली-भाँति किया जा सकता है। उदाहरणार्थ- विष्णुपुराण के पंचम अंश में श्रीकृष्ण का चरित केवल 38 अध्यायों में वर्णित है। इसमें किसी प्रकार के अलंकृत परिबृंहण का उद्योग ग्रन्थकार की ओर से नहीं किया गया। रासलीला का प्रसंग भी संक्षिप्त शब्दों में ही यहाँ किया गया है। (5/13/13-64)।

अब हरिवंश में दिए गये श्रीकृष्णचरित की इससे तुलना कीजिए। हरिवंश नयी-नयी घटनाओं को जोड़कर उसे परिबृंहित करता है। हल्लीसक नृत्य का वर्णन अभिनव है। फलतः यहाँ उस चरित्र का विकास स्पष्टतः लक्षित होता है। श्रीमद्भागवत में उस चरित में और भी नयी-नयी बातों का समावेश लक्षित होता है। विशेषतः गोपियों का प्रसंग, उद्धव द्वारा संदेश भेजने तथा गोपियों को समझाने का प्रसंग यह सब श्रीमद्भागवत के श्रीकृष्ण वर्णन का प्राण है।

तथ्य यह है कि भागवत ने उस चरित में विलक्षण माधुरी तथा सौन्दर्य की सृष्टि की है। विष्णु पुराण में वह केवल ऐतिहासिक चरित के समान ही केवल घटना प्रधान नीरस है। भागवत में वह चरित घटना प्रधान न होकर रस प्रधान हो गया है। यही उसके विकास की दिशा है। इन तीनों ग्रन्थों में राधा की सूक्ष्म सूचना होने पर भी उसकी स्पष्ट अभिव्यक्ति नहीं

---

1. ब्रह्म 212/37

है। यह अभिव्यक्ति ब्रह्मवैवर्त में स्फुटतर हो जाती है। यहाँ राधा का प्रभुत्व तथा महात्म्य श्रीकृष्ण की अपेक्षा भी अधिक सारवान् प्रतीत होता है। इस प्रकार श्रीकृष्ण चरित के विकास क्रम को लक्ष्य कर इन चार पुराणों का काल-क्रमसिद्ध होता है - विष्णु पुराण (सबसे प्राचीन)- हरिवंश- श्रीमद्भागवत- ब्रह्मवैवर्त(अवरोह क्रम से)। फलतः विष्णु पुराण इस चतुष्टयी में प्राचीनतम है तथा ब्रह्मवैवर्त नवीनतम्। अन्य प्रख्यात चरितों के भी विकासक्रम का समीक्षण इसी प्रकार उपादेय और उपयोगी माना जा सकता है।

(घ) पुराणों का अंतरंग परीक्षण भी उनके समय-निर्माण के लिए विशिष्ट सामग्री प्रस्तुत करता है। अनेक पुराणों ने, विशेषतः विश्वकोष की समता वाले पुराणों ने अपनी विविध सामग्री का संकलन विभिन्न प्रामाणिक तत्तत्-शास्त्रीय ग्रन्थों से किया है, कहीं बिना नामोल्लेख किये ही और कहीं पर नामोल्लेख के साथ। फलतः इन मूल ग्रन्थों के साक्ष्य पर इन पुराणों का काल-निर्देश सुचारू रूप से किया जा सकता है। उदाहरणार्थ- अग्नि0 का काव्य विवेचन (337अ0, 346-347अ0) दण्डी के काव्यादर्श पर अधिकतर आश्रित हैं। फलतः उस अंश का दण्डी से उत्तरकालीन होना निश्चित है। गरुडपुराण ने कितने ही अध्यायों (93-106अ0) में याज्ञवल्क्य स्मृति के आधार पर धर्मशास्त्रीय विषयों का विवरण प्रस्तुत किया है। फलतः यह भाग द्वितीय-तृतीय शती के अनन्तर का है, जब याज्ञवल्क्य स्मृति का निर्माण हुआ। इसी प्रकार शिवपुराण में दो शिवसूत्रों का तथा उनके ऊपर निर्मित वार्तिक ग्रन्थ का नाम्ना निर्देश किया है। फलतः उस अंश का दण्डी से उत्तरकालीन होना निश्चित है। गरुडपुराण ने कितने ही अध्यायों (93-106अ0) में याज्ञवल्क्य स्मृति के आधार पर धर्मशास्त्रीय विषयों का विवरण प्रस्तुत किया है। फलतः यह भाग द्वितीय-तृतीय शती के अनन्तर का है, जब याज्ञवल्क्य स्मृति का निर्माण हुआ। इसी प्रकार शिवपुराण में दो शिवसूत्रों का तथा उनके ऊपर निर्मित वार्तिक ग्रन्थ का नाम्ना निर्देश किया है। फलतः शिवपुराण की रचना शिवसूत्रों के तथा वार्तिक की रचना के अनन्तर हुई। शिवसूत्रों के रचयिता वसुगुप्त का समय 800-825ई0 तथा उनके वार्तिककार भास्कर का समय 850 ई0 है। इन ग्रन्थों के स्पष्ट उल्लेख से शिवपुराण नवम शती से प्राचीन नहीं हो सकता। उधर अलबेरूनी (1030ई0) ने पुराणों की सूची में शिवपुराण को उसमें अन्यतम् स्थान दिया है। इन दोनों के बीच में आविर्भूत होने से शिवपुराण का समय दशम शती का अन्त मानना सर्वथा न्याय्य प्रतीत होता है।

(ङ) बहिरंग साक्ष्य के ऊपर भी पुराणों का काल-निरूपण किया जा सकता है। महाभारत ने 'वायुप्रोक्त पुराण' का स्पष्ट निर्देश किया है (वनपर्व 191अ0,16श्लोक) तथा उसे अतीतानगत विषयों का प्रतिपादक भी स्वीकृत किया है। यह स्पष्टतः आजकल प्रचलित

वायुपुराण का संकेत करता है, जिसमें अतीत काल की घटनाओं के वर्णन के संग अनागत = अविष्टकाल के राजाद को लोक प्रचलित प्रवचन का भी उल्लेख किया है। इससे स्पष्टतः हर्षचरित (सप्तमशती का पूर्वार्द्ध) तथा महाभारत (लगभग द्वितीय शती) से प्रक्कालीन होने के कारण वायुपुराण का समय द्वितीय शती से पूर्व ही मानना चाहिए। सप्तम शती से तो वह कथमपि पीछे नहीं लाया जा सकता।

धर्मशास्त्रीय निबन्धों में तत्तत् विषय की पुष्टि में प्रमाण देने के लिए पुराणों के वचन उद्धृत किये गये हैं। इससे भी उनके समय का निरूपण किया जा सकता है। अरब यात्री अलबरूनी ने अपने समय में (11शती का पूर्वार्द्ध) उपलब्ध पुराणों की सूची दी है, जिनमें उन पुराणों को प्राक्कालीनता स्वयं ही अनुमेय है। इन निबन्धकारों में जयचन्द्र (12शती का उत्तरार्द्ध) के सभापण्डित लक्ष्मीधर भट्ट का अनेकखण्डों में विभक्त, कृत्यकल्पतरू' प्राचीन निबन्ध माना जाता है- द्वादश शती की रचना। इसमें उद्धृत होने वाले पुराणों की इससे पूर्वकालीनता स्वतः सिद्ध हो जाती है। इतना ही नहीं इन निबन्धकारों ने पुराणों के विषयों में बड़े सुन्दर विवेचन किये हैं, जिनसे उस युग की प्रवृत्ति का पूरा परिचय लगता है।

बल्लालसेन ने अपने प्रख्यात निबन्ध दानसागर में पुराणों के विषय में बड़ी मार्मिक समीक्षा की है। इससे भी उनके रूप का, श्लोक परिमाण का तथा रचनाकाल का परिचय आलोचकों को मिल ही जाता है। बल्लालसेन के द्वारा स्पष्ट संकेतित होने से ही अष्टादश पुराणों में श्रीमद्भागवत को ही पुराण मानना पड़ता है देवीभागवत को उपपुराण। बल्लालसेन की समीक्षा से पुराणों के स्वरूप का तथा उनके प्रामाण्य-अप्रामाण्य का पूरा परिचय परीक्षक को मिल जाता है।

(च) कलिराजाओं के वृत्त वर्णन के आधार पर भी पुराणों का काल निर्देश किया जा सकता है। पार्जीटर ने इस विषय का तुलनात्मक अध्ययन कर भविष्यपुराण के कलिराजाओं के वृत्त को मूलभूत तथा प्राचीनतम माना है। इसी का उपबृंहण कालान्तर में मत्स्य, वायु तथा ब्रह्माण्ड के भविष्यवर्णन में अर्थात् कलियुग के शासकों के विषय में उपलब्ध होता है। विष्णु तथा श्रीमद्भागवत में उपलब्ध यह विवरण भविष्य के ही आधार पर हैं, परन्तु अवान्तरकालीन संक्षिप्त विवरण है।

भविष्य में ऐतिहासिक वृत्त का संकलन आन्ध्रनरेश यज्ञश्री के समय में द्वितीय शती के अन्त में किया गया। यह विवरण कालान्तर में अन्य पुराणों में गृहीत हुआ, तब उसे परिबृहित करने तथा अपने काल तक लाने का प्रयास किया गया। जब भविष्य पुराणीय विवरण मत्स्य पुराण में गृहीत हुआ, तब उसमें 260 ई0 तक का वृत्त आन्ध्रवंश के अन्त तक का निश्चित रूपेण जोड़ दिया। आगे बढ़कर वायु तथा ब्रह्माण्ड में ग्रहण के अवसर पर वही विवरण गुप्त

साम्राज्य के आरम्भिक उदय तक, अर्थात् 335 ईस्वी तक बढ़ा दिया तथा संक्षिप्त रूप प्रस्तुत होने पर विष्णु तथा भागवत में यही विवरण गृहीत हुआ। पुराणों में कलिराजाओं के ऐतिहासिक वृत्त के स्पष्टीकरण का यही सामान्य रूपरेखा है। इसे विशेष रूप से समझा जा सकता है।

मत्स्य पुराण (273/17-26) में आन्ध्र, गर्दभिल्ल, शक, मुरूण्ड, यवन, म्लेच्छ, आभीर तथा किलकिलों का वर्णन मिलता है। भारतवर्ष में इन विदेशीय जातियों का शासन कुषाण राज्य के ध्वंस होने पर द्वितीय-तृतीय शती के बाद हुआ- यह तो इतिहासविदों को ज्ञात ही है। आन्ध्रराज्य की समाप्ति 236 ई0 में हुई तब तक का आन्ध्रनरेशों का पूरा वृत्त मत्स्य पुराण में गृहीत हुआ है। मत्स्य इसके आगे नहीं बढ़ता। आन्ध्रनरेश का विश्वसनीय इतिहास प्रस्तुत करना मत्स्य पुराण की अपनी विशिष्टता है। वायु तथा ब्रह्माण्ड विस्तार से तथा विष्णु और भागवत संक्षेप में ही गुप्तों क शासनक्षेत्र का वर्णन करते हैं, जब वह वंश प्रयाग, साकेत (अयोध्या) तथा मगध के ऊपर शासन कर रहा था। गुप्तवंश के महाराज चन्द्रगुप्त प्रथम (समय 320ई0-326ई0) के राज्य विस्तार का यह संकेत करता है। प्रयाग की प्रशस्ति में समुद्रगुप्त की दिग्विजय का विस्तृत विवरण है। भारतवर्ष के समग्र प्रान्त गुप्तराज्य के अन्तर्गत इस समय तक आ गये थे- इसका परिचय यहाँ मिलता है। यदि पुराण समुद्रगुप्त की इस दिग्विजय से परिचित होते, तो वे प्रयाग-अयोध्या-मगध तक ही गुप्तराज्य को सीमित बतलाने की धृष्टता नहीं करते। फलतः यह वर्णन 330 ई0 से प्रथम, समुद्रगुप्त की दिग्विजय से पूर्व ही गुप्तों का संकेत करता है।।

इस ऐतिहासिक वृत्त के वर्णन से समय का निर्देश किया जा सकता है-

(क) भविष्य का रचनाकाल द्वितीय शती का अन्त है।

(ख) मत्स्य पुराण का निर्माण तृतीय शती के आरम्भ अथवा 236 ई0 तक हो चुका था।

(ग) वायु तथा ब्रह्माण्ड गुप्तराज्य के आरम्भकाल तक समाप्त हो चुका था,

(घ) विष्णु पुराण का कलिवृत प्रकरण भी इसी युग का संकेत करता है।

(ङ) श्रीमद्भागवत की जैसा अन्य पोषक प्रमाण से सिद्ध होता है, गुप्तकाल की ही रचना है। कुछ भाग पीछे के भले हों, परन्तु षष्ठ शती से पूर्व यह समाप्त हो चुका था।

इन निर्णायक साधकों के द्वारा पुराणों का कालक्रम से विभाजन हो सकता है। जब हम कह सकते हैं कि अमुक पुराण प्राचीन है, तब हम किसी पुराण की अपेक्षा ही इस निर्णय पर पहुँचते हैं। पुराणों की तीन श्रेणियाँ हैं-

(क) प्राचीन प्रथम शती से लेकर 440ईस्वी तक। इसके अन्तर्गत हम वायु, ब्रह्माण्ड, मार्कण्डेय, मत्स्य तथा विष्णु को रखते हैं।

(ख) मध्यकालीन (500ई0से 900ई0 तक) तथा

(ग) अर्वाचीन - इस श्रेणी में हम ब्रह्मवैवर्त, ब्रह्म, लिंग आदि (900ई0-1000ई0) को रखते हैं। यह तो सामान्य विवेचना हुई। अब हम प्रत्येक पुराण के देशकाल का निर्णय करने का प्रयत्न कर रहे हैं।

(१) ब्रह्म पुराण :-

ब्रह्म पुराण ही अष्टादश पुराणों में अग्रिम तथा प्रथम माना गया है। इसके देश के विचार प्रसङ्ग में यह ध्यातव्य है कि यह पुराण पृथ्वीतल में सर्वश्रेष्ठ देश भारतवर्ष को मानता है तथा उस भारत में भी सर्वश्रेष्ठ तीर्थ दण्डकारण्य है। दण्डाकारण्य के भीतर ही होकर गोमती या गोदावरी नदी प्रवाहित होती है, जो नदियों में मुख्य हैं। इस नदी के तीरस्थ तीर्थो का ही सूक्ष्म विवरण पूरे 106 अध्यायों में (प्र 69 अ0-175अ0) ब्रह्मपुराण करता है। इस विवरण से पुराणकार का दण्डकारण्य तथा विशेषतः गोदावरी-प्रदेश पर विशेष आग्रह दृष्टिगोचर होता है। अतः इन अध्यायों का रचना देश निश्चित रूप से गौतमी(या गोदावरी) प्रदेश ही प्रतीत होता है। एतद्विषयक दो-तीन श्लोक प्रमाण में उद्धृत किये जाते हैं :-

पृथ्व्यां भारतं वर्ष दण्डकं तत्र पुण्यदम्।
तस्मिन् क्षेत्रे कृतं कर्म भुक्ति-मुक्तिप्रदं नृणाम्।।18।।
तीर्थानां गौतमी गङ्गा श्रेष्ठा मुक्तिप्रदा नृणाम्।
तत्र यज्ञेन दानेन भोगान् मुक्तिमवाप्यस्मति।।19।। अध्याय- 88
यह गौतमी नदी दण्डकारण्य की नदियों में सर्वश्रेष्ठ है -
श्रूयते दण्डकारण्य सरित्, श्रेष्ठास्ति गौतमी।
अशेषाघप्रशमनी सर्वाभीष्टप्रदायिनी।। 62।। -अध्याय 129

फलतः ब्रह्मपुराण का अत्यधिक भाग गोदावरी प्रदेश की रचना का प्रतीत होता है, परन्तु इसका आदिम नाम (आरम्भ से लेकर अ096तक) उत्कल देश प्रणीत जान पड़ता है, क्योंकि अध्याय 28 से अध्याय 69 तक 41 अध्यायों में पुरुषोत्तम क्षेत्र (जगन्नाथ क्षेत्र) के छोटे-छोटे तीर्थो का (आधुनिक नाम कोणार्क) की महती प्रशंसा है और तत्प्रतिष्ठित भगवान् भास्कर के स्वरूप तथा पूजा के विषय में छह अध्याय (29 से 34) प्रयुक्त किये गये हैं। अध्याय 66 में गुडिवा यात्रा के दर्शन का विशिष्ट फल दिया गया है।[1] 'गुडिवा' या 'गुण्डिवा' का शुद्ध रूप गुण्डिचा है। जगन्नाथ अपने अग्रज संकर्षण तथा भगिनी सुभद्रा के साथ आषाढ़

1. गुण्डिवामण्डपं यान्तं ये पश्यन्ति रथे स्थितम्।
कृष्णं बलं सुभद्रां च ते यान्ति भवनं हरेः।।1।।
गुण्डिवा नाम यात्रा मे सर्वकामफलप्रदा।।8।। ब्रह्म अ0 66

शुक्ल द्वितीया को रथ के ऊपर चढ़कर जो यात्रा करते हैं, वही रथ यात्रा गुण्डिचना[1] यात्रा के नाम से उत्कल में प्रसिद्ध है। इस स्थानीय उड़िया शब्द के प्रयोग से ग्रन्थकार का इस प्रदेश से गाढ़ परिचय स्वतः सिद्ध होता है। फलतः मेरी दृष्टि में ब्रह्मपुराण के आरम्भिक अंश की रचना का देश उत्कल माना जा सकता है।

इस पुराण में 245 अध्याय है तथा 13783 श्लोक (आनन्दाश्रम संस्करण में) हैं। इस पुराण में तीर्थों का माहात्म्य बड़े विस्तार से वर्णित है और महात्म्य प्रसंग में ही तीर्थ सम्बन्धिनी प्राचीन कथा का भी समुल्लेख रुचिरता से किया गया है। डॉ0 हाजरा का कथन है कि जीमूतवाहन, बल्लालसेन तथा देवण्णभट्ट द्वारा उद्धृत ब्रह्मपुराणीय श्लोक प्रचलित ब्रह्मपुराण में उपलब्ध नहीं होते। इस पुराण ने महाभारत के ही नहीं प्रत्युत विष्णु, वायु तथा मार्कण्डेय के अनेक अध्यायों को अक्षरशः अपने में सम्मिलित कर दिया है। इसलिए यह ब्रह्मपुराण मूल पुराण न होकर कालान्तर में विरचित प्रक्षेप-विशिष्ट पुराण है। इन प्रक्षेपों की छानबीन की जा सकती है। यह पुराण मूलरूप से अ0 175 में ही समाप्त हो जाता है।

जहाँ गौतमी गंगा का विशद महात्म्य अपने पर्यवसान पर पहुँच जाता है उसी अध्याय के अन्त में (श्लोक 88-90) इस पुराण के श्रवण तथा दान का महात्म्य वर्णित है, जो निश्चित रूप से पुराण के अन्त में ही किया जाता है। फलतः अध्याय 176 से लेकर अन्तिम अध्याय 245 पीछे से जोड़ा हुआ अंश है। निबन्धकारों में इसकी लोकप्रियता पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध होती है। कल्पतरू ने कम से कम पन्द्रह सौ श्लोक इसके उद्धृत किये हैं जिनमें से केवल नव श्लोकों का पता, उसके सम्पादक को लग सका है। श्राद्ध के विषय में सैकड़ों श्लोक यहाँ उद्धृत हैं। कल्पतरू में इसी पुराण से सर्वापेक्षा अधिकतम श्लोक उद्धृत हैं। वायु तथा मत्स्य का नम्बर तो इसके बाद आता है। परन्तु इन श्लोकों की प्रचलित पुराण में उपलब्धि न होने से इसके वर्तमान रूप को अधिकतर प्रक्षेप-विशिष्ट मानना कथमपि अन्याय्य नहीं है। प्रचलित ब्रह्मपुराण के अनेक तीर्थ विषयक श्लोक (अध्याय 46 से आगे वाले अंश के) तीर्थ चिन्तामणि में उद्धृत हैं। इसके लेखक वाचस्पति का समय 1425ई. - 1490ई. अर्थात् 15वीं शती का उत्तरार्ध माना जाता है। फलतः प्रचलित ब्रह्म की रचना का काल इससे पूर्व 13वीं शती मानना सर्वथा युक्तियुक्त प्रतीत होता है।

---

1. गुण्डिचा शब्द की व्युत्पत्ति के विषय में उडिया भाषा के विद्वान भी एकमत नहीं है। बहुत से मान्य भाषाविदों की धारणा है कि यह शब्द आर्य भाषा का न होकर कोलभीलों की भाषा का कोई स्थानीय शब्द है। जगन्नाथ जी का वर्तमान मन्दिर 15वीं शताब्दी से प्राचीन भले ही न हो परन्तु उनकी पूजा तो बहुत प्राचीन है।

(२). पद्म पुराण :-

इसकी दो वाचनाएँ विद्यमान हैं - (1) उत्तर भारतीय वाचना, (2) दक्षिण भारतीय वाचना। प्रथम के अनुसार यह पाँच खण्डों में विभक्त है और दूसरी वाचना के अनुसार, जो आनन्दाश्रम संस्कृत सीरीज में तथा वेंकटेश्वर प्रेस से प्रकाशित है, छह खण्डों में विभक्त है जिनके नाम हैं - आदि, भूमि, ब्रह्म, पाताल, सृष्टि और उत्तरखण्ड। यह निश्चयेन उत्तरकालीन वाचना है। पूर्वकालीन वाचना वंगीय हस्तलेखों के आधार पर पांच खण्डों में विभक्त है - सृष्टि, भूमि, स्वर्ग, पाताल तथा उत्तरखण्ड। मत्स्य तथा पद्म के सैकड़ों श्लोक दोनों में समान रूप से पाये जाते हैं। हेमाद्रि ने पद्म से लम्बे उद्धरण इन श्लोकों को अपने ग्रन्थ में दिया है, जब दूसरे निबन्धकारों ने इन्हीं श्लोकों को मत्स्यपुराण का वचन मानकर उद्धृत किया है। इन दोनों में से कौन किसका अधमर्ण है? मत्स्य में धर्मशास्त्रीय विषयों का प्राचुर्य है तथा निबन्धों में उसके उद्धरणों का आधिक्य है। फलतः काणे महोदय की सम्मति में पद्म ही मत्स्य के श्लोकों को अपने में उद्धृत करने वाला अधमर्ण प्रतीत होता है। आनन्दाश्रम से प्रकाशित पद्मपुराण में अध्यायों की संख्या 628 है तथा श्लोकों की 48452 है; जो नारदपुराण में निर्दिष्ट संख्या से बहुत घटकर न्यून है। निबन्ध में कल्पतरू ने पद्मपुराण से नाना विषयों के श्लोक प्रामाण्य में उद्धृत किया है। इस भारी भरकम पुराण का मूलरूप क्या था? इस प्रश्न का उत्तर देना नितान्त कठिन है।

विद्वानों ने इसके अन्तर्गत कथाओं का समीक्षण कर उनमें अनेक को अत्यन्त प्राचीन बतलाया है। डाक्टर लूडर्स का कथन है कि पद्मपुराण के अन्तर्गत (पातालखण्ड में) ऋष्यश्रृंग की कथा महाभारत में उपलब्ध वनपर्व (अ0 110 से अ0 112) में वर्णित उस कथा से प्राचीनतर है। अन्य विद्वान पद्मपुराण में वर्णित तीर्थयात्रा प्रकरण को महाभारत (वनपर्व) में वर्णित तीर्थयात्रा प्रसंग से प्राचीनतर मानते हैं।

पद्मपुराण तथा कालिदास में परस्पर सम्बन्ध क्या था? वंगीय हस्तलेखों में उपलब्ध वाचना के अनुसार पद्मपुराण के स्वर्गखण्ड (तृतीयखण्ड) में शकुन्तला का उपाख्यान वर्णित है, जो महाभारतीय उपाख्यान से न मिलकर कालिदास के 'अभिज्ञानशाकुन्तल' से अपूर्व समता रखता है। डॉ0 विण्टरनित्स तथा डॉ0 हरदत्त शर्मा इस प्रसंग में कालिदास को पद्मपुराण का अधमर्ण स्वीकार करते हैं अर्थात् कालिदास ने यह कथावस्तु पद्मपुराण से गृहीत की है - यही तथ्य मानते हैं। इस विषय में मेरा मन्तब्य है कि किसी भी पौराणिक कथानक में नायिका के साथ उसकी संगिनी के रूप में एक ही सखी का होना पर्याप्त है, दो सखियों की आवश्यकता क्यों? अतः दो सखियों का होनां अस्वाभाविक है, पुराण की शैली से सर्वथा

विरूद्ध तथा असंगत। अतः पद्मपुराण को ही इस विषय में कालिदास का अधमर्ण मानना न्याय तथा समुचित प्रतीत होता है।

इस प्रकार कालिदास के अभिज्ञानशाकुन्तल पर आश्रित होने से स्वर्गखण्ड का तथा सम्पूर्ण पद्मपुराण की रचना का काल पञ्चम शती से अर्वाचीन ही मानना उचित है। यह प्रचलित पद्मपुराण का निर्माण काल है। मूल पद्मपुराण को इससे प्राचीन होना चाहिए।

नागरी में मुद्रित उत्तरखण्ड तथा वंगीय हस्तलेखों में प्राप्त अमुद्रित वंगीय वाचनानुसार उत्तरखण्ड में महान पार्थक्य है। यह पार्थक्य परिमाण के संग-साथ में निर्माणकाल के विषय में भी है। मुद्रित उत्तरखण्ड में 382 अध्याय हैं और वंगीय हस्तलेखों में केवल 172 अध्याय हैं। उत्तरखण्ड स्वयं इस तथ्य का द्योतक है कि यह खण्ड मूलपुराण में पीछे से जोड़ा गया है, परन्तु कितना पीछे? इसका उत्तर देना अत्यन्त कठिन है। वंगीय कोशवाला उत्तरखण्ड तो मुद्रित उत्तरखण्ड से भी अवान्तरकालीन है। यह श्रीमद्भागवत का तथा राधा का ही उल्लेख नहीं करता, प्रत्युत रामानुज मत का भी उल्लेख करता है। अतः यह श्रीरामानुज से प्राचीन नहीं हो सकता। इस खण्ड में द्रविड देश के एक वैष्णव राजा की कथा भी दी गयी है, जिसने पाखण्डियों अर्थात् शैवों के मिथ्या उपदेशों के प्रभाव में आकर अपने राज्य से विष्णुमूर्तियों को फेंक दिया, वैष्णव मन्दिरों को बन्द कर दिया और प्रजा को शैव होने के लिए बाध्य किया।

श्री अशोक चटर्जी का कथन है कि यह कुलोत्तुङ्ग द्वितीय का संकेत करता है, जो शैवों के प्रभाव से उग्र बन गया था। उसके राजसिंहासन पाने का समय 1133 ईस्वी है, जिससे इस खण्ड को उत्तरकालीन होना चाहिए। हितहरिवंश के द्वारा 1585 ई. में प्रतिष्ठित राधावल्लभी सम्प्रदाय में राधा का ही प्रामुख्य है, जिसका प्रभाव उक्त लेखक इस खण्ड पर मानते हैं। फलतः उनकी दृष्टि में यह उत्तरखण्ड 16वीं शती के पश्चात् की रचना है।

(३) विष्णु पुराण :-

पुराण साहित्य में विष्णु पुराण का गौरव सातिशय महनीय है। नारदीय पुराण में इसका विस्तार 24 सहस्र श्लोकों का बतलाया गया है, बल्लालसेन ने भी इसके 23 हजार श्लोकों वाले सम्प्रदाय का उल्लेख किया है, विभिन्न टीकाकारों ने भी इसके विभिन्न श्लोक परिमाणों का स्पष्ट संकेत किया है, परन्तु यह आजकल छह सहस्र श्लोकों का ही उपलब्ध होता है और इसी संस्करण के ऊपर तीनों व्याख्याएँ उपलब्ध होती हैं - श्रीधर स्वामी की विष्णुचित्त की (विष्णुचित्तीय) तथा रत्नगर्भभट्टाचार्य की (वैष्णवाकूतचन्द्रिका)। इन व्याख्याओं की सम्पत्ति से ही इसका महात्म्य नहीं प्रकट होता, प्रत्युत वैष्णव मत के समधिक दार्शनिक तथ्यों से मण्डित होने से भी इसका गौरव है। छोटा होने पर भी विषय प्रतिपादन में महनीय

है, क्योंकि इसमें पुराण के पांचो लक्षण बड़ी सुन्दरता से उपन्यस्त हैं। इसके वक्ता पाराशर जी हैं, जिन्होंने मैत्रेय को इस पुराण का प्रवचन किया।

ब्रह्माण्ड के साल श्लोकों (3/68/97-103) में से पांच श्लोक (ययाति के तृष्णा विषयक वचन) विष्णु (4/10/23-27) में भी वे ही हैं, जो ब्रह्मपुराण (12/40-46) में भी मिलते हैं। इन सबका मूल स्थान सम्भवतः महाभारत का आदिपर्व (75/44) है। याज्ञवल्क्य (3/6) पर मिताक्षरा विष्णु पुराण से लगभग 14 श्लोक नारायण बलि के विषय में उद्धृत करती हैं। कल्पतरु अपरार्क तथा स्मृतिचन्द्रिका ने कई सौ श्लोकों को उद्धृत किया है। काव्य प्रकाश में विष्णु पुराण के दो श्लोक[1] उद्धृत हैं, जिनमें किसी गोपकन्या द्वारा श्रीकृष्ण की गाढ़ अनुरक्तिके कारण मोक्षप्राप्ति का वर्णन है। विष्णु पुराण मध्ययुगीन वैष्णव सम्प्रदायों का समभावेन उपजीव्य ग्रन्थ है। श्रीरामानुज, श्रीमध्वाचार्य तथा श्री चैतन्य ने अपने अनेक विशिष्ट मतों का आधार विष्णु पुराण में निर्दिष्ट तथ्यों को बनाया है।

विष्णु पुराण का समय :-

विष्णु पुराण के आविर्भाव-काल के विषय में विद्वानों में विभिन्न मत हैं, परन्तु कुछ ऐसे नियामक साधन हैं जिनका अवलम्बन करने से हम समय का निर्देश भली-भाँति कर सकते हैं -

(क) ज्योतिष विषयक तथ्यों के आधार पर भी विष्णु का समय निर्णीत है। विष्णु (2/9/16) में नक्षत्रों का आरम्भ कृत्तिका से करता है।[2] और बराहमिहिर (लगभग 550ई0) के साक्ष्य पर हम जानते हैं कि उनसे प्राचीन काल में नक्षत्रों का जो आरम्भ कृत्तिका से होता था, वह उनके समय में अश्विनी से हो गया। फलतः कृत्तिकादि ऋक्ष का प्रतिपादक विष्णु नियमेन 500 ई0 से प्राचीन है, इसी प्रकार राशि का उल्लेख विष्णु में अनेकत्र है (2/8/28[3],2/8/30,2/8/41-42, 2/8/62-63)। ज्योतिर्विदों की मान्यता है कि सर्वप्रथम संस्कृत ग्रन्थों में याज्ञवल्क्यस्मृति में राशियों का समुल्लेख उपलब्ध है और इस ग्रन्थ का रचना काल द्वितीय शती है। फलतः विष्णु पुराण द्वितीय शती से प्राचीन नहीं हो सकता।[4]

---

1. तद्प्राप्तिं तथा चिन्तयन्ती0 विष्णु पुराण के 5/13/21-23 श्लोक हैं, जो काव्य प्रकाश के चतुर्थ में रसध्वनि के उदाहरण हैं।
2. कृत्तिकादिषु ऋक्षेषु विषमेषु च यद्दिवः।
   दृष्टार्कपतितं ज्ञेयं तद् गाङ्ग दिग्गजोज्झितम्।। - विष्णु 2/9/16
3. अन्यस्योत्तरस्यादौ मकरं यति भास्करः।
   ततः कुम्भं च मीनं च राशे राश्यन्तरं द्विज।। - विष्णु 2/8/28
3. द्रष्टव्य - डॉ0 हजारा का लेख दि डेट ऑफ विष्णु पुराण (भण्डारकर पत्रिका, भाग 18, 1936-37 में)

(ख) वाचस्पति मिश्र (841ई0) ने योगभाष्य की अपनी टीका तत्त्व वैशारदी में 2/32, 2/52, 2/54 में विष्णुपुराण के श्लोकों को उद्धृत किया है। तथा 1/19, 1/25, 4/13 में वायु पुराण के वचन उद्धृत किये हैं।

स्वाध्यायाद् योगमासीत्' व्यास का वचन है और यही श्लोक विष्णु पुराण के षष्ठ अंश अ0 6 के द्वितीय श्लोक के रूप में मिलता है। योगभाष्य का एकवचन (3/13-तदेतद् त्रैलोक्यं आदि) न्यायभाष्य में उपलब्ध है (1/2/6) जिससे योगभाष्य का समय वात्स्यायन के न्यायभाष्य के समय (द्वितीय-तृतीय शती) से प्राचीनतर होना चाहिए। योगभाष्य में वाचस्पति मिश्र के साक्ष्य पर उद्धृत होने के कारण विष्णु पुराण को प्रथम शती से पूर्व मानना सर्वथा उचित प्रतीत होता है। ऊपर कलियुग के राजाओं के वर्णन-प्रसंग में विष्णु गुप्तों के आरम्भिक इतिहास से परिचय रखता है, जब वे साकेत (अयोध्या) प्रयाग तथा मगध पर राज्य करते थे।

यह निर्देश चन्द्रगुप्त प्रथम (320 ई0-326 ई0) के राज्यकाल में गुप्त राज्य की सीमा का द्योतक माना जाता है। फलतः विष्णु पुराण का समय 100ई. - 300 ई. तक मानना सर्वथा उचित है।

(ग) विष्णु पुराण की प्राचीनता के विषय में तमिल साहित्य के एक विशिष्ट काव्य ग्रन्थों से बड़ा ही दिव्य प्रकाश पड़ता है। ग्रन्थ का नाम है- मणिमेखलै जिसमें मणिमेखला नामक समुद्री देवी के द्वारा समुद्र में आपद्ग्रस्त नाविकों तथा पोताधिरोहियो के रक्षण की कथा बड़ी ही रूचिरता के साथ दी गयी है। ग्रन्थ का रचनाकाल ईस्वी की द्वितीय शती माना जाता है। इसमें एक उल्लेख विष्णु पुराण के विषय में निश्चय रूपेण वर्तमान है। वेंजी की सभा में विभिन्न धर्मानुयायी आचार्यो के द्वारा प्रवचन तथा शास्त्रार्थ का उल्लेख यह ग्रन्थ करता है, जिनमें वेदान्ती, ब्रह्मवादी, विष्णुवादी, आजीवक, निग्रन्थ, सांख्य, सांख्य आचार्य, वैशेषिक व्याख्याता और अन्त में धूतवादी के द्वारा मणिमेखला के सम्बोधित किये जाने का उल्लेख है। इसी सन्दर्भ में तमिल में एक पंक्ति आती है - कललवणं पुराणमोदियन् जिसका अर्थ है- विष्णु पुराण में पाण्डित्य रखने वाला व्यक्ति। इस प्रसंग में ध्यान देने की बात यह है कि संगम युग में विष्णु शब्द का प्रयोग नहीं मिलता। उस देवता के निर्देश के लिए तिरूमाल तथा कललवणं विशेषण रूप से प्रयुक्त होते हैं। फलतः इस पंक्ति में विष्णु का ही स्पष्ट संकेत है, भागवत, नारदीय तथा गरूड जैसे वैष्णव पुराणों का नहीं। यह सामान्य मत है इस विषय के पण्डित डॉ0 रामचन्द्र दीक्षित का जिन्होंने तमिल साहित्य तथा इतिहास का गम्भीर अनुशीलन अपने एतद्विषयक ग्रन्थ <u>स्टडीज इन तमिल लिटरेचर एण्ड हिस्ट्री</u> में किया है। मणिमेखलै के इस उल्लेख से स्पष्ट प्रतीत होता है कि तमिल देश में उस समय पुराणों का प्रवचन तथा पाठ जनता के सामने उसके चरित के उत्थान के निमित्त किया जाता था। यह

दशा द्वितीय शती ईस्वी की थी। इस समय विष्णु पुराण विशेष रूपेण महत्त्वशाली और गौरवपूर्ण होने के कारण इस कार्य के लिए चुना गया था। यह इसकी लोकप्रियता का स्पष्ट संकेत है। द्वितीय शती में प्रवचन के निमित्त चुने जाने वाले पुराण का समय उस युग से कम से कम एक शताब्दी पूर्व तो होना ही चाहिए। इससे स्पष्ट है कि कम से कम प्रथमशती में विष्णु पुराण की, अथवा उसके अधिकांश भाग की निश्चयेन रचना हो चुकी थी। व्यास-भाष्य के साक्ष्य पर निर्धारित समय की पुष्टि इस उल्लेख से आश्चर्यजनक रूप में हो रही है। फलतः विष्णु पुराण का समय निश्चित रूप से ईस्वी के आरम्भिक काल कम से कम है। मेरी दृष्टि में इस पुराण का रचना काल ईस्वी पूर्व-द्वितीय शती में होना चाहिए।

(४) वायु पुराण :-

इस पुराण में 112 अध्याय हैं तथा श्लोकों की संख्या 10991 है। ब्रह्माण्ड के समान ही यह चार पादों में विभक्त है। ब्रह्माण्ड तथा वायु के सम्बन्ध का विवेचन पहले ही किया जा चुका है। मत्स्य के समान ही इसमें धर्मशास्त्रीय विषयों की विपुलता है। कल्पतरू ने वायुपुराण के लगभग 160 उद्धरण श्राद्ध पर दिये हैं, लगभग 35 मोक्ष के विषय में, 22 तीर्थ पर, 7 दान, 5 ब्रह्मचारी तथा 4 गृहस्थ के विषय में अपरार्क ने लगभग 75 उद्धरण श्राद्ध के विषय में दिये हैं इन उद्धरणों से वायुपुराण का धार्मिक विषयों पर प्रामाण्य प्रकट होता है।

वायु पुराण ने गुप्त राज्य के आदिमकाल की राज्य-सीमा का उल्लेख किया है।2 यह पाँच वर्षों के युग को जानता है(50/183), मेष, तुला (50/196), मकर तथा सिंह (82/41/42) को जानता है। इन उल्लेखों से इसके समय का निरूपण यथार्थ रूप से किया जा सकता है। बाणभट्ट ने अपने गद्यकाव्यों में हर्षचरित तथा कादम्बरी में वायु पुराण का उल्लेख किया है। गुप्तराज्य का वायुपुराण कृत उल्लेख समुद्रगुप्त की दिग्विजय से पूर्वकालीन है। फलतः 350 ई0 से लेकर 550 ई0 के बीच में ही इसका रचनाकाल है - लगभग 400 ईस्वी। सप्तम शती के पुराणों में यह अग्रगण्य माना जाता था, जैसा शंकराचार्य के उल्लेख द्वारा स्पष्टतः प्रतीत होता है। प्राचीन पुराणों में अन्यतम पञ्चलक्षण का स्पष्ट परिचायक यह पुराण इतिहास तथा धर्मशास्त्र दोनों दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है।

1. अनुगङ्गं प्रयागं च साकेतं मगधांस्तथा।
   एतान् जनपदान् सर्वान मोक्ष्यन्ते गुप्तवंशजः।। - वायुपुराण 99/383
2. वायु पुराण तथा निबन्धग्रन्थों के परस्पर सम्बन्ध के विषय में द्रष्टब्य - Dr. Hazara - The Vayu Purana in the Indian Historical Quarterly Vol. 14(1938) pp. 331-339.

(९) श्रीमद्भागवत :-

भागवत नाम से प्रख्यात दोनों पुराणों की तुलनात्मक समीक्षा का निष्कर्ष यही है कि श्रीमद्भागवत ही अष्टादश पुराणों में अन्यतम है तथा देवीभागवत केवल उपपुराण है, जो श्रीमद्भागवत से पूर्ण परिचय ही नहीं रखता, प्रत्युत अनेक रूपों के प्रतिपादन में उसका अधमर्ण भी है। भागवत पञ्चलक्षण के वृहद्रूप दश लक्षणों से समन्वित एक महनीय आवृत्यात्मिक पुराण है, जिसमें भूगोल तथा खगोल, वंश और वंशानुचरित का भी विवरण संक्षेप में उपस्थित किया गया है।

श्रीकृष्ण को भगवान रूप में चित्रित करने तथा उनकी ललित लीलाओं का विवरण देने में भागवत अद्वितीय पुराण है। परन्तु प्राचीन निबन्धग्रन्थों में भागवत् से उद्धरण नहीं दिया। बल्लालसेन भागवत को पूर्णतः जानते हैं, परन्तु दानविषयक श्लोकों के अभाव में 'दानसागर' में उसे उद्धृत नहीं करते। यह आश्चर्य की बात है कि कल्पतरू मोक्षकाण्ड में भी इसका उद्धरण नहीं देता, जब वह विष्णुपुराण से तीन सौ के आस-पास श्लोकों को उद्धृत करता है। इसीलिए काणे महोदय इसे नवम् शती से प्राचीन मानने के लिए उद्यत नहीं है।

देश :-

श्रीमद्भागवत के रचना क्षेत्र के विषय में भी पर्याप्त मतभेद हैं। भागवत दक्षिण भारत के भौगोलिक स्थानों तथा तीर्थों से उत्तर भारतीय तीर्थों की अपेक्षा विशेष परिचय रखता है। भागवत 11 स्कन्ध में (5/38-40) द्रविड़ देश की नदियों का पयस्विनी, कृतमाला, ताम्रपर्णी, कावेरी तथा महानदी का नामोल्लेख करते हुए कहता है कि कलियुग में नारायण-परायण जन तो कहीं-कहीं ही होंगे, परन्तु द्रविड़ देश में वे बहुलता से होंगे (द्रविडदेषु च भूरिशः) और पूर्वोक्त नदियों का जल पीने वाले मनुज प्रायः करके वासुदेव के भक्त होंगे। विद्वानों की धारणा है कि यह द्रविड़ देश के आड्वारो का गूढ़ निर्देश है। भागवत के चतुर्थ स्कन्ध में पुरंजन विदर्भनरेश की कन्या का अगले जन्म में उसका विवाह पांड्यनरेश मलयध्वज के साथ हुआ तथा उससे सात पुत्र द्रविड़ राजा हुए (4/28/29-30)। ऋषभदेव की जीवनकाल का पर्यावसान कर्नाटक देश में हुआ, जहाँ का राजा उनका भक्त हो गया। उनके सात पुत्रों में से अन्यतम 'द्रुमिल' द्रविड़ का प्राचीन रूप माना गया है। द्रविड़ देशके राजा सत्यव्रत जब कृतमाला (द्रविड़ देशीय नदी) में स्नान कर रहे थे, तब उनकी अंजुलि में मत्स्य का प्रादुर्भाव हुआ (भागवत 8/24/12-13)। जाम्बवती के पुत्रों में द्रविड़ नाम पुत्र का उल्लेख केवल भागवत में ही है (10/61/12), हरिवंश में नहीं। बलराम जी की तीर्थयात्रा में दक्षिण भारत के तीर्थों का विशेष उल्लेख मिलता है (भागवत 10/79/13)। इन सब भौगोलिक उल्लेखों के साक्ष्य पर इतना तो स्पष्ट है कि भागवतकार दक्षिण भारत से सामान्यतः और उसमें भी

तमिल छन्द से साम्य की बात कही जाती है, परन्तु वही तथ्य राजस्थानी भाषा की कविता में भी व्यापक होने से पूर्व कथन पर श्रद्धा नहीं रखी जा सकती।

काल :-

श्रीमद्भागवत का भी काल-निर्देश इसी बहिरंग साक्ष्य पर निर्णीत है। हेमाद्रि यादव नरेश महादेव (1260-1271ई0) तथा रामचन्द्र (1271ई0 से 1309 ई0) के धर्मामात्य तथा वोपदेव के आश्रयदाता थे। इन्होंने अपने ग्रन्थ 'चतुर्वर्गचिन्तामणि' के 'व्रतखण्ड' में भागवत के 'स्त्रीशूद्र-द्विजबन्धूनां' वाला श्लोक उद्धृत किया है।

द्वैत मत के संस्थापक आनन्दतीर्थ (मध्वाचार्य जन्म 1199 ई0) ने 'भागवततात्पर्य निर्णय' में श्रीमद्भागवत के मूल तात्पर्य का निर्देश किया है तथा इसे पञ्चम वेद माना है। आचार्य रामानुज (जन्मकाल 1017ई0) ने अपने 'वेदान्ततत्त्वसार' में भागवत की वेदस्तुति (10/87) से तथा एकादश स्कन्ध से कतिपय श्लोकों को उद्धृत किया है, जिससे भागवत का तत्वपूर्व वर्तित्व होना सिद्ध है। श्रीशंकराचार्य ने 'प्रबोधसुधाकर' में अनेक पद्य भागवत की छाया पर निबद्ध किये हैं। इनके गुरू गोविन्द भगत्पाद के गुरू गौड़पादाचार्य ने अपने 'पञ्चीकरण - व्याख्यान' में भागवत से 'जगृहे पौरूषं रूपम्' (भागवत 1/3/1) श्लोक उद्धृत किया है। उत्तरगीता के भाष्य में उन्होंने 'भागवत' का नाम निर्देश करके यह प्रख्यात पद्य उद्धृत किया है -

तदुक्तं भागवते -

श्रेयः सुतिं भक्तिमुदस्यते विभो
किलष्यन्ति ये केवल-बोध-लब्धये।
तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते।
नान्यद् यथा स्थूलतुषावघातिनाम्।।

यह श्लोक दशम स्कन्ध के ब्रह्मकृत प्रसिद्ध स्तुति अ0 14 का चतुर्थ पद्य है।

इस प्रकार बाह्य साक्ष्य के आधार पर श्रीमद्भागवत गौड़पाद से प्राचीनतर होना चाहिए। आचार्य शंकर का आविर्भाव काल सप्तम शती के अन्तिम भाग में विशिष्ट प्रमाणों के आधार पर सिद्ध होता है। उनके द्वारा दादा गुरू गौड़पाद का समय सप्तम शतक के आरम्भ में युक्तिमुक्त है। अतएव भागवत षष्ठ शतक के कथमपि अर्वाचीन नहीं माना जा सकता।[1]

---

1. द्रष्टब्य - बलदेव उपाध्याय : भागवत सम्प्रदाय (नागरी प्रचारिणी सभा काशी, पृष्ठ 151-53)

(६) नारदीय पुराण :-

पुराण साहित्य में नारदीय पुराण तो प्रख्यात ही है, उसी के साथ 'बृहन्नारदीय' नामक भी एक पुराण 38 अध्यायों में विभक्त लगभग 3600 श्लोकों से सम्पन्न कलकत्ता से प्रकाशित है। (एशियाटिक सोसाइटी)। यह पुराणस्थ पंच लक्षणों से सर्वथा विरहित है और वैष्णव मत का प्रचारक एक साम्प्रदायिक पुराण है, जिसे महापुराण मानना न्यायसंगत है। मत्स्यपुराण (53/23) में वर्णित नारदीय प्रचलित नारदीय से कोई भिन्न ही पुराण प्रतीत होता है। यह निःसंदेह वैष्णव धर्म का विशिष्ट प्रचारक ग्रन्थ है। इसमें वैष्णवागम का ही उल्लेख नहीं है (37/4) प्रत्युत पाञ्चरात्र अनुष्ठान का भी पूर्ण संकेत उपलब्ध है (53/9)। बौद्धों की बड़ी निन्दा की गयी है। एकादशी व्रत के अनुष्ठान का महात्म्य बड़े विस्तार से प्रभावक शब्दों में यह पुराण वर्णन करता है। यहाँ परम वैष्णव रूक्मांगद राजा का उल्लेख है, जिन्होंने अपने राज्य में आठ वर्ष से लेकर अस्सी वर्ष वाले व्यक्तियों के लिए आदेश जारी कर रखा था कि इनमें जो एकादशी का व्रत नहीं करेगा तो वह बध्य माना जायेगा। स्मृतिचन्द्रिका (1200-1225 ई0) ने एकादशी व्रत के माहात्म्य सूचक अनेक श्लोकों को उद्धृत किया है, जिसमें पूर्वोक्त श्लोक1 भी है। अपरार्क ने भी इसी महात्म्य के दो श्लोक दिये हैं।

नारदीय पुराण अग्नि तथा गरूड़ के समान समस्त विद्याओं का प्रतिपादन करने वाला विश्वकोश के समान एक महर्ध पुराण है। इन विद्याओं के प्रतिपादक किसी मान्य ग्रन्थ का संक्षेप यहाँ प्रस्तुत किया गया है। दार्शनिक विषयों के विवरण में यह महाभारत का विशेष भावेन ऋणी है। यह विषय नारदीय पुराण के पूर्वभाग 42-44, 45 अध्यायों में उपलब्ध होता है। (वेंकटेश्वर संहिता) तथा महाभारत के शान्तिपर्व, 175-185, 187-388, 211-212 अध्यायों में यही विषय इन्हीं श्लोकों में मिलता है। महाभारत में श्लोकों की संख्या 435 है तथा नारदीय से तत्समान श्लोकों की संख्या 428 है। दोनों के तारतम्य परीक्षण से नारदीय नियत रूप से महाभारत का अधमर्ण है।

---

1. यह श्लोक इस प्रकार है -

अष्टवर्षाधिको मर्त्यो ह्यपूर्वाशीतिवत्सरः।

यो भुङ्क्ते मामके राष्ट्रे विष्णोरहनि पापकृत् ।

स मे बध्यश्च दण्ड्यश्च निर्वास्यो विषयाद् बहिः।।

स्मृतिचन्द्रिका में उद्धृत यह नारदीय वचन मुद्रित पुराण में इस प्रकार है- यो न कुर्याद् वचो मेऽध धर्म्मं विष्णुगतिप्रदम।

स मे दण्ड्यश्च बध्यश्च निर्वास्यो विषयाद् ध्रुवम्।। (उत्तरखण्ड 23/41)

नारदीय की रचना का काल अनुमेय है। नारदीय का एक पद्य (1/9/50) किरातार्जुनीय के एक प्रख्यात पद्य के भाव को प्रायः उन्हीं शब्दों में अभिव्यक्त करता हैः-

अविवेको हि सर्वेषमापदां परमं पदम्। - नारदीय 01/09/50

सहसा विदधीत न क्रियमाविवेकः परमापदां पदम्।। किरातार्जुनीय 2/30

नारदीय बौद्धों की आलोचना करता है और बौद्ध मन्दिर में प्रविष्ट होने वाले ब्राह्मणों के लिए सैकड़ों प्रायश्चित करने पर निष्कृति नहीं होती है- ऐसा प्रतिपादित करता है।

बौद्धों के प्रति यह आलोचना का भाव सप्तम शती के धार्मिक वातावरण का स्पष्ट द्योतक है, जब कुमारलभट्ट ने अपने मीमांसा ग्रन्थों के द्वारा बौद्धों के मत का प्रबल खण्डन कर उनकी तीव्र निन्दा की। मेरी दृष्टि में यह पुराण इस प्रकार भारवि (षष्ठ शती) तथा कुमारिल (सप्तमशती) से अवान्तर कालीन होना चाहिए। फलतः 700-900 ई0 के बीच में इसका रचना काल मानना सर्वथा उपयुक्त होगा।[1]

(७) मार्कण्डेय पुराण :-

पुराणों में मार्कण्डेय पुराण अपना एक विशिष्ट स्थान रखता है। इसका प्रधान कारण है कि इसके भीतर 13 अध्यायों में (अ0 81-अ0 92) देवी माहात्म्य का प्रतिपादक बड़ा ही महनीय अंश है, जिसमें देवी के त्रिविध रूप महाकाली, महालक्ष्मी तथा महासरस्वती के चरित का वर्णन बड़े विस्तार से किया गया है। इस विश्रुत आख्यान के अतिरिक्त मन्वन्तरों का विस्तृत वर्णन इस पुराण का वैशिष्ट्य माना जा सकता है। औत्तम मनु का वर्णन अ0 69-अ0 73 तामस का अ0 74, रैवत का अ0 75, चाक्षुष का अ0 76, वैवस्त का अ077-अ0 79 तथा सावर्णि का अ0 80-अ093 तक है और देवी माहात्म्य का सप्तशती सावर्णि मन्वन्तर के वर्णनावसर पर प्रकट किया गया है। इस पुराण में वैदिक दृष्टियों के महत्व की भी विशिष्ट सूचना है। उत्तम ने मित्रवृन्दा नाम दृष्टि द्वारा अपनी परित्यक्त पत्नी को पाताल लोक से प्राप्त किया तथा सरस्वती दृष्टि के द्वारा उस नागकन्या के गूंगेपन को दूर किया, जो इनकी पत्नी के साथ रहने से पिता द्वारा अभिशप्त होने से गूंगी बन गयी थी।

सारस्वत सूक्तों के जप होने के कारण से यह दृष्टि इस नाम से पुकारी जाती है। मार्कण्डेय पुराण का आरम्भ तो महाभारत सम्बन्धी चार प्रश्नों के समाधान के लिए होता है। मार्कण्डेय पुराण में व्रत, तीर्थ या शान्ति के विषय में श्लोक नहीं है, परन्तु आश्रमधर्म,

1. बौद्धालयं विशेद् यस्तु महापाद्यपि वै द्विजः।
   न तस्य निष्कृति दृष्टा प्रायश्चित्तशतैरपि।।
   बौद्धाः पाखण्डिनः प्रोक्ता यतो वेदविनिन्दकाः।। - नारदीय पूर्वार्द्ध 15/50-52

राजधर्म, श्राद्ध, नरक, कर्मविपाक, सदाचार, योग (दत्रातेय द्वारा अलर्क को उपदिष्ट) के विवरण देने में विशेष आग्रह दृष्टिगोचर होता है। इस पुराण के विद्वानों ने विश्लेषण के तीन स्तरों को खोज निकाला है - (1) अध्याय 1-42, जहाँ पक्षी वक्ता के रूप में कहे गये हैं, (2) अध्याय 43 से अन्त तक, जिसमें मार्कण्डेय और उनके शिष्य क्रौष्टुकि का संवाद वर्णित है, (3) शतशती (अ. 83-97) इसी खण्ड के भीतर एक स्वतंत्र अंश मानी जाती है। ये तीनों आपस में असम्बद्ध होने पर भी एकत्र सन्निविष्ट है।

निबन्धकारों ने इस पुराण से अनेक उद्धरण प्रस्तुत किये हैं। कल्पतरू ने मोक्ष के प्रसंग में इस पुराण से लगभग 120 श्लोक योग विषय में उद्धृत किये हैं जो प्रचलित पुराण में मिलते हैं। अपरार्क ने 85 उद्धरण दिए हैं, जिनमें से 42 योग के विषय में तथा अन्य दानादि के विषय में हैं। मार्कण्डेय के अ0 54 में (ब्रह्माण्ड के समान ही) कथन है कि सध्य पर्वत के उत्तर भाग में गोदावरी के समीप का देश जगत् में सर्वाधिक मनोरम है - मेरी दृष्टि में इस पुराण के उद्गम स्थल के विषय में यह संकेत माना जा सकता है। यह पुराण प्राचीन पुराणों में अन्यतम माना जाता है और विषय प्रतिपादन की दृष्टि से पर्याप्त रूप से नवीन तथ्यों का विवरण प्रस्तुत करता है। इसे गुप्तकाल की रचना मानने में किसी प्रकार की विप्रपत्ति नहीं है। जोधपुर से उपलब्ध दधिमती माता के शिलालेख में 'सर्वमंगलमाङ्गल्ये' (सप्तशती का प्रख्यात श्लोक) श्लोक उद्धृत है। इसका समय 289दिया गया है, जिसे भंडारकर गुप्त संवत मानते हैं (608ई.), परन्तु मिराशी इसे ही तद्भिन्न भाट्कि संवत का निर्देश मानकर इसका समय 813ई. मानते हैं। जो कुछ भी हो, यह पुराण 600 ई. से प्राचीनतर है और 400-500 ई. के बीच माना जाना चाहिए। देवी के तीन चरित्रों का वर्णन देवी भागवत में भी आता है (5स्कन्ध, अ0 32)। इन दोनों की तुलनात्मक समीक्षा से यही प्रतीत होता है कि मार्कण्डेय का देवी महात्म्य (सप्तशती) देवी भागवत के एतद्विषयक विवरण से निःसन्देह प्राचीन है। देवी भागवत का विवरण सप्तशती के ऊपर विशेषरूपेण आधृत है।

(८) अग्निपुराण :-

वर्तमान 'अग्निपुराण' विभिन्न शताब्दियों में प्राचीन ग्रन्थों से सार संगृहीत कर निर्मित हुआ है और यही कारण है कि निबन्ध ग्रन्थों में उद्धृत इसके वचन यहाँ उपलब्ध नहीं होते। डॉ0 हाजरा के पास 'वह्निपुराण' का हस्तलेख विद्यमान है, जिसमें निबन्धकारों के अग्निपुराणीय वचन शतशः उपलब्ध होते हैं और इसी कारण वे उसे ही प्राचीन अग्निपुराण मानते हैं। प्रचलित अग्नि पाञ्चरात्रों के द्वारा प्रतिसंस्कृत, वैष्णव पूजार्चा के माहात्म्य-बोधक पुराण है, जो विशेष प्राचीन तथा मौलिक पुराण नहीं है।

इस पुराण के विषय में ज्ञातब्य है कि लोक-शिक्षण के लिए उपयोगी विद्याओं का संग्रह प्रस्तुत करने वाला ग्रन्थ है, जिसे हम आजकल की भाषा में, पौराणिक विश्वकोष के अभिधान से पुकार सकते हैं। इसका उद्देश्य समस्त विद्याओं का संग्रह प्रस्तुत करना है। इस उद्देश्य में ग्रन्थ पूर्णतया सफल हुआ है, क्योंकि उसने तत्तत शास्त्रविषयक प्रौढ़ ग्रन्थों से सामाग्री संकलित कर सचमुच इसे विशेष उपयोगी बनाया है। धर्मशास्त्रीय विषयों के संकलन के साथ ही साथ वैज्ञानिक विषयों का संग्रह भी बड़ा मार्मिक है। ऐसे विषयों में है - आयुर्वेद, अश्वायुर्वेद, गजायुर्वेद, वृक्षायुर्वेद(अ. 282), गोचिकित्सा, रत्नपरीक्षा (अ. 246), धनुर्विद्या (अ. 249-252) वास्तुविद्या (अ. 40, अ. 93-94, अ. 105-106), प्रतिमालक्षण (अ. 49-55) राजधर्म, काव्य विवेचन (अ. 333-347) आदि। इन्ही विद्याओं के विवरण से अग्निपुराण के काल निर्माण का परिचय दिया जा सकता है। अग्निपुराण भोजराज के सरस्वतीकण्ठाभरण का प्रधान उपजीव्य है। फलतः इसे एकादश शती से प्राचीन होना चाहिए। उधर अग्निपुराण का अपना उपजीव्य ग्रन्थ दण्डी का काव्यादर्श है (सप्तम शती)। फलतः सप्तम शती से प्राक्कालीनता इस पुराण की स्वीकार नहीं की जा सकती। अतः अग्निपुराण का रचनाकाल सप्तम-नवम शती के मध्य में कभी मानना सर्वथा समीचीन होगा।

मूल अग्निपुराण वह्निपुराण नाम से प्रख्यात था। स्कन्दपुराण के शिवरहस्य खण्ड का कथन है कि अग्नि की महिमा का प्रतिपादन अग्निपुराण का लक्ष्य है- यह वैशिष्ट्य प्रचलित अग्निपुराणों में न मिलकर वह्निपुराण में ही उपलब्ध होता है, जिससे इसकी मौलिकता सिद्ध होती है, यह प्राचीन पुराण है, जिसकी रचना का काल चतुर्थ शती से कतिपय विशिष्ट अनुष्ठान वंगाल में ही उपलब्ध तथा प्रचलित है। इसलिए इसका उद्भव स्थान बङ्गाल का पश्चिमी भाग प्रतीत होता है।

(९) भविष्य पुराण :-

भविष्यपुराण का रूप इतना बदलता रहा तथा इतने नये-नये अंश उसमें जुटते रहे कि उसका मूल स्वरूप आज इन प्रतिसंस्कारों के कारण बिल्कुल अज्ञेय है। पण्डित ज्वाला प्रसाद मिश्र ने इसका चार विभिन्न हस्तलेखों का निर्देश किया है, जो आपस में नितान्त भिन्न हैं वेंकटेश्वर से प्रकाशित भविष्य में इतनी नवीन बातें जोड़ी गयी है कि इन प्रक्षेपों का इयत्ता नहीं। इसकी अनुक्रमणी नारदीय (अ. 1/100) में, मत्स्य (53/30-31) में तथा अग्नि (272/12) में उपलब्ध होती है, जो प्रचलित पुराणस्थ विषयों से मेल नहीं खाती। तथ्य तो यह है कि आपस्तम्ब के द्वारा उद्धृत होने से इसकी प्राचीनता निःसंदिग्ध है, परन्तु इसके नाम के द्वारा प्रलोभित होकर लेखकों ने अपनी कल्पना का उपयोग कर इसका परिबृंहण खूब

ही किया है। इसके चार पर्व हैं – ब्राह्म, मध्यम, प्रतिसर्ग तथा उत्तर। वायुपुराण भविष्य का निर्देश करता है।

यान् सर्वान् कीर्तियिष्यामि भविष्ये पठितान् नृपान्।

तेभ्यः परेत्र ये चान्ये उत्पत्स्यन्ते महीक्षितः।। – (99/267)

परन्तु यह निर्देश प्राचीन भविष्य के विषय में हैं, प्रचलित भविष्य पुराण के विषय में नहीं। वराहपुराण ने भी भविष्य का दोबार उल्लेख किया है, जिसमें साम्ब के द्वारा इसके प्रतिसंस्कार की, तथा सूर्यदेव की मूर्ति–स्थापना की चर्चा है। बल्लालसेन ने भविष्योत्तर को प्रामाणिक न होने से बिल्कुल ही तिरस्कृत कर दिया है। अपरार्क लगभग 160 पद्य इसके उद्धृत करते हैं अलबरूनी के द्वारा उद्धृत होने से प्रचलित भविष्यपुराण का समय दशम शती मानना कथमपि असंगत न होगा।

(१०) ब्रह्मवैवर्तपुराण :-

प्रचलित ब्रह्मवैवर्त को हम प्राचीन पुराण मानने के लिए तैयार नहीं है। इसका एक विशिष्ट कारण है।

(क) मत्स्य के अनुसार यह राजस पुराण है, जिसमें ब्रह्म की स्तुति की गयी है।[1] स्कन्दपुराणीय 'शिवरहस्य' खण्ड के अनुसार यह पुराण सविता (सूर्य) का प्रतिपादक माना जाता था। मत्स्य के अनुसार इस पुराण का दानकर्ता ब्रह्मलोक में निवास करता है। इस प्रकार ब्रह्मलोक को ब्रह्मा के प्रतिपादक पुराण द्वारा उच्चतम माना जाना स्वाभाविक ही है।

परन्तु प्रचलित ब्रह्मवैवर्त कृष्ण को परात्पर ब्रह्म मानता है और उनका निजी लोक गोलोक है, जिसकी उपलब्धि वैष्णव भक्तों की एक परमाराध्य अभिलाषा है। इतना ही नहीं, इसमें ब्रह्मा की निन्दा भी यत्र–तत्र पाई जाती है। इसलिए हम इस निष्कर्ष पर पहुँचने से पश्चात्पद नहीं होते कि किसी समय में ब्रह्मा–प्रतिपादक पुराण को वैष्णव लोगों ने अपने प्रभाव से अभिभूत कर उसे सर्वतः वैष्णवपुराण बना डाला है। राधा संवलित श्रीकृष्ण ही परमात्मरूप में यहाँ स्वीकृत है।

(ख) इसमें तान्त्रिक सामग्री की विपुलता पायी जाती है, विशेषतः प्रकृति तथा गणेशखण्ड में। तान्त्रिक अनुष्ठान का पुराण में संकलन अर्वाचीन काल की घटना है। नवम्–दशम शती

---

1. पद्म पुराण ब्रह्मवैवर्त को निश्चित रूप से राजस मानता है–

ब्रह्माण्डं ब्रह्मवैवर्त मार्कण्डेयं तथैव च।

भविष्यं वामनं राजसानि निबोध मे।।

– आनन्दाश्रम संहिता उत्तरकाण्ड 264/84

की। यह वैशिष्ट्य मूल पुराण में न होकर उसके अवान्तर कालीन प्रतिसंस्कार में ही निविष्ट किया गया प्रतीत होता है।

(ग) स्मृतिचन्द्रिका, हेमाद्रि का चतुवर्गचिन्तामणि, रघुनन्दन का स्मृतितत्व आदि निबन्धों में तत्तत लेखकों ने ब्रह्मवैवर्त से विपुल वचनों को उद्धृत किया है। वचनों की संख्या 1500 पंक्तियों के आस-पास है, परन्तु प्रचलित ब्रह्मवैवर्त में केवल 30 पंक्तियाँ ही इनमें से प्राप्य हैं - यह स्पष्टतः सूचित करता है कि प्रचलित ब्रह्मवैवर्त मूल पुराण नहीं है।

(घ) कलकत्ते के एशियाटिक सोसाइटी के संग्रह में देवनागरी में लिखित दो हस्तलेख (सं. 3820-3821) हैं, जो पुष्पिका में 'आदिब्रह्मवैवर्तपुराण' नाम से निर्दिष्ट है। इनकी एक विशिष्टता तो यह है कि ये खण्डों में विभक्त नहीं है, प्रत्युत समग्र ग्रन्थ एक ही सूत्र में निबद्ध है। दूसरे इनमें श्लोकों की संख्याएँ प्रचलित ब्रह्मवैवर्त से न्यून है। यह आदि ब्रह्मवैवर्त प्रचलित एतत्पुराण से निश्चयरूपेण प्राचीनतर हैं तथा उस नारदीय पुराण के अनुक्रमणी प्रतिपादक अंश से भी प्राचीन है, क्योंकि नारदीय चार खण्डों में विभक्त प्रचलित ब्रह्मवैवर्त से ही परिचय रखता है। नारदीय के अनुसार यहाँ श्लोकों की संख्या 18 सहस्र होनी चाहिए, जब आज इसमें 22 हजार (बंगवासी संहिता) तथा 25 हजार (वेंकटेश्वर संहिता) उपलब्ध हैं। इससे स्पष्ट है कि नारदीय की अनुक्रमणी-रचना के अनन्तर भी इसमें तीन हजार से लेकर पांच हजार तक श्लोक जोड़े गये हैं।

निष्कर्ष यह है कि चार खण्डों में विभक्त प्रचलित ब्रह्मवैवर्त मूल प्राचीन पुराण नहीं है, प्रत्युत अवान्तर विषयों तथा श्लोकों से समन्वित मध्ययुगीन पुराण है। ब्रह्मा की महिमा का प्रतिपादक मूल ब्रह्मवैवर्त का यह प्रति संस्कृत वैष्णव रूप है, जहाँ कृष्ण की अपेक्षा राधा की ही महिमा सर्वातिशायिनी है।

इस पुराण के उद्गम स्थान का निर्देश ग्रन्थ की अन्तरंग परीक्षा से किया जा सकता है। यह पुराण बंगाल के रीति-रस्मों, विश्वासों तथा आचार-व्यवहारों से विशेषरूपेण परिचय रखता है, तथा उनका वर्णन करता है। ब्रह्मखण्ड के दशम अध्याय में शंकर जातियों की उत्पत्ति का विशिष्ट प्रसंग आता है। यहाँ म्लेच्छ जाति का निर्देश है (10/120), जो मुसलमानों को ही निर्देश करता है। इसके अवान्तर यह श्लोक भी अपने उद्गम प्रदेश की स्पष्ट सूचना देता है -

'म्लेच्छात् कुविन्दकन्यायां जोला जातिर्बभूव ह। (10/121)

जोलार 'जुलाहा' शब्द का वंगीय रूप, म्लेच्छ (अर्थात् मुसलमान) से कुविन्द (बुनकर) की कन्या में उत्पन्न हुआ अर्थात्, वह जात्या मुसलमान ही है। यह बंगाल की स्पष्ट मान्यता तथा दृढ़ विश्वास है। अश्विनीकुमार के वीर्य से विप्रकन्या में 'वैध' की उत्पत्ति होती है।

(10/123)- यह भी बंगाल की ही मान्यता है, जहाँ वैद्य जाति इसीलिए ब्राह्मणों से न्यून सामाजिक प्रतिष्ठा में मानी जाती है। इतना ही नहीं, बंगाल के लोक प्रचलित देवी-देवता की यहाँ पूजा-अर्चना का विशेष विधान है। ऐसी देवियों में षष्ठी, मंगलचण्डी, तथा मनसा देवी का विशिष्ट स्थान है। षष्ठी देवी की उत्पत्ति प्रकृतिखण्ड के 43 अध्याय में, मंगलचण्डी की 44 अध्याय में तथा मनसा (नाग देवी) की उत्पत्ति अध्याय 45 में तथा उनका पूजा विधान अध्याय 46 में है। इन तीनों देवियों की पूजार्चा का भौगोलिक क्षेत्र काशी से पूरब का प्रदेश (भोजपुर) भी है। यद्यपि बंगाल में इनकी ख्याति अधिक है और मध्ययुग के अनेक बंगला काव्यों में- जिन्हें मंगल काव्यों की आख्या से पुकारते हैं, इनसे सम्बद्ध कथाएँ विस्तार से वर्णित हैं। इन प्रमाणों से सिद्ध होता है कि ब्रह्मवैवर्त की अपनी विशिष्ट उद्गमभूमि बंगाल ही है।

इसका समय-निरूपण भी इन्हीं वर्णनों के आधार पर किया जा सकता है। राधा की विशद पूजा तथा अनुष्ठान का विस्तृत वर्णन इस पुराण का समय नवम-दशम शती से प्राचीन सिद्ध नहीं होने देता। राधावल्लभी सम्प्रदाय का प्रभाव इस राधोपासनापरक पुराण के ऊपर मानकर बहुत से विद्वान तो इसे 15वीं शती से पूर्ववर्ती नहीं मानते। म्लेच्छों का निर्देश करने वाला अंश तो मुसलमानों के आगमन के समय तक इस पुराण को खींच लाता है। यह समय निर्देश प्रचलित ब्रह्मवैवर्त पुराण के विषय में है। आदि ब्रह्मवैवर्त तो निःसंदेह एक प्राचीन रचना है।

(११) लिङ्गपुराण

लिङ्गपुराण की श्लोक संख्या इसी पुराण (2/5) में दी गयी है। एकादश सहस्र श्लोक (अत्रएकादशसाहस्रैः कथितो लिग्सम्भवः) तथा नारदीय पुराण (अ. 102) के अनुसार भी यही संख्या निर्दिष्ट है। पूर्वार्द्ध (अ. 108) तथा उत्तरार्ध (अ. 55) में विभक्त शिवपूजा का प्रधान प्रतिपादक यह लिङ्गपुराण निबन्धकारों में पर्याप्तरूपेण प्रसिद्ध रहा है। अध्याय 92 में काशी तथा उससे सम्बद्ध नाना तीर्थों का विस्तृत विवरण काशी की भौगोलिक स्थिति की जानकारी के लिए भी उपादेय है। इस अध्याय में काशी के उद्यानों का बड़ा ही चमत्कारी साहित्यिक वर्णन नाना छन्दों में दिया गया है। उस युग में यह पाशुपतों का केन्द्र बतलाया गया है। अविमुक्त लिग का ही प्राधान्य था, जिस शब्द की व्युत्पत्ति दो प्रकार से दी गयी है। कल्पतरू ने काशी सम्बन्धी इन श्लोकों में से अधिकांश को तीर्थखण्ड में उद्धृत किया है। अपरार्क ने छः श्लोकों को उद्धृत किया है- शिवपूजा तथा ग्रहण के अवसर पर स्नान के विषय में/दान सागर के अनुसार (पृष्ठ 7 श्लोक 64) 6हजार श्लोकों वाला एक दूसरा भी लिङ्गपुराण था,

जिसका उपयोग बल्लालसेन ने नहीं किया। सम्भवतः उस युग में दो लिङ्गपुराण में एक बड़ा 11हजार श्लोकों तथा दूसरा 6हजार श्लोकों वाला।

यह व्रत शैवपुराण तथा अनुष्ठानों की जानकारी देने में बड़ा ही उपयोगी है। उत्तरार्ध के कई अध्याय गद्य में हैं तथा तान्त्रिक प्रभाव के सद्यः प्रतीक हैं। शैव दर्शन के भी अनेक तथ्य बिखरे पड़े हैं। उत्तरार्ध के 13वें अध्याय में शिव की प्रसिद्ध अष्टमूर्तियों के वैदिक नाम दिये गये हैं। जैसे पृथ्वियात्मक शिवमूर्ति का नाम है शर्व, जलीयमूर्ति = भव, अग्निमूर्ति =पशुपति, वायुमूर्ति =ईशान, आकाशमूर्ति = भीम, सूर्यमूर्ति = रूद्र, सोममूर्ति = महादेव, यजमानमूर्ति = उग्र। प्रतयेक मूर्ति की पत्नी और एक पुत्र का भी नाम यहाँ दिया गया है। अ0 96 (पूर्वार्द्ध) में शरभरूपधारी शिव का नरसिंह के साथ वार्तालाप का वर्णन है। अध्याय 98 में विष्णुकृत 'शिवसहस्रनाम' है, जिसमें शिव के नाम तो महत्त्वपूर्ण है, परन्तु वैदिक ग्रन्थों का संग्रह यहाँ न्यून ही दृष्टिगोचर होता है। पाशुपत व्रत के स्वरूप तथा महिमा का विस्तरेण ख्यापन सिद्ध कर रहा है कि लिग्पुराण का विस्तार पाशुपत शैवों के सम्प्रदाय में हुआ। इस सम्प्रदाय का उदय तो द्वितीय-तृतीय शती में हो गया था, परन्तु विशेष अभ्युदय सप्तम-अष्टम शतियों में सम्पन्न हुआ और लिग्पुराण के आविर्भाव काल का भी यही युग है।

इंस तथ्य के पोषक कतिपय प्रमाण दिये जाते हैं। इस पुराण में अश्विनी से ही आरम्भ होने वाले नक्षत्रों का मेषादि राशि तथा सूर्य आदि ग्रहों का उल्लेख मिलता है।

अवतारों में बुद्ध तथा कल्कि के नाम निर्दिष्ट हैं, जिससे इसकी रचना सप्तम शती से प्राक्कालीन सिद्ध नहीं होती। अलबरूनी ने ही (1030ई0) लिग का निर्देश नहीं किया, प्रत्युत उससे परवर्ती लक्ष्मीधर भट्ट ने भी अपने 'कल्पतरू' में लिग्पुराण का बहुशः उद्धरण दिया है। लिग्पुराण के नवम अध्याय में योगान्तरायों का समग्र वर्णन व्यासभाष्य से निश्चितरूप से ग्रहण किया है। व्यासभाष्य का समय षठ शतक से कथमपि घटकर नहीं है। पुराण ने संग्रहबुद्धि से योग के अन्तराय विषयों का संकलन अक्षरंशः योगभाष्य से किया है - व्याधि, संशय, प्रमाण, आलस्य आदि का लिग्पुराण में प्रदत्त लक्षण योगभाष्य से सर्वात्मना लिया गया है। फलतः यह पुराण योगभाष्य से भली प्रकार से परिचय रखता है। लिङ्गपुराण का समय इस प्रकार अष्टम-नवम शती मानना सर्वथा युक्तियुक्त है।

(१२) वराहपुराण :-

यह समग्र तथा वैष्णव पुराण है। इसमें 217 अध्याय और 9654 श्लोक हैं, यद्यपि कतिपय अध्यायों में गद्य-पद्य का मिश्रण है। धर्मशास्त्र के विपुल विषयों का वर्णन यहाँ प्रस्तुत है, जैसे व्रत, तीर्थ, दान, प्रतिभा, तथा तत्पूजा, आशौच, श्राद्ध आदि। कल्पतरु ने इस पुराण से बड़ी संख्या में श्लोकों को उद्धृत किया है। 150 श्लोक व्रत के विषय में तथा 40 श्लोक

श्राद्ध के विषय में उद्धृत हैं। ब्रह्मपुराण (220/44-47) ने 'वाराहवचन' कहकर इस पुराण के दो श्लोकों को उद्धृत किया है। वराह पुराण से भविष्यपुराण निश्चय रूप से प्राचीन है, क्योंकि वराह (अ. 177 श्लोक 34,51) ने भविष्य से दो वचनों को उद्धुत किया है, जिसमें दूसरा संकेत बड़ा महत्त्व रखता है -

भविष्यत्-पुराणमिति ख्यातं कृत्वा पुनर्नवम्।
साम्बः सूर्य प्रतिष्ठां च कारयमास तत्त्ववित्।।

जिसमें साम्ब के द्वारा सूर्य के नवीन मन्दिर की स्थापना का उल्लेख मिलता है। वराह पुराण में तीन विशिष्ट स्थानों पर सूर्यमन्दिर की स्थिति निदिष्ट है- यमुना के दक्षिण में, बीच में कालप्रिय में (कालपी, उत्तर प्रदेश में कानपुर के पास) तथा पश्चिम में मूलस्थान (मुलतान) में। भविष्य पुराण में भी इसी प्रकार के सूर्य के तीन विशिष्ट मन्दिरों का उल्लेख मिलता है। वराहपुराण में नचिकेता की कथा विस्तार से दी गयी है।

वराहपुराण वैष्णवता से आमूल आलुप्त है- इसका परिचय रामानुजीय श्री वैष्णव मत के तथ्यों का विशद प्रतिपादन करता है।

नारायण का आदिदेव के रूप में प्रतिष्ठा, ज्ञानकर्म का समुच्चय, सृष्टि प्रकार भुवनकोश का प्रकार, श्राद्धानुष्ठान प्रक्रिया, श्राद्ध-वर्ज्य पदार्थ, प्रतिद्वादशी के विष्णुपूजन की प्रक्रिया, नानाधातुओं से भागवत प्रतिमा का निर्माण तथा प्रतिष्ठान-आराधन के प्रकार, पञ्चरात्र का प्रामाण्य- वराहपुराण में वर्णित ये समग्र विषय रामानुज सम्प्रदाय में स्वीकृत किये गये हैं। दोनों के सिद्धान्तों में विपुल साम्य का सराव निश्चयेन आदर्शजनक है।

इस पुराण की रचना का काल नवम्-दशम् शती में मानना कथमपि अनुचित नहीं होगा।

(१३) स्कन्दपुराण :-

यह पुराणों में सबसे बृहत्काय पुराण है। श्लोकों की संख्या 81 हजार मानी गयी है। दो प्रकार के संस्करण है खण्डात्मक तथा संहितात्मक। यद्यपि यह पुराण 'स्कन्द' नाम से प्रख्यात है, परन्तु स्कन्द का विशिष्ट सम्बन्ध इसके साथ नहीं मिलता। पद्मपुराण 5/49/2 में स्कन्दपुराण का उल्लेख मिलता है। स्कन्दपुराण के प्रथमखण्ड के किरात के श्लोक की छाया मिलती है (सहसा विदधीत न क्रियाम श्लोक को)। काशीखण्ड के अध्याय 24 से वाणभट्ट की शैली का अनुकरण करते हुए बड़ी सुन्दर परिसंख्या तथा श्लेष दिये गये हैं -

विभ्रमो यत्र नारीषु न विद्वत्सु च कर्हिचित्।
नद्यः कुटिलगामिन्यो न यत्र विषये प्रंजाः।।
वाणेषु गुणविश्लेषो बन्धोक्तिः पुस्तके दृढ़ा।

स्नेहत्यागः सदैवास्ति यत्र पाशुपते जने ।।

यत्र क्षपणका एव दृश्यन्ते मलधारिणः।

प्रायो मधुव्रता एव यत्र चञ्चलवृत्तयः।।

भौगोलिक क्षेत्रों का विस्तृत तथा विशद विवरण प्रस्तुत करना स्कन्द के विविध खण्डों का वैशिष्ट्य है। इसके चतुर्थ खण्ड- क़ाशीखण्ड में काशीस्थ शिवलिंगो का दिशाओं के निर्देशपूर्वक विवरण पढ़ने से आज भी उन लिगे की स्थिति का पता लगाया जा सकता है। अवन्तीखण्ड में नर्मदानदी के तीरस्थ तीर्थो का एक विराट विवरण धार्मिक और भौगोलिक उभय प्रकार का महत्व रखता है। इसी खण्ड के अन्तर्गत रेवाखण्ड में सत्यनारायण की प्रख्यात कथा है।

प्राचीन निबन्धग्रन्थों में स्कन्द के वचन उद्धृत मिलते हैं। मिताक्षरा (याज्ञवल्क्य स्मृति 2/290) ने वेश्या के पद के विषय में इस पुराण को उद्धृत किया है। कृत्य कल्पतरू ने इस पुराण के बहुसंख्यक वचन उद्धृत किये हैं।

काणे महोदय का कथन है कि कल्पतरू ने व्रत के विषय में तो केवल 15 श्लोक उद्धृत किये हैं, परन्तु तीर्थ के विषय में 92, दान के विषय में 44, नियतकाल के विषय में 63, राजधर्म के बारे में 18 श्लोक उद्धृत किये हैं। दानसागर ने दान के विषय में 48 श्लोक दिये हैं। स्कन्द के विशाल रूप पर ध्यान देने से कहना पड़ता है कि धर्मशास्त्रीय निबन्धों में इससे उद्धरण परिमाण में कम ही है। इस पुराण में वेद सामग्री[1] पर्याप्तरूपेण विस्तृत है, जो इसके रचयिता के अलौकिक वैदिक वैदुष्य का संकेत करती है।

यह इतना विस्तृत तथा विशाल है कि इसमें प्रक्षिप्त अंशो को जोड़ने के लिए पर्याप्त अवसर है। अतः समय का यथार्थ निरूपण असम्भव ही है। डॉ0 हर प्रसाद शास्त्री को नेपाल दरबार लाइब्रेरी में इस पुराण का एक हस्तलेख मिला है, जिसका लेखन सप्तम शती की शैली में किया गया है। सब प्रमाणों को एकत्र कर यह कहना अनुचित न होगा कि इसकी रचना सप्तम शती के पूर्वकालीन और नवम्शती से उत्तरकालीन नहीं हो सकती। दोनों के बीच में सम्भवतः यह प्रणीत हुआ।

(१४) वामनपुराण :-

यह स्वल्पाकार वाले पुराणों में अन्यतम हैं। इसमें 95 अध्याय हैं। इसने अपने 12वें अध्याय में भिन्न पदार्थो में श्रेष्ठ वस्तुओं की जो वर्णना की है, उससे इस पुराण के हृदय स्थान का परिचय मिलता है। यह कुरूक्षेत्र मण्डल में उत्पन्न हुआ था- ऐसा मानना सर्वथा

---

1. इसके संक्षिप्त प्रतिपादन के निमित्त द्रष्टब्य - डॉ0 रामशंकर भट्टाचार्य'; 'इतिहास पुराण का अनुशीलन (पृष्ठ 238-246)

उचित है, क्योंकि क्षेत्रों तथा तीर्थों में यह क्रमशः कुरुजाग्ल तथा पृश्रूदक को सर्वाधिक मानता है और दोनों वस्तुएँ कुरुक्षेत्र में विद्यमान हैं :-

क्षेत्रेषु यद्वत कुरूजाग्लं वरम्।
तीर्थेषु तद्वत् प्रवरं पृश्रूदकम्।। - 12/45

वामन अवतार का प्रतिपादक होने के कारण यह मूलरूप में वैष्णवपुराण है; परन्तु, किसी समय में यह शैव रूप में परिणत कर दिया गया और आज इसका यही प्रचलित रूप है। फलतः शिवपार्वती का चरित्र यहाँ विस्तृत रूप से वर्णित है। वामन अपने वर्णनों में आलंकारिक चमत्कृति से मण्डित है, और इसके ऊपर कालिदास का

विशेषतः विषय साम्य के कारण कुमारसम्भव का प्रभाव विशद रूप से अभिव्यक्त होता है। राजा वही जो प्रकृति का रंजन करता है। कालिदास के राजा प्रकृति-रञ्जनात्' का ही भाव रखता है।[1] उमा का नामकरण इसलिए हुआ कि उनकी माता ने उन्हें तपस्या करने से निषेध किया (उ+मा)- यह भी कालिदास की प्रख्यात उक्ति का संकेत है।[2]

कालिदास के कुमारसम्भव का वामनपुराण के ऊपर प्रभव बड़ा ही विस्तृत, गम्भीर तथा मौलिक है। पार्वती तथा बटु का संवाद वामनपुराण में कुमारसम्भव में उपस्थित संवाद से अक्षरशः मेल खाता है- अर्थ में नहीं, प्रत्युक्त शब्द में भी। अनेकत्र छन्द भी समान ही प्रयुक्त है। एक-दो दृष्टान्त पर्याप्त होंगे -

वामन -

कथं करः पल्लकोमलस्ते
समेष्यते शार्थकरं ससर्पम्।। - 51/63
पुरन्ध्रयो हि पुरन्ध्रीणां
गतिं धर्मस्य वै विदुः।। - 52/13
जामित्रगुणसंयुक्तां
तिथिं पुण्यां सुमंगलाम्।। - 52/60

---

1. ततो राजेति शब्दोऽस्य पृथ्व्यिां रञ्जनादभूत्। - वामन - 47/24
तुलना कीजिए -
राजाप्रकृतिरञ्जनात्। - रघुवंश 4/12
राजा प्रजारञ्जन-लब्ध-वर्णः
परन्तपो नाम यथार्थनामा।। रघुवंश 6/21
2. तपसी वारयामास उमेत्येवाब्रवीच्च सा। - वामन पु0 47/24
तुलना कीजिए
उमेति मात्रा तपसो निषिद्धा
पश्चादुमाख्यां सुमुखी जगाम्।। कुमारसंभव 1/26

कुमारसम्भव :-

अवस्तुनिर्बन्धपरे कथं नु ते

करोऽयमामुक्त विवाह कौतुकः।

करेण शम्भोर्वलयीकृताहिना

सहिष्यते तत् प्रथमावलम्बनम्।। - 5/66

प्रायेणैवंविधे कार्ये

पुरन्ध्रीणां प्रगल्यता। - 6/32

तिथौ तु जामित्रगुणान्वितायाम्।। - 7/1

शैव होने पर भी वैष्णव मत के साथ किसी प्रकार के विरोध या संघर्ष की भावना नहीं है। वर्णन सर्वत्र उदार, व्यापक तथा मौलिक है। कालिदास के काव्य के द्वारा प्रचुरता से प्रभावित होने के कारण इसकी रचना का काल कालिदासोत्तर युग है, अर्थात् 600ई. - 900 ई. की बीच वामन पुराण का आविर्भाव मानना उचित है।

वामन पुराण के अध्यायों के विषय में हस्तलेखों का साक्ष्य बड़ी विभिन्नता प्रस्तुत करता है। नारदपुराण में वर्णित विषयानुक्रमणी के आधार पर वामन के दो खण्ड बतलाये गये हैं - पूर्वार्द्ध तथा उत्तरार्ध। वेंकटेश्वर से प्रकाशित संहिता में पूर्वार्द्ध का विषय तो यथार्थतः मिल जाता है, परन्तु उसमें उत्तरार्ध का सर्वथा अभाव है। उत्तरार्ध में माहेश्वरी, भगवती, गौरी तथा गणेश्वरी नाम चार संहिताओं का चार सहस्र श्लोकों में अस्तित्व न तो मुद्रित प्रति में है और न उसके नाना हस्तलेखों में ही। मुद्रित प्रति 6 सहस्र श्लोकों की है (वास्तविक संख्या 5815 श्लोक) जो 95 अध्यायों में विभक्त है।

काशीराज निधि के निर्देश में सम्पादित हस्तलेखों का परीक्षण चार प्रकारों का द्योतक है- (1) देवनागरी हस्तलेखों के साथ पर 83 तथा 84 अध्यायों को सम्मिलित करने पर 94 अध्याय हैं, (2) तेलगु हस्तलेखों में केवल 89 अध्याय ही हैं। पाँच अध्याय (जिनमें कतिपय तीर्थ तथा चार विष्णुस्रोत हैं) बिल्कुल छोड़ दिए गये हैं, (3) शारदा हस्तलेख में 85 अध्याय केवल वर्तमान हैं; (4) अड्यार तथा श्रृंगेरी के हस्तलेखों में अध्यायों की संख्या सबसे कम केवल 67 ही है। इस प्रकार अध्यायों को बड़ी विभिन्नता होने से वामन पुराण के मूल रूप का वर्णन करना कठिन है। नारदीय के अनुसार दश सहस्र श्लोकों का परिमाण तो न तो मुद्रित प्रति में और न हस्तलेखों में भी कथमपि सम्पन्न नहीं होता।

(१५) कूर्म पुराण :-

इसके दो खण्ड हैं - पूर्वार्द्ध (अध्याय 53) तथा उत्तरार्ध (अ. 46) आजकल यह पाशुपत मत का विशेष रूप से वर्णन करता है, परन्तु डॉ0 हाजरा की मान्यता है कि यह

प्रथमतः पाञ्चरात्र मत का प्रतिपादक पुराण था। ईश्वर के विषय में इसका कथन है कि वह एक है (उत्तरार्ध 11/112/15), परन्तु उसने अपने को दो रूपों में विभक्त किया – नारायण और ब्रह्म रूप में (1/9/40) ब्रह्मा, विष्णु और हर के रूप में। महेश्वर की शक्ति का भी विशिष्ट वर्णन मिलता है (पूर्वार्द्ध अ. 12) यह शक्ति चार प्रकार की मानी गयी है – शान्ति, विद्या, प्रतिष्ठा तथा निवृत्ति। ये ही 'तन्त्रशास्त्र' में 'कला' के नाम से संकेतित की जाती है। इन्हीं के कारण परमेश्वर – ठीक पञ्चरात्रों के समान 'चतुर्व्यूह' कहा जाता है। इसी अध्याय में हिमालय कृत देवी का सहस्रनाम भी वर्णित है। इसके उत्तरार्ध में दो गीताएँ हैं– ईश्वरगीता (अ. 1–11) इसमें शैवदर्शन विषयक तत्त्वों का विवेचन है, जिसमें (अ. 11 में) पाशुपत योग का विशद और महत्त्वपूर्ण वर्णन है; और दूसरी व्यासगीता (अ.12–34) में वर्णाश्रम के धर्मो का तथा सदाचार का विशद प्रतिपादन है। भोजन के प्रकार का वर्णन आधुनिकता से संवलित है। कूर्मपुराण की ब्राह्मी संहिता के ही स्वरूप का यह विवेचन है, अन्य संहिताएँ तो आज उपलब्ध नहीं होती। परन्तु नारदीय पुराण में इन तीनों– भागवती, सौरी और वैष्णवी – संहिताओं के भी विषय का संक्षेप दिया गया है, जिससे उनका स्वरूप भली-भाँति समझा जा सकता है।

निबन्धग्रन्थों में कूर्म के उद्धरण अधिक नहीं मिलते। पद्मपुराण के पातालखण्ड में (102/41–42) में कूर्मपुराण का नाम उल्लिखित है तथा एक श्लोक भी उद्धृत किया गया है –

कौर्मे समस्तपापानां नाशनं शिवभक्तिम्।
इदं पद्यं च सुश्राव पुराणज्ञेन भाषितम्।।
ब्रह्महा मद्यपः स्तेनस्तथैव गुरुतल्पगः।
कौर्म पुराणं श्रुत्वैव मुच्यते पतकान्ततः।।

कल्पतरु ने श्राद्ध के विषय में दो श्लोकों को उद्धृत किया है तथा अपरार्क ने कूर्म के तीन पद्य दिये हैं और ये तीनों उपवास के विषय में हैं स्मृतिचन्द्रिका ने एक सौ वचन कूर्म से उद्धृत किये हैं, जिनमें से लगभग 95 श्लोक आह्निक के विषय में है।

पाशुपत -मत का प्राधान्य होने से यह पुराण षष्ठ–सप्तम शती की रचना है, जब पाशुपत मत का उत्तर भारत में, विशेषतः राजपूताना और मथुरा मण्डल में प्राधान्य था।

(१६) मत्स्य पुराण :-

मस्त्यपुराण पुराण–साहित्य में प्राचीनता की दृष्टि से तथा वर्ण्य विषय की व्यापकता की दृष्टि से अपना एक विशिष्ट स्थान रखता है; इसीलिए वामनपुराण मत्स्य को पुराणों में

सर्वश्रेष्ठ अंगीकार करता है (पुराणेषु तथैव मात्स्यम्) इसके देश तथा काल के निर्णय में अनेक मत हैं। प्रथमतः मत्स्य के उत्पत्तिस्थल का विचार कीजिए।

१. देश विचार :-

सबसे विचित्र मत पार्जीटर का है, जो आन्ध्रप्रदेश को इसका उदयस्थल मानते हैं। उनकी धारणा है कि मत्स्य में कलिवंश का वर्णन आन्ध्रनरेश यज्ञश्री के राज्यकाल में द्वितीयशती के अन्त में जोड़ा गया। परन्तु ग्रन्थ की अन्तरंग परीक्षा इस मत की सम्पुष्टि नहीं करती। मत्स्यपुराण के अनुशीलन से नर्मदा नदी की असामान्य प्रतिष्ठा तथा कीर्ति की गाथा अभिव्यक्त होती है।

(क) प्रलय के समय नाश न होने वाली वस्तुओं में नर्मदा नदी यहाँ अन्यतम् मानी गयी है।

एकः स्थास्यसि देवेषु दग्धेष्वपि परन्तप।
सोमसूर्यावहं ब्रह्मा चतुर्लोकसमन्वितः।।
नर्मदा च नदी पुण्या मार्कण्डेयो महानृषिः।
भवो वेदाः पुराणश्च विद्याभिः सर्वतो वृतम्।। - मत्स्य 2/12-14

मत्स्य का यह वचन मनु से देवों को दग्ध हो जाने पर बचने वाले पदार्थों की सूची देता है, जिसमें पुण्यनदी नर्मदा का उल्लेख है। सामान्यतः गंगा पुण्यतमा नदी होने से प्रलयकाल में अपनी स्थिति अक्षुण्ण बनाये रहती है- यह वर्णन आश्चर्य नहीं प्रकट करता; परन्तु नर्मदा नदी को प्रलय में लुप्त न होने का संकेत ग्रन्थकार का विशेष पक्षपात उस नदी की ओर प्रकट कर रहा है।

(ख) नर्मदा का माहात्म्य 9 अध्यायों में (186-195) बड़े विस्तार से दिया गया है। मत्स्य पुराण का लेखक नर्मदा नदी के तीरस्थ छोटे-छोटे स्थानों से भी अपना परिचय अभिव्यक्त करता है, जो किसी दूरस्थ तथा उस स्थान से अपिरिचित लेखक के लिए नितान्त असम्भव होता। एक पूरे अध्याय (अ. 188) में नर्मदा और कावेरी का संगम वर्णित है। यह कावेरी दक्षिण भारत की वह प्रसिद्ध नदी नहीं है, प्रत्युत मध्य भारत मे ओंकारेश्वर के समीप नर्मदा से संगत होने वाली एक क्षुद्र नदी है। यह संगम गंगा-यमुना के समान अत्यन्त पवित्र तथा सद्यः स्वर्गप्रापक बतलाया गया है।[1] नर्मदा तटवर्ती छोटे-छोटे स्थानों से भी यह पुराण परिचित है। यथा 'दशाश्वमेघ' का उल्लेख (192/21) एक छोटा तीर्थ है, जो नर्मदा के उत्तरी तट पर भडोच से आठ मील दूर 'भाडभूत' के नाम से आज विख्यात है। इसी प्रकार कोटितीर्थ की स्थिति इसी नाम से है। इन छोटे-छोटी तीर्थो का वर्णन ग्रन्थकार के नर्मदा प्रदेश से एकदम

1. गङ्गायमुनार्योर्मध्ये यत् फलं प्राप्नुयान्नरः।
   कावेरीसंग्मे स्नात्वा तत् फलं तस्य जायते।। - 188/19

गाढ़ तथा घनिष्ठ परिचय का द्योतक है। इन प्रमाणों के आधार पर मत्स्य पुराण का रचना-क्षेत्र नर्मदा प्रदेश मानना नितान्त उपयुक्त तथा प्रामाणिक है।

२. काल विचार :-

मत्स्य पुराण में धर्मशास्त्रीय विषयों का बाहुल्य है। इस पुराण ने मनुस्मृति तथा याज्ञवल्क्य स्मृति से भी अनेक श्लोकों को आत्मसात् कर लिया है। यह शिव तथा विष्णु इन दोनों देवों के बीच मत्स्य सन्तुलित वर्णन करता है; विष्णु तथा शिव दोनों के अवतारों का वर्णन समान भाव से बहुसंख्यक श्लोकों में करता है। काणे महोदय ने निबन्धों में उद्धृत मत्स्य के श्लोकों का विवरण दिया है (हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र 5खण्ड, 2भाग, पृष्ठ899)। मत्स्य पुराण का एक संक्षेप भी स्वल्प मत्स्य पुराण के नाम से विख्यात है, जिसका कुछ नमूना 'पुराणाम्' में प्रकाशित (खण्ड4, 1963) है। मत्स्य पुराण में प्राचीन वैदिक तथा संस्कृत-साहित्य में हमारी जानकारी बहुत ही कम है। कालिदास के विक्रमोर्वशीयम् नाटक तथा मत्स्य के उर्वशी उपाख्यान (24अध्याय) में आश्चर्यजनक साम्य है। दोनों में घटनाक्रम की समानता सचमुच आश्चर्यकारिणी है। यह निर्णय करना कठिन है कि कौन किसका अधमर्ण है? कालिदास मत्स्य का अथवा मत्स्य कालिदास का? मत्स्य प्राचीन पुराणों में अन्यतम है। प्रक्षेपविहीन सर्वथा सुरक्षित पुराणों में से मत्स्य का स्थान निःसंदेह उन्नत है- यह मेरी दृढ़ मान्यता है। इसका आविर्भाव काल 200ई. से लेकर 400ई. के बीच मानना चाहिए। उक्त अधमर्णता का निर्णय कालिदास के आविर्भाव काल के ऊपर आश्रित है। यदि कालिदास गुप्त युग में उत्पन्न हुए तो निश्चित रूप से उन्होंने मत्स्य पुराण से अपने उक्त नाटक की कथावस्तु को संगृहीत किया। अतः मत्स्य पुराण के वे ही अधमर्ण है।

(१७) गरूडपुराण :-

गरुडपुराण अग्निपुराण के समान ही समस्त उपादेय विद्याओं का संग्रह प्रस्तुत करता है और इसलिए इसें हम 'पौराणिक विश्वकोष' की संज्ञा से पुकार सकते हैं। इस पुराण के दो खण्ड हैं - (1) पूर्वखण्ड (229 अध्याय) तथा (2) उत्तरखण्ड (अध्याय35)। पूरे ग्रन्थ की अध्याय संख्या 264 है। उत्तरखण्ड 'प्रेतकल्प' के नाम से प्रख्यात है और मरणोत्तर प्रेति की गतिविधि, कर्मजन्य, स्थान प्राप्ति आदि यावत् प्रेतसम्बन्धी विषयों का यहाँ संकलन है। पूर्वखण्ड में नाम विद्या सम्बन्धी विवरण कहीं संक्षेप में और कहीं विस्तार में दिए गये हैं। अपने स्वरूप के अनुसार यह पुराण महाभारत, रामायण तथा हरिवंश आदि मान्य ग्रन्थों का सार प्रस्तुत करता है।

धर्मशास्त्रीय विषयों का यहाँ विवरण यमेच्छ मात्रा में है। यहाँ वर्णधर्म का विवरण (अ. 93-106 पर्यन्त) याज्ञवल्क्य स्मृति पर आधारित है। इसमें याज्ञवल्क्य के राजधर्म और

व्यवहार प्रकरण संकलित नहीं है। स्मृति के अनेक वचन ईषत् पाठान्तर के साथ यहाँ संकलित किये गये हैं। कलियुग के विशेष उपादेय (कलौ पाराशरस्मृतिः) पराशर स्मृति का भी सार 107 अध्यायों में, केवल 381 श्लोकों में दिया गया है। नारदपुराण की सूची में यह अंश कथित नहीं हुआ है, जिससे प्रतीत होता है कि यह अंश पीछे जोड़ा गया है। गरुड़ पुराण (अ. 146-167) ज्वर, रक्तपित्त, अतिसार, आदि रोगों के निदान का वर्णन करता है।

विचारणीय है कि गरूड किस आयुर्वेद ग्रन्थ का सार संकलन कर रहा है? वाग्भट की 'अष्टांगहृदयसंहिता' से ही गरूडपुराण ने पूर्वोक्त अध्यायों की सामग्री संकलित की है। दोनों में इतनी अधिक अक्षरशः समता है कि गरुड़ की अधमर्णता के विषय में सन्देह नहीं किया जा सकता। गरूड़ ने इतना ही किया है कि कहीं मूल ग्रन्थ के एक अध्याय के दो-तीन अध्यायों में विभक्त कर दिया है - उदाहरणार्थ -

गरूडपरिच्छेद	वाग्भट
152, 153	= अध्याय - 3
154, 155	= अध्याय 4
156, 157	= अध्याय 5
158, 159	= अध्याय 6

तिब्बती में अष्टांगहृदयसंहिता का अनुवाद मिलता है जिससे वाग्भट द्वितीय का समय अष्टम तथा नवम शती के मध्य में माना जाता है। इसका अनुसरण करने वाले गरूडपुराण का भी यही समय होना चाहिए। अतः यह नवम शती से पूर्वकालीन नहीं हो सकता। गरूड़ पुराण का उल्लेख 'तार्क्ष्यपुराण' के नाम से बल्लालसेन ने 'दानसागर'में किया है। अलबरुनी ने इसका नामाल्लेख किया है तथा भोजराज ने अपने 'युक्तिकल्पतरु' में गरूडपुराण से श्लोक उद्धृत किये हैं फलतः यह पुराण 1000 ईस्वी के उत्तरकालीन नहीं हो सकता। अष्टम-नवम शती में गरूड का निर्माण मानना अप्रासंगिक नहीं होगा।

गरुडपुराण में अध्याय 108 से लेकर 115 तक सामान्य व्यावहारिक नीति और विशिष्ट राजनीति के विषय में श्लोक संगृहीत किये गये हैं। यह अंश कही 'नीतिसार' के नाम से और कहीं 'बृहस्पति संहिता' के नाम से निर्दिष्ट किया गया है। इस अंश के मूल का अन्वेषण डॉ0 लुडविक स्टर्नवाख नामक अमेरिकन विद्वान ने बड़े परिश्रम और अनुसन्धान से

किया है। उनके अनुशीलन का निष्कर्ष यह है कि बृहस्पति संहिता 'चाणक्य – राजनीतिशास्त्र' नामक ग्रन्थ में समुल्लिखित चाणक्य नीतिवाक्यों के साथ एकाकार है। संहिता के श्लोकों की संख्या 390 है। इनमें से 334 श्लोक चाणक्य राजनीति के श्लोकों के साथ समता रखते हैं, 11 श्लोक चाणक्य के द्वारा प्रणीत अन्य ग्रन्थों में मिलते हैं और 5श्लोक अन्य संस्कृत ग्रन्थों में उपलब्ध हैं। इस प्रकार 'बृहस्पतिसंहिता' के केवल 39 श्लोक ही ऐसे हैं जिन्हें इस गरूडपुराण की निजी रचना मान सकते हैं। एक बात और भी ध्यातब्य है। इनमें से 31श्लोक ऐसे भी है, जो चाणक्य के ग्रन्थों में तथा इतर पुराणों में भी उपलब्ध होते हैं। 'चाणक्य-राजनीतिशास्त्र' चन्द्रगुप्त मौर्य के विश्रुत मन्त्री चाणक्य की ही निःसंदिग्ध रचना है- यह कथन विश्वास योग्य नहीं है। तथ्य यह है कि इधर-उधर विकीर्ण नीतिविषयक श्लोक राजनीति में अलौकिक पाटव के कारण सम्मान्य चाणक्य की रचना के रूप में कल्पित कर लिये गये हैं और ऐसे ही श्लोकों का संग्रह ग्रन्थ चाणक्य-राजनीतिशास्त्र है।

हम निश्चितरूपेण जानते हैं कि यह चाणक्य राजनीतिशास्त्र तिब्बती तंजूर में तिब्बती भिक्खु 'रिन-चेन-जोन-पो' के द्वारा अनूदितकर संगृहीत किया गया है। इस भिक्खु का जन्म 955 ई. में हुआ था, जिससे इस तथ्य पर हम पहुँच सकते हैं कि कम से कम दशम शती में यह ग्रन्थ संग्रहीत हुआ था। इस युग में यह नितान्त प्रख्यात था तथा समादृत था। इसीलिए 'गरूणपुराण' में इसे संगृहीत करने की आवश्यकता प्रतीत हुई। चाणक्य के नाम से प्रख्यात अनेक नीति वाक्य केवल पुराणों में ही उपलब्ध नहीं होते, प्रत्युत बृहत्तर भारत के साहित्य में भी -जावा, बरमा, तिब्बत, सिंहल आदि देशों में पाली साहित्य में भी यह सुरक्षित मिलता है। यह चाणक्यनीति का व्यावहारिकता अनुभवप्रवणता तथा सार्वभौम प्रभाव का विस्पष्ट निदर्शन है। फलतः गरूडपुराण की इस बृहस्पति संहिता की रचना नवम शती से भी प्राचीन मानना चाहिए। तिब्बत में जाने तथा वहाँ अनूदित किये जाने के लिए यदि एक शताब्दी का समय हम माने तो 'चाणक्य-राजनीतिशास्त्र' का संकलन काल अष्टम शती में माना जा सकता है और गरूड पुराण में इसका संग्रह उस युग से थोड़ा हटकर – नवम शती के आस-पास होना चाहिए।[1] डॉ0 हाजरा ने गरूडपुराण के उद्भव स्थान को मिथिला में माना है।[2]

---

1. डॉ0 स्टर्नवाख ने 'बृहस्पतिसंहिता' के समस्त श्लोकों की तारतम्य परीक्षा 'चाणक्य - राजनीतिशास्त्र' की मुद्रित और हस्तलिखित प्रतियों के पद्यों के साथ बड़े परिश्रम से की है। इसके लिए द्रष्टब्य उक्त लेखक का एतद् विषयक ग्रन्थ - चाणक्या एप्रोनिस्म इन पुराणस'- पुराणम् (खण्ड 6, 01 जनवरी 1964), पृष्ठ 113-146
2. पुराण (चतुर्थखण्ड) पृष्ठ 354-355

(१८) ब्रह्माण्ड पुराण :-

पुराणों में यही अन्तिम पुराण है। वायु के समान इसके चार विभाग है, जो तत्समान ही नाम धारण करते है। इनमें सबसे बड़ा भाग तृतीय पाद है, जिसके आरम्भ में श्राद्ध का विषय बड़े सांगोपाग रूप में मुख्य तथा आवान्तर प्रभेदों के साथ वर्णित है (अ. 9-20 तथा 879 श्लोकों में)। इनके अनन्तर परशुराम की कथा भी बड़े वैशध के साथ यहाँ प्रतिपादित है। (अ. 21-47 तथा 1550 श्लोकों में)। पुराणकार परशुराम तथा कार्तवीर्य हैहय के संघर्ष को बड़ा महत्व देता है और उसने इस कथा के विस्तार के निमित्त लगभग डेढ़हजार श्लोकों का उपयोग किया है। तदनन्तर राज्य सभा की तथा राजभगीरथ द्वारा गंगा के अनयन की कथा दी गयी है। (अ.48-57)। सूर्य तथा चन्द्रवंश के राजाओं का विवरण अध्याय 59 में दिया गया है। निबन्ध ग्रन्थों में ब्रह्माण्ड के श्लोक मिलते हैं मिताक्षरा में केवल एक श्लोक मिलता है, अपरार्क में 75 (जिनमें से 46 श्राद्ध के विषय में है), स्मृतिचन्द्रिका में 50, परन्तु कल्पतरू में इनकी अपेक्षा कम श्लोक ही - 16श्राद्ध के विषय में और 16 मोक्ष के विषय में उद्धृत हैं। यह पुराण शब्दों की निरुक्तियाँ देने में ब़ड़ी अभिरुचि रखता है।

देश -

सहय पर्वत के उत्तर में प्रवाहित होने वाली गोदावरी नदी वाला प्रदेश भारतवर्ष में समधिक रमणीय तथा मनोरम बतलाया गया है। जिससे अनुमान होता है कि ब्रह्माण्ड के निर्माण का यही विशिष्ट देश था।

ब्रह्माण्ड निश्चयेन परशुराम की महिमा तथा गौरव का प्रतिपादन असाधारण ढ़ंग से करता है। परशुराम का सम्बन्ध भारतवर्ष में पश्चिमी तटवर्ती सह्याद्रि प्रदेश से है। परशुराम जी प्रथमतः महेन्द्र पर्वत (गंजम जिले में पूरबी घाट की आरम्भिक पहाड़ी) पर तपश्चर्या करते थे। समग्र पृथ्वी को दान में दे डालने पर उन्हें अपने लिए भूमि खोजने की जरूरत पड़ीं। उन्होंने समुद्र से वह भूमि मांगी, जो सह्याद्रि तथा अरब सागर के मध्य में संकरी जमीन है। वहीं कोंकण है, जो चित्पावन ब्राह्मणों का मूल स्थल है। इस प्रकार परशुराम से विशेषभावेन सम्बद्ध होने से ब्रह्माण्ड पुराण का उदयस्थल सह्याद्रि तथा गोदावरी प्रदेश में होना सर्वथा सुसंगत है।

काल -

वायु के साथ ब्रह्माण्ड की समधिक समता दोनो के किसी एक मूल की कल्पना को अग्रसर करती है। डॉ0 किरफेल ने अपने ग्रन्थ की भूमिका मं इन दोनों पुराणों के साम्य रखने वाली अध्यायों का विशेष रूप से विश्लेषण किया है। इन दोनों पुराणों के पार्थक्य का युग चतुर्थ शती के आस-पास माना गया है। अर्थात् अनुमानतः 400 ई. के आस-पास

ब्रह्माण्ड ने अपना यह विशिष्ट वैयक्तिक रूप ग्रहण किया। प्रचलित पुराण का समय अन्तरंग परीक्षण के आधार पर निश्चित किया गया है। परशुराम का चरित्र यहाँ 28 अध्यायों में बड़े मनोरंजक विस्तार के साथ निबद्ध किया गया है, जिसकी तुलना महाभारत में निर्दिष्ट तच्चरित से की जा सकती है। वह परिवृहण निश्चित रूप से महाभारत (300 ई.) से उत्तरकालीन है। ब्रह्माण्ड राजनीति सम्बन्धी पारिभाषिक शब्दों का विशेष प्रयोग करता है, जिसमें महाराजाधिराज पदवी महत्व की है।

पर्वतों में सर्वश्रेष्ठ हिमालय की उपमा 'महाराजाधिराज' के साथ दी गयी है (दृष्ट्वा जनैरा साद्यो महाराजाधिराजवत्। ब्रह्माण्ड 3/22/28)। इस शब्द का प्रयोग उपाधि के रूप में गुप्त नरेशों ने किया, जिनके करद राजा सामन्त नाम से गुप्तों के अभिलेखों में व्यवहृत है। यह पुराण कान्यकुब्ज के भूप का निर्देश करता है (3/41/32) जो निश्चय रूप से गुप्त नरेशों के उत्तरकालीन मौखरि राजा का सूचक माना जा सकता है। कालिदास के काव्यों का तथा उनकी वैदर्भी रीति का प्रभाव इस पुराण के वर्णनों पर है। इन सब उपकरणो का सम्मिलित निष्कर्ष यह है कि ब्रह्माण्ड की रचना गुप्तोत्तर युग में अर्थात् 600 ईस्वी तक तीन शताब्दियों में इसके प्रतिसंस्कार का समय न्यायतः माना जा सकता है।[2]

---

1. सह्यस्य चोत्तरान्तेषु यत्र गोदावरी नदी।
   पृथिव्यामपि कृत्स्नायां स प्रदेशो मनोरमः।।
   तत्र गोवर्धनं नाम पुरं रामेण निर्मितम्। - ब्रह्माण्ड पुराण 2/16/43-44
   गोवर्धन के लिए द्रष्टव्य - काणे हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र भाग 4
2. द्रष्टव्य Date of the Brahmanda Purana by S.N. Roy (Purana Vol. no. 2, July 1963) P.P. 305-319

अध्याय द्वितीय
आयुर्वेद परिचय

अध्याय - द्वितीय
आयुर्वेद परिचय

आयुर्वेद की उत्पत्ति कैसे हुई, कब हुई और आयुर्वेद के पढ़ने से क्या लाभ है? इन प्रश्नों के उत्तर देने से पूर्व हमें यह बतलाना आवश्यक है कि 'आयुर्वेद' किसे कहते हैं; क्योंकि आयुर्वेद का पढ़ने वाला जब तक आयुर्वेद का अर्थ न समझेगा उस ओर उसकी रूचि कदापि नहीं होगी।

ऋषियों ने लिखा है "शरीर इन्द्रिय, मन और आत्मा के संयोग से या मेल को 'आयु' अर्थात् उम्र कहते हैं और जिस शास्त्र से आयु का ज्ञान और उसकी प्रारित होती है, उसे आयुर्वेद कहते हैं। चरक मुनि ने लिखा है -

हिताहितं सुखं दुःखमायुस्तस्य हिताहितम्।
मानञ्च तत्र यत्रोक्तमायुर्वेदः स उच्यते।।

जिसे आयु के हिताहित का ज्ञान और उसका परिणाम मालूम हो, उसे आयुर्वेद कहते हैं। और भी लिखा है -

आयुर्हिताहितं व्याधिं निदानं शमनं तथा।
विद्यते यत्र विद्वद्भिः स आयुर्वेद उच्यते।।

जिसकी आयु का हित, अहित, रोग का निदान और शमन हो- उसको विद्वान आयुर्वेद कहते हैं।

इस जगत में कोई ऐसा विरला ही प्राणी होगा, जो दीर्घायु न चाहता होगा। जीवन का ऐसा मोह है, कि घोर कष्टों में फँसा प्राणी, यद्यपि असहाय शारीरिक और मानसिक क्लशों के मारे जबान से मृत्यु का आवाहन करता रहता है, किन्तु जब मृत्यु सामने दिखलायी देती है, तब और भी कुछ दिन जीते रहने की आकांक्षा प्रकट करता है। इससे सिद्ध होता है कि प्रत्येक प्राणी जो इस जगत् में आया है, जल्दी ही यहाँ से विदा होना नहीं चाहता है। जब यही बात है, तब मनुष्य मात्र को थोड़ी या बहुत, वह विद्या अवश्य जिससे रोगों का निदान, कारण और उसकी शान्ति के उपाय मालूम हों। रोग होने का कारण हैं, कौन रोग है? इस रोग का नाश कैसे होगा, किन बातों से आयु की बृद्धि और किनसे क्षय होता है, मनुष्य किस तरह अकाल मृत्यु से बच सकता है और किस तरह परमायु की प्राप्ति हो सकती है- ऐसी-ऐसी बातें, 'आयुर्वेद' में विस्तार से लिखी हैं', इसलिए प्रत्येक मनुष्य को जो अपना या पराया भला चाहता है संसार में कोई बड़ा काम करने का अभिलाषी है, आयुर्वेद विद्या अवश्य दिल लगाकर पढ़नी, समझनी और सीखनी होगी।

आयुः कामयमानेन धर्मार्थसुखसाधनम्।

आयुर्वेदोपदेशेषु विधेयः परमादरः।। - वाग्भट

संसार के सभी अभीष्ट कार्यो- धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को सिद्धि स्वस्थ्य शरीर और दीर्घ आयु से ही हो सकती है। अतः दीर्घायु और स्वास्थ्य की कामना करने वाले प्रत्येक मानव को आयुर्वेद का ज्ञान प्राप्त करना और उसके उपदेशों का पालन करना चाहिए।

शरीर, इन्द्रिय, मन और चेतन धातु आत्मा इन चारों के संयोग अर्थात् जीवन को ही 'आयु' और इस आयु-सम्बन्धी समस्त ज्ञान को आयुर्वेद कहते हैं। यह आयुर्वेद अनादि है, क्योकि सृष्टि के आरम्भ से ही जीवन और स्वास्थ्य - रक्षार्थ वायु, जल, अन्न आदि पदार्थो तथा उनके समुचित प्रयोग की आवश्यकता की अनुभूति के साथ ही विविध साधनों एवं उपायों का अन्वेषण और उनका उपयोग भी प्रारम्भ हुआ। यद्यपि परिस्थिति वशात् उनमें अनेक परिवर्तन भी होते आए, किन्तु देशकाल आदि भेद से किञ्चित न्यूनाधिक होते हुए भी द्रव्यों के गुणों या प्राणियों के स्वभाव में मौलिक अन्तर कदापि न हुए और न हो सकते हैं। इसी प्रकार स्वस्थातुर - परायण आयुर्वेद के परिस्थितिवशात् उन सिद्धान्तों के आधार पर प्रयुक्त द्रव्यों एवं साधनों में विविधता और विचित्रता होना स्वाभाविक है। जैसे- महास्रोत से संसक्त किसी निजी या आगन्तुक शल्य के निर्हरण रूप सिद्धान्तों के उपायों-वमन, विरेचन, वस्ति व शास्त्रकर्म आदि रूपों में अनेकता हो सकती है। शल्याहरण सिद्धान्त सर्वमान्य, सार्वभौम और त्रिकालबाधित होगा; इसमें दो मत नहीं हो सकते।

इससे यह भी सिद्ध है कि आयु सम्बन्धी समस्त ज्ञान आयुर्वेद का विषय है और आयुर्वेद को किसी एक देश, काल, भाषा या व्यक्ति की सीमा में बाँधा नहीं जा सकता है। विचारद्योतन मात्र एक ही उद्देश्य वाली विविध भाषाओं की वर्णमाला और व्याकरण की विविधता की ही भाँति त्रिदोषवाद, जीवाणुवाद या अन्य किसी भी वाद के अनुसार वर्णित चिकित्सा और स्वास्थ्य के नियमों का भी एक ही उद्देश्य होता है -

'स्वस्थस्य स्वास्थ्यरक्षणमातुरस्य विकारप्रशमनेऽप्रमादः।

हाँ, आयु सम्बन्धी विविध व्यक्तियों और क्षेत्रों में विकीर्ण ज्ञान को संकलित कर ग्रन्थरूप में निबद्ध करने या संहिता का रूप देने का श्रेय किसी भी देश या व्यक्ति को दिया जा सकता है। साथ ही किसी भी एक सिद्धान्त की वैज्ञानिकता का मापन उसके त्रिकालबाधिता सार्वभौम तथ्य और उपयोग द्वारा किया जा सकता है। इस सम्बन्ध में उपलब्ध इतिहास से प्रमाणित है कि हमारे देश की सभ्यता और संस्कृति प्राचीनतम होने के कारण प्राचीनतम आयुर्वेद संहिताकार भी इसी देश में हुए और उनकी संहिताओं में वर्णित त्रिदोषादि सिद्धान्त आज भी अखण्डित और ध्रुव सत्य हैं। हाँ, जिन्हें इनको समझने की शक्ति ही न हो

या जो आँखे होते हुए भी उन्हें मूँद कर चलते हों, उनके सम्बन्ध में इतना ही कहना है कि 'नोलूकोऽप्यवलोकते यदि दिवा सूर्यास्त किं दूषणम्'? सर्वप्रथम देवताओं में ब्रह्मा से प्रजापति, उनमें अश्विनीकुमारों और उनसे इन्द्र ने आयुर्वेद का अध्ययन किया तथा उनसे क्षत्रिय, भारद्वाज और धन्वन्तरि एवं उनके शिष्य-प्रशिष्यों ने आयुर्वेद का अध्ययन कर मानव समाज में उसका प्रचार किया। भविष्य में होने वाली सन्तति में उत्तरोत्तर आयु एवं बुद्धि की अल्पता का ध्यान कर समूचे आयुर्वेद को काय चिकित्सा, शल्यतन्त्र, शालाक्य, कौमारभृत्य, अगदतन्त्र, भूतविद्या, रसायन और वाजीकरण : इन आठ अंगो में विभक्त कर प्रत्येक अंग की अनेक संहिताओं को बनाया। इनमें कायचिकित्सा और शल्यतंत्र का व्यापक उपयोग होने के कारण इन दो अंगो को अधिक महत्व प्राप्त हुआ। तथा व्यापकता अर्थगंभीर, विशदता, भाषासारस्य, सुबोधता आदि अनेक गुणों के कारण काय चिकित्सा में अग्निवेशसंहिता और शल्यतन्त्र में सुश्रुतसंहिता को सर्वाधिक आदर मिला। इन संहिताओं में भी समय-समय पर चरक एवं दृढ़बल तथा नागार्जुन प्रभृति प्रतिसंस्कर्ताओं द्वारा उनके संशोधन, परिवर्तन और परिवर्धन होते आए।

आज से पाँच हजार वर्ष पूर्व भारतीय आयुर्वेद अत्यन्त विकसित था। महाभारत की युद्धाग्नि में लाखों वीरों के साथ सहस्रों विद्वान और वैज्ञानिक भी लीन हुए। फिर भी आज से दो सहस्र वर्ष पूर्व तक आयुर्वेद का रूप विकसित ही था। तब तक अनेक विदेशीय विद्वान यहाँ आकर आयुर्वेद का अध्ययन करते रहे तथा हमारे देश के अनेक विद्वान विदेशों में भी सम्मानपूर्वक अध्यापन कार्य में संलग्न रहे। समय-समय पर वे विदेशी विद्वानों के भी उपयोगी अनुभवों का अपने ग्रन्थों में समावेश कर भारतीय आयुर्वेद को सुपुष्ट करने में संकुचित न होते थे। द्वीपान्तर, वचा, पारसीक यवानिका, रूमीनस्तगी आदि द्रव्यों का आयुर्वेदीय ग्रन्थों में समावेश इसका दृढ़ प्रमाण है।

इस प्रकार ज्ञान का आदान-प्रदान करते हुए हमारे देश के विद्वान आयुर्वेद शास्त्र के परिबृंहण में सतत प्रयत्नशील रहे। प्राचीन ग्रन्थों में ऐसे अनेक अद्भुत चमत्कारों का उल्लेख मिलता है, जिनकी तथाकथित अत्युन्नत अर्वाचीन पाश्चात्य वैद्यों को कल्पना तक नहीं है। वंशपरम्परागत रोग विषयों की चमत्कारिक चिकित्सा-विधि एवं द्रव्यों का ज्ञान कही-कहीं अपढ़ ग्रामीण जनों तक में अब भी विद्यमान है।

पूर्वोक्त विवरणों से यह भी सिद्ध है कि हम देवताओं की अत्युन्नत, सुविकसित, सुसभ्य एवं विज्ञ पूर्वजों की सन्तान हैं। हमारा दिन-प्रतिदिन ह्रास हो रहा है और हम अवनति की ओर प्रगति कर रहे हैं। अतः हमारा कर्त्तव्य है कि हम अब भी सावधान हों, अर्वाचीन विद्वानों के विविध उपयोगी ज्ञान और अविष्कारों की उपेक्षा न करते हुए प्राचीन ज्ञान का भी

मनन, परिशीलन और प्रयोग करने में तत्पर रहें। 'स्थालीपुलाकन्यायेन' प्राचीन संहिताओं में वर्णित अनेक सिद्धतम विधियों एवं सिद्धान्तों के साथ उन विषयों का भी परिशीलन अधिक परिश्रम और दृढ़ता के साथ करें जो आज हमारी अल्पज्ञतावश अस्पष्ट या असंगत प्रतीत हो रहे हों। एवं इनको कपोलकल्पना आदि समझने का भार उन्हीं पर रहने दें, जिनका आधुनिक विकासवाद में विश्वास है और जो अपने को बन्दरों की औलाद तथा मूर्खों की सन्तान समझने में ही गर्व का अनुभव करते हैं।

दैवदुर्विपाक से हमारे देश में भी पारस्परिक ईर्ष्या द्वेषजनित कलहों और देश पर हुए विदेशियों के आक्रमणों से अनेक राजनीतिक एवं सामाजिक परिवर्तन हुए तथा पूर्वोक्त परस्परानुग्रह और आदान-प्रदान पूर्वक ज्ञान-विज्ञान के उन्नतिपथ में अवरोध ही नहीं, अपितु उनका ह्रास होना प्रारम्भ हुआ। नवीन अनुसन्धानों का होना तो दूर रहा, प्राचीन ज्ञान का भी गोपन होने लगा। अनेक ग्रन्थरत्न चोरी गये और लूटे गये। इतना ही नहीं कुछ मदान्ध विजेताओं ने अग्निकुण्ड में हमारी ग्रन्थराशियों की आहुति देने की अदूरदर्शिता का भी परिचय दिया। इस प्रकार विविध विषयों के साथ आयुर्वेद के भी अनेक ग्रन्थरत्न लुप्त हो गये। आज से सहस्र वर्ष पूर्व तक के टीकाकारों द्वारा उल्लिखित अनेक ग्रन्थ भी नाम शेष रह गये हैं। बचा हुआ ज्ञान भी विभिन्न विशेषज्ञों में विखरा रह गया। इसका परिणाम यह हुआ कि एक विषय का विशेषज्ञ भी अवान्तर विषय से सर्वथा अनभिज्ञ रहने लगा, जबकि आवश्यकता इस बात की है कि एक विषय के विशेषज्ञ को दूसरे विषयों के मौलिक सिद्धान्तों से भी परिचित होना चाहिए।

आयुर्वेद शास्त्र के उद्देश्य :-

आयुर्वेद शास्त्र के उद्देश्य दो हैं; एक रोग से पीड़ित व्यक्तियों को रोग से मुक्त करना, और दूसरा स्वस्थ पुरूषों के स्वास्थ्य की रक्षा करना। इन्हीं दो उद्देश्यों का मुख्य आधार 'आयु' का लक्षण 'चरक' ने दिया है-

शरीरेन्द्रियसत्वात्मसंयोगो धारि जीवितम्।
नित्यगचानुबन्च पर्य्यायिशयुरूच्यते।।[1]

अर्थात् शरीर-इन्द्रिय-मन और आत्मा के संयोग का नाम आयु है; अर्थात् आयुः - 'एति-गच्छति'- इति आयुः, निरन्तर चलते रहने से इसका नाम आयु है; इसी को धारि (शरीर को सड़ने नहीं देती); जीवित, नित्यग, अनुबन्ध- इन पर्यायों से कहा जाता है।

1. चरक सू0अ0 1/42

आयुः कामयमानेन धर्मार्थसुखसाधनम्।
आयुर्वेदोपदेशेषु विधेयः परमादरः।। 2।।

धर्म, अर्थ और सुख का साधन आयु है; इस आयु की जिस पुरुष को चाह हो; उसे चाहिए कि वह आयुर्वेद के उपदेशों में (कथनों में) अतिशय आदर करे।

जिससे लोक धारण किया जाता है, वह धर्म है, धारणाद्धर्म इत्याहुः। गीता में कहा है-

उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन। नरके नियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम।

महाभारत में कहा है- ऊर्ध्वबाहुर्विरौम्येष न च कश्चिच्छृणोति मे। धर्मादयश्च कामश्च स धर्मः किं न सेव्यते।। इसी प्रकार धर्मो धारयति प्रजाः' अर्थात् धर्म ही प्रजा को धारण करता है, धर्म से ही अर्थ और काम होते हैं; जिन लोगों का धर्म नष्ट हो जाता है' उनका नरक में वास होता है। इसलिए धर्म की रक्षा, उसका पालन प्रत्येक व्यक्ति के लिए आवश्यक है। कौटिल्य ने कहा है 'सुखस्य मूलं धर्मः' सुख का मूल धर्म है। इस धर्म का साधन यह शरीर है।

सुख संसार में कई प्रकार का है; किसी के लिए पुत्र-पौत्रादि सुख है, किसी के लिए धन-दौलत सुख है, किसी के लिए स्त्री सुख है; और किसी के लिए घुडदौड़ सुख है। परन्तु आयुर्वेद की दृष्टि से 'आरोग्यता' ही सुख है; इसी से भगवान चरक ने कहा है कि सुखसंज्ञकमारोग्यं विकारो दुःखमेव च।

यह सुख दो प्रकार का है - तादात्विक अर्थात् क्षणिक या तात्कालिक और आत्यन्तिक अर्थात् मोक्षसुख। चरक में भी कहा गया है -

तदात्वसुखसंज्ञेषु भावेष्वज्ञोऽनुरज्यते।
रज्यते न तु विज्ञाता विज्ञाने ह्यमलीकृते।।

ये दोनों सुख आयु अर्थात् जीवन के साथ जुड़े हुए हैं। इसलिए आयु के ज्ञान को बताने वाले कथनों में अतिशय आदर करना चाहिए। क्योंकि धर्म से पारलौकिक सुख है; अर्थ और काम से एहलौकिक सुख है, परन्तु आयुर्वेद से ऐहलौकिक और पारलौकिक दोनों ही प्रकार का सुख है; जैसा कि चरक ने कहा है -

तस्यायुषः पुण्यतमो वेदा वेदविदां मतः।
वक्ष्यते यन्मनुष्याणां लोकयोरुभयोर्हितम्।।
ब्रह्मा स्मृत्वाऽयुषो वेदं प्रजापतिमाजिग्रहत्।
सोऽश्विनौ तौ सहस्राक्षं सोऽत्रिपुत्रादिकान्मुनीन्।।
तेऽग्निवेशादिकांस्ते तु पृथक् तन्त्राणि तेनिरे।

आयुर्वेद की प्रामाणिकता :-

ब्रह्मा ने आयुर्वेद का स्मरण करके प्रजापति को दिया-सिखाया। प्रजापति ने अश्विनीकुमारों को; उन्होंने इन्द्र को और इन्द्र ने आत्रेय मुनियों को दिया। इन मुनियों में अग्निवेश आदि ने पृथक-पृथक तन्त्र बनाये।

आयुर्वेद उत्पन्न हुआ, ऐसा कोई आयुर्वेदशास्त्र नहीं कहता; सभी उसको नित्य मानते हैं; उसका अभिव्यक्तिकाल ही उसका आदि कहा जाता है। यथा चरक में -

सोऽयामायुर्वेदः शाश्र्वतो निर्दिश्यते, अनादित्वात्,
स्वभावसंसिद्धलक्षणत्वात्, भावस्वभावनित्यत्वाच्च।
न हि नाभूत् कदाचिदायुषः सन्तानो, बुद्धिसन्तानो वा,
शाश्वतश्चायुषो वेदिता।

इसलिए ब्रह्मा ने आयुर्वेद को उत्पन्न नहीं किया, अपितु जिस प्रकार उसकी इच्छा से सृष्टि रचना हुई; उसी प्रकार उसके स्मरणमात्र से आयुर्वेद शास्त्र आविर्भाव हुआ। उसके आगे शिष्य परम्परा चली। ग्रन्थ का या विद्या का परिष्कार उसके पढ़ाने से होता है, साथ ही गुरू ऋण से मुक्ति का दान करने से होती है इसलिए चक्रपाणि ने कहा है -

यो हि गुरूभ्यः सम्यगादाय विद्यां न प्रयच्छत्यन्तेवासिभ्यः
स खल्वृणी, गुरूजनस्य महदेनो भवति।

इसलिए गुरू परम्परा के साथ-साथ शिष्य-परम्परा भी चलती है। अन्त में योग्य शिष्य न मिलने से अग्निवेश आदि ने अपने तन्त्र बनाये। जैसे -

अथ भेलादयश्चक्रुः स्वं स्वं तन्त्रं कृतानि च।
श्रावयामासुरात्रेयं सर्षिसङ्घं सुमेधसः।।

इस शास्त्र का उद्देश्य ही सब प्राणियों पर दया करना है

आयुर्वेद के आठ अंग :-

कायबालग्रहोर्ध्वाग्शल्यद्रंष्टाजरावृषान्।।
अष्टावंगानि तस्याहुश्चिकित्सा येषु संश्रिता।

आयुर्वेद के आठ अंग - काय चिकित्सा, बाल चिकित्सा, ग्रह चिकित्सा, ऊर्ध्वांगचिकित्सा, शल्यचिकित्सा, दष्ट्राचिकित्सा, जराचिकित्सा (रसायन), कृषचिकित्सा (वाजीकरण); चिकित्सा के ये आठ अंग हैं, इन आठ अंगो में सम्पूर्ण चिकित्सा का समावेश होता है।

काय से अभिप्राय सम्पूर्ण शरीर का है; इसकी चिकित्सा काय चिकित्सा है। प्रायः रसादि सम्पूर्ण शरीर में फैले हैं, इनके दोष से ही ज्वर, रक्तपित्त आदि सब विकार होते हैं

अथवा 'कायति शब्दं करोतीति कायो जाठराग्निः'- अर्थात् काय शब्द का अर्थ जठराग्नि है- इसकी जिसमें चिकित्सा है, वह काय चिकित्सा है जैसा कि कहा है -

जाठरः प्राणनामाग्निः काय इत्यभिधीयते।

जाठरोभगवानग्निरीश्वरोऽन्नस्य पाचकः।।

गीता में भगवान् ने कहा है -

अहंवैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः।

प्राणपानयुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम्।।

अग्नि की जिसमें चिकित्सा है वह. काय चिकित्सा है। इसलिए चरक ने कहा है शान्तेऽग्नौ म्रियते, युक्तेचिरञ्जीवत्यनामयः। रोगी स्याद् विकृते मूलमग्निस्तस्मान्निरुच्यते।।

बाल चिकित्सा का दूसरा अर्थ कौमारभृत्य है।

ग्रहचिकित्सा का अर्थ- भूतविद्या है जिसके लिए दैवव्यपाश्रय चिकित्सा की जाती है। इसका लक्षण 'भूतविद्या नाम देवा सुरगन्धर्वयज्ञक्षरक्षःपितृ पिशाचनागग्रहधुपसृष्टचेतसां शान्तिकर्मबलिहरणादिग्रहोपशमनार्थम्।[1]

ऊर्ध्वांगचिकित्सा का दूसरा अर्थ शालाक्यचिकित्सा है, इस चिकित्सा में मुख्य चिकित्सा शलाका से की जाती है; अथवा गले से ऊपर के सब अवयवों में आँख मुख्य है- आँख के नष्ट होने से मनुष्य के लिए दिन और रात में कोई अन्तर नहीं रहता- उसके लिए सब अन्धेरा होता है। और आँख के रोग सबसे अधिक हैं, उन रोगों में शलाका का उपयोग होता है- इसीलिए कहा है- 'शलाका पटलवेधनी, तस्याः कर्म शालाक्यम्।

शल्य चिकित्सा का अर्थ शल से सम्बन्धित चिकित्सा से है। शल का अर्थ हिंसा करना है; उससे सम्बन्धित शास्त्र शल्यशास्त्र है। दंष्ट्राचिकित्सा से अभिप्राय विष चिकित्सा से है।

जरा चिकित्सा से अभिप्राय रसायन से है, रसायन का अपना लाभ- लाभोपायो हि शक्तानां रसादीनां रसायनम्।' अर्थात् प्रशस्त रस आदि धातुओं के लाभ का उपाय ही रसायन है, शरीर के रस आदि धातु उत्तम रहे तो जरा-बुढ़ापा नहीं आती। वृष चिकित्सा से अभिप्राय वाजीकरण से है। वाज का अर्थ शुक्र है, वह जिसमें रहता है वह वाजी है और जिस चिकित्सा से आवाजी (शुक्ररहित) को वाजी (शुक्रवाला) किया जाता है; वह वाजीकरण है। इसी से कहा गया है- **'वाजीकरणमन्विच्छेत् सततं विषयीपुमान्।'**[2]

महर्षि आत्रेय ने राजा इन्द्र से आयुर्वेद सीखा। उन्होंने अग्निवेश, जातुकर्म, पराशर, क्षीरपाणि, और हारीत को आयुर्वेद की शिक्षा दी। इन्होंने आयुर्वेद में पारदर्शिता प्राप्त करके,

1. सु0सू0अ01
2. अष्टांगहृदयम् - कविराज अत्रिदेवगुप्त

अपने-अपने नाम से अलग-अलग ग्रन्थ लिखे।

अग्निवेश, हारीत आदि ऋषियों ने ग्रन्थों का सार- मर्म में लेकर और अपनी ओर से कुछ घटाबढ़ाकर चरक आचार्य ने अपने नाम से एक ग्रन्थ रचा। यही ग्रन्थ आजकल 'चरक' के नाम से संसार में प्रसिद्ध है।

'चरक' की संसार में बड़ी प्रतिष्ठा है। कहते हैं 'चरक' पढ़े बिना जो चिकित्सा करता है, वह वैद्य नहीं यमदूत है। पाश्चात्य विद्वानों ने भी लिखा है, "यदि संसार में चरक की रीति से चिकित्सा की जाय, तो संसार आजकल की तरह पीड़ित न हो।" हमारे यहाँ वाले भी चिकित्सा के लिए चरक की बड़ी तारीफ करते हैं। कहा है -

निदाने माधवः श्रेष्ठः सूत्रस्थाने तु वाग्भटः।
शारीरे सुश्रुतः प्रोक्तः चरकस्तु चिकित्सते।।

रोगों का निदान-कारण जानने के लिए माधव निदान सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ है। सूत्रों के लिए 'वाग्भट्ट' सर्वोत्तम है। शारीरिक ज्ञान के लिए सुश्रुत और चिकित्सा के लिए चरक सबसे उत्तम है।

चरक में गद्य और पद्य दोनों हैं यह बड़ा कठिन ग्रन्थ है, इसी से साधारण वैद्य नहीं पढ़ते। पर यह भी कहा जा चुका है कि चरक बिना अच्छी चिकित्सा नहीं आती, इसलिए वैद्यक का व्यवसाय करने वाले को चरक अवश्य पढ़ना चाहिए। यह ग्रन्थ सूत्रस्थान, विमानस्थान प्रभृति आठ भागों में विभक्त है।

सूत्रस्थान में हजारों काम की बातें संक्षेप में बड़ी ही ख़ूबी से लिखी गयी हैं। इस भाग के पढ़ने से वैद्य को काम की हजारों बातें मालूम हो जाती हैं। विमानस्थान में पदार्थो और रसायन अर्थात् फिजिक्स और केमिस्ट्री का संक्षिप्त वर्णन है। इसमें न्याय-शास्त्रका अधिक अंश है। शरीर स्थान में शरीर के अंगो का वर्णन के सिवाय, वेदान्त, सांख्य और वैराग्य का जिक्र बड़ी ही खूबी से किया गया है। आठवाँ सिद्ध स्थान है। इसमें कुछ सवाल जवाब बड़े ही काम के हैं सारांश यह है कि इस ग्रन्थ का प्रत्येक भाग बड़ा ही उपयोगी है।

चरक के बाद सुश्रुत का स्थान है। सुश्रुत महात्मा विश्वामित्र के पुत्र थे। उन्होंने अपने पिता की आज्ञा से प्राणियों के उपकारार्थ एक सौ ऋषि-पुत्रों के साथ काशी जाकर काशिराज दिवोदास से आयुर्वेद सीखा। कहते हैं महाराज दिवोदास धन्वन्तरि के अवतार थे। उन्होंने इन्द्र के कहने से इस लोक में जन्म लिया था। काशिराज सभी ऋषि पुत्रों को आयुर्वेद सिखाते थे मगर उनके शिष्यों में सुश्रुत सबसे तेज थे। आप गुरु के उपदेशों को खूब ध्यान लगाकर सुनते थे। कहते हैं इसी से आपका नाम सुश्रुत पड़ गया।

सुश्रुत ने पढ़लिखकर अपने नाम का जो ग्रन्थ लिखा, उसी को आजकल सुश्रुत कहते हैं। इस ग्रन्थ में जर्राही या शल्य चिकित्सा (सर्जरी) खूब अच्छी लिखी है। सुश्रुत से अच्छी अस्त्र-चिकित्सा हमारे किसी और ग्रन्थ में नहीं है। इसमें रोगों की संख्या और चिकित्सा भी चरक से अधिक है। यह ग्रन्थ पाँच भाग और एक सौ बीस अध्यायों में विभक्त है। इन पाँचों के सिवा एक उत्तरतंत्र और है उसमें 66 अध्याय हैं और उसमें चिकित्सा खूब अच्छे ढ़ंग से लिखी है। चरक से यह ग्रन्थ कम नहीं है, अतः वैद्यों को इसे भी अच्छी तरह से पढ़ना चाहिए, क्योंकि केवल एक शास्त्र पढ़ने से कोई वैद्य नहीं बन जाता। यों तो जो एक में है, वही सब में है पर सूक्ष्मदृष्टि से देखा जाय तो जो एक में है वह दूसरे में नहीं, इसी से जितने ग्रन्थ देखें जायें उतना ही अच्छा हो।

चरक और सुश्रुत के बाद 'वाग्भट्ट' का स्थान है। यह ग्रन्थ भी अव्वल दर्जे का समझा जाता है। चरक सुश्रुत और वाग्भट्ट इन तीनों को ही 'वृद्धत्रयी' कहते हैं। जो इन तीनों को पढ़ लेते हैं, वह अच्छे समझ जाते हैं।

वाग्भट्ट महोदय महाभारत के जमाने में थे। कहते हैं आप महाराज युधिष्ठिर के प्रधान वैद्य थे। किसी-किसी ने लिखा है कि आप ईसा से दो सौ वर्ष पहले हुए थे। खैर, कुछ भी हो इसमें जरा भी संशय नहीं कि आप अपने समय के नामी वैद्य हुए। आपने चरक और सुश्रुत का सहारा लेकर जो ग्रन्थ लिखा है, उसका नाम 'अष्टांग हृदय' है पर वह 'वाग्भट्ट' के नाम से अधिक प्रसिद्ध है।

वाग्भट्ट के बाद वंगसेन का स्थान आता है। कोई कहता है आप विक्रम की अठारहवी शताब्दी में हुए और कोई कहता है कि ईसा से चार-पाँच सौ वर्ष पहले बंगाल में मौजूद थे। आपने भी चरक, सुश्रुत और वागभट्ट के आधार पर अपने नाम से एक ग्रन्थ लिखा है, जो 'वंगसेन' के नाम से मशहूर है। आप की चिकित्सा पद्धति बहुत ही उत्तम है। आपने जो लिखा है, वह बहुत ही सरल रीति से लिखा है, और जो अच्छे ढ़ंग से लिखा है जो विषय दूसरे ग्रन्थों में आसानी से समझ में न आता हो, वह इसमें बड़ी ही आसानी से समझ में आता है। इसके सिवा, इसमें एक और खूबी है, कि जो विषय और ग्रन्थों में नहीं है, वह भी इसमें मिलते हैं। यह ग्रन्थ भी वैद्यों के पढ़ने योग्य है।

बंगसेन के बाद माधवाचार्य लिखित 'माधव-निदान' का स्थान है। कहते हैं आप-ईसा की बारहवी सदी में, विजयनगर के राजा के प्रधानमंत्री थे। सुप्रसिद्ध सायण आचार्य आपके भाई थे। आपने अलग-अलग विषयों पर अनेक ग्रन्थ लिखे हैं, पर चिकित्सा-शास्त्र के सम्बन्ध में आपका लिखा 'माधव-निदान' ही सर्वोत्तम है। यद्यपि इसमें आजकल के अनेक रोगों के

निदान नहीं है, तथापि इस काम के लिए इससे अच्छा ग्रन्थ और नहीं है, इसी से प्रत्येक वैद्य इसे अवश्य पढ़ता है।

'माधव-निदान' के बाद 'भाव-प्रकाश' है। इसके लेखक मद्रास प्रान्त के रहने वाले भावमिश्र महोदय हैं। आपने भी अपने नाम से ही यह ग्रन्थ लिखा है। इसका नाम ही 'भावप्रकाश' है। यद्यपि आपने अपना ग्रन्थ चरक, सुश्रुत आदि के आधार पर लिखा है, तथापि आपने अपनी ओर से भी खूब काम किया है। पोचीगीय या पुर्त्तगाल निवासी आपके समय में भारत आ गये थे, इससे आपने फिरंगिस्थान से आने वाले फिरंग प्रभृति रोगों का भी जिक्र किया है। यह ग्रन्थ भी वैद्यों के पढ़ने योग्य है।

'भाव-प्रकाश' के बाद 'शार्ङ्गधर'' का स्थान है। शार्ङ्गधर नाम के किसी आचार्य ने अपने नाम से यह ग्रन्थ लिखा है। आपने और सब विषय बिल्कुल संक्षेप में लिखकर रोगों का नाश करने वाले नुसखे खूब ही अच्छे लिखे हैं।

मालूम होता है कि आपने अपने अजमाए हुए नुस्खे ही इस ग्रन्थ में लिखे हैं, क्योंकि समय पर इस ग्रन्थ के नुस्खे अक्सीर काम दिखाते हैं।

इस ग्रन्थ-रत्नों के सिवा चक्रदत्त, वैद्य-विनोद, वैद्य मनोत्सव, भैषज्यरत्नावली प्रभृति और भी अनेक वैद्यक सम्बन्धी मंत्र हैं; पर भिषक्श्रेष्ठ पण्डितवर लोलिम्बराज महोदय का लिखा 'वैद्यजीवन' नामक ग्रन्थ बहुत पसन्द है। उन्होंने अपनी प्रियतमा के प्रश्नों के उत्तर के मिस अनेक रोगों के अचूक नुस्खे कह डाले हैं। आपने भी अपने परीक्षित नुस्खे ही कहे हैं, ऐसा मालूम होता है। आपके छोटे से काव्य को पढ़ने में बड़ा मजा आता है।

हमने ऊपर जिन-जिन ग्रन्थों के नाम लिखे हैं, उनको गुरु से अच्छी तरह पढ़ लेने पर मनुष्य 'पूर्ण वैद्य हो सकता है। परन्तु जिस तरह आजकल के वकील वकालत पास कर लेने पर भी सदा 'लॉ रिपोर्टो' को देखते रहते हैं, इसी तरह वैद्यों को भी अनेक वैद्यों के अनेक ग्रन्थ, जहाँ तक मिल सकेंगे मँगा-मँगा कर पढ़ने और मनन करने चाहिए।

आयुर्वेद का अतीत और वर्तमान :-

हमारा आयुर्वेद संसार में सबसे प्राचीन और पहला है इसीलिए यहाँ हम कुछ पाश्चात्य विद्वानों के वचन उद्धृत करके आपके कथन की पुष्टि करने में कोई ऐब नहीं समझते। प्रोफेसर विल्सन महोदय लिखते हैं - "हिन्दुओं का आयुर्वेद पुराना है। अरब और यूनान वालों से बहुत पहले का है।"

प्रोफेसर विल्सन महोदय लिखते हैं - "भारत में बहुत प्राचीन काल से चिकित्सा, ज्योतिष और दर्शन-शास्त्र के पारदर्शी विद्वान मौजूद हैं।"

पण्डितवर राइट आनरेबिल एलफिन्टसन महोदय लिखते हैं – भारतवर्ष से ही यूरोप वालों ने चिकित्सा विद्या सीखी थी। हिन्दुओं का रसायनशास्त्र का ज्ञान विस्मयजनक है, एवं आशा और अनुमान से अधिक है।''

'अयुल-उल'' नामक एक अरबी-ग्रन्थ में लिखा है- 'आठवीं सदी में हिन्दुस्तान के पण्डित बगदाद की राज्यसभा में आयुर्वेद और ज्योतिष की शिक्षा देते थे।

सरक, सर्सस और वेदान[1] – ये तीन चिकित्सा ग्रन्थ हिन्दुस्तान से अरब से लाये गये थे।''

अरब से इन ग्रन्थों का अनुवाद यूरोप में गया। सत्रहवीं शताब्दी तक अरब की चिकित्सा-प्रणाली यूरोपीय चिकित्सा की मूल थी। प्राचीन भारतवासी मुर्दों को चीर-फाड़कर ज्ञान लाभ करते थे और अस्त्र चिकित्सा भी करते थे, जिसके लिए वे 127 प्रकार के अस्त्र व्यवहार करते थे।

डाक्टर रायली ने लिखा है- वास्तव में यह बड़ी ही विस्मय कर बात है कि उस समय के चिकित्सक गुर्दे की पथरी को काट कर बाहर निकाल लेते थे; यन्त्रों द्वारा पेट के बच्चे को निकाल सकते थे। भारतवासियों ने ही सबसे पहले रसायन विद्या की आलोचना आरम्भ की थी। धातु द्वारा बनी हुई औषधियों के सेवन को व्यवस्था भी चरक-सुश्रुत में पायी जाती है।''

ईसामसीह से चार शताब्दी पहले यूरोप के दिग्विजयी सिकन्दर की सेना की चिकित्सा के लिए हिन्दू वैद्य नियुक्त हुए थे। असाध्य रोगों को नष्ट करने के लिए वह बहुत से भारतीय वैद्यों को बड़े मान-सम्मान से अपने साथ ले गया था। ईरान से खलीफा हारू रशीद अपनी चिकित्सा के लिए हिन्दू वैद्यों को रखते थे।

प्रसिद्ध हकीम जालीनूस अपनी पुस्तक में लिखता है ''आयुर्वेद-विद्या पहले हिन्दुस्तान से मिस्र में और मिस्र से यूनान और अरब में गई। मेरे उस्ताद अफलातून ने हिन्दुस्तान जाकर 'कालज्ञान' के 36 लक्षण और बहुत से ग्रन्थ पढ़े थे। उनका सार भाग वह एक तख्ती पर लिखकर गले में लटकाये रहते थे। उस तख्ती की विद्या को वह किसी शिष्य को न सिखाते थे। मरते समय उन्होंने अपनी बीबी से कहा था मेरे मरने पर इस तख्ती को मेरी कब्र में गाड देना। उनकी बीबी ने उनके मरने पर वह तख्ती उनके साथ कब्र में गडवा दी।

एक चिकित्सा शास्त्र ही नहीं, और भी अनेक विद्याएँ भारत से ही सब देशों में पहुँची है। गणित-शास्त्र, दशमलव, रेखागणित, त्रिकोणमिति और बीजगणित का सबसे पहले भारत में ही अविष्कार हुआ था।

---

1. सरस, सर्सस और वेदान- ये तीनों चरक, सुश्रुत और माधव-निदान के ही क्रमशः बोधक हैं।

पण्डितवर कोलब्रुक और वेण्टनी साहब के मत से भारत में ही ज्योतिषविद्या की चर्चा सबसे प्रथम हुई। ईसा की पाँचवी शताब्दी में आर्यभट्ट ने चन्द्र और सूर्य-ग्रहण का वास्तविक कारण और मेरूदण्ड पर आवर्तन स्वीकार किया था। उन्होंने पृथ्वी की परिधि का जो निर्णय किया था, उसमें और पाश्चात्य पण्डितों के निर्णय में बहुत ही कम प्रभेद है। पृथ्वी का गोल होना भी प्राचीन भारत ने स्थिर कर लिया था।

जर्मनपण्डित शोपेनहावर साहब ने लिखा है- ईसामसीह के धर्म का मूल भारतवर्ष ही है। इसी से ज्ञात होता है कि सम्भवतः भारत से ही ईसाई-धर्म गृहीत हुआ है।''

फ्रांसीसी दार्शनिक कुंज ने लिखा है - ''भारत के दर्शन में ऐसा गम्भीर सत्य भरा हुआ है कि पाश्चात्यपण्डित गम्भीर गवेषणा कर चुकने पर इस स्थान पर पहुँचे हैं, और यहाँ पर प्रत्येक दर्शन के सत्य को देखकर स्तम्भित हुए हैं। इससे आगे बढ़ने की शक्ति उनमें नहीं है। हम लोग भारत दर्शन के आगे सिर झुकाकर बाधित है। हम लोग इस बात को स्वीकार करने को बाध्य हैं कि सर्वश्रेष्ठ दर्शन मानव जाति के शैशव-क्षेत्र-पूर्वी देश में ही सबसे पहले उत्पन्न हुआ है।

पण्डितवर मैक्समूलर महोदय ने लिखा है- ''भारत का वेदान्त सर्वोकृष्ट धर्म और सर्वोत्कृष्ट दर्शन है।''

संगीत ने भी सबसे पहले भारत में ही जन्म-ग्रहण किया था। भारत के सप्त स्वर फारस होकर अरब में पहुँचे और वहाँ से ग्यारहवीं शताब्दी के आरम्भ में यूरोप पहुँचे।

बस, अब और अधिक लिखने की जरूरत नहीं। ऐसे-ऐसे हजारो प्रमाण हैं, जिनसे साबित होता है कि पृथ्वी पर जितने धर्म हैं, जितनी विद्याएँ हैं, उन सबका उद्गम स्थान भारतवर्ष ही है।

जरा विचार कर देखिए एक दिन वह था कि सिकन्दर आजम, अपनी सेना की चिकित्सा के लिए भारतीय वैद्यों को बड़े सम्मान और आदर के साथ ले गया था। एक दिन वह था, कि ईरान के खलीफा हारूँ रशीद अपनी चिकित्सा के लिए भारतीय वैद्यों को रखते थे। एक दिन वह था कि अरस्तू और अफलातून जैसे हकीम भारत से आयुर्वेद की शिक्षा प्राप्त करके जगत् के श्रेष्ठ चिकित्सकों में परिगणित हुए थे। और एक दिन आज का है कि भारतीय शिक्षा निकम्मी समझी जाती है। कहिए, आयुर्वेद के उस गौरव आयुर्वेद की उस उन्नति और आज की अवनति में जमीन-आसमान का अन्तर है न? कहाँ वे दिन और कहाँ आज के दिन। सोचने से अविरल अश्रु धारा बहने लगती है। हम तो मनुष्य है रक्त और मांस से बने हैं हमारे आँसू न रूकें, इसमें आश्चर्य ही क्या? इस काठ की लेखनी के आँसू नहीं रूकते।

हाय! एक दिन भारतीय चिकित्सा-शास्त्र ने दुनिया में सर्वोच्च आसन ग्रहण किया था और आज उसे सबसे नीचा आसन भी नहीं मिलता। जो यूरोपियन आज आर्यो को अर्द्ध-सभ्य, जंगली और मूर्ख बताते हैं, हमारी चिकित्सा विद्या की हँसी उडाते हुए उसे निकम्मी बताते हैं, उनके पूर्व पुरूष जिस जमाने में सचमुच के मनुष्य थे, अपने रहने के लिए घर बनाना भी नहीं जानते थे, जमीन में जानवरों की तरह भिटे खोदकर रहते थे, उनसे हजारों लाखों वर्ष पहले, बल्कि उनके भी गुरू सभ्यताभिमानी ग्रीस और रोम के सभ्यता सीखने और होश संभालने से भी बहुत पहले भारत में ऐसे-ऐसे वैद्यरत्न हो गये हैं, जिन्होंने मनुष्यों के कटे सिर जोड दिये हैं, अन्धों को सूझता कर दिया है, और बूढ़ों को नौजवान पठ्ठा बना दिया है। क्या अश्विनीकुमारों द्वारा ब्रह्मा के कटे शिर के जोड़े जाने की बात निरी कपोलकल्पना ही है? क्या इन्द्र का भुजस्तम्भ रोग और चन्द्रमा का क्षय रोग से आराम होने की बात निरी गाय ही है? नहीं हरगिज नहीं। अगर और देशों की पुरानी किताबों की बातें बिल्कुल मिथ्या हैं, तो हमारे पुराणों की बातें भी मिथ्या हो सकती हैं। अगर उनमें लिखी बातें सत्य हैं, तो हमारे यहाँ की बातें भी निःसन्देह सच हैं।

भेद इतना ही है कि आज भारत का सितारा बुलन्दी पर नहीं है आज इनके दिन अच्छे नहीं है, आज इसकी दशा गिरी हुई है, इसी से सारी बातें झूठी हैं। पर सत्य कभी छिपाये नहीं छिपता, इसी से सत्यवादी पक्षपात, शून्य यूरोपीय विद्वानों ने भी आयुर्वेद के गौरव की बात मुक्त कण्ठ से स्वीकार की है।

जब तक भारत में विदेशियों का पदार्पण नहीं हुआ था, तब तक भारतीय चिकित्सा-विद्या दिन-दूनी रात चौगुनी उन्नति करती रही। इनके आगमन से ही इसकी अवनति का सूत्रपात हुआ। जब से भारत के अन्तिम सम्राट दिल्लीश्वर महाराज पृथ्वीराज का पतन हुआ और मुसलमान शासन इस अभागे देश में जारी हुआ, तभी से धीरे-धीरे आयुर्वेद की अवनति आरम्भ हुई, भारत का अमूल्य रत्न, पृथ्वी का गौरव-स्वरूप, हमारा आयुर्वेद-शास्त्र अवनत अवस्था को प्राप्त होने लगा।

हिन्दू राजाओं के जमाने में आयुर्वेद संसार की सभी चिकित्सा विद्याओं की अपेक्षा श्रेष्ठ और भारत सन्तानों की स्वास्थ्य रक्षा का एकमात्र अवलम्बन था। भारतीय चिकित्सा के प्रभाव से ही, शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य लाभ करके, धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारो पदार्थो की प्राप्ति करते थे; और आजकल की अपेक्षा दीर्घजीवी, बली और निरोग होते थे।

उस जमाने में आजकल की तरह यहाँ वालों को किसी भी रोग में विदेशी चिकित्सा का आश्रय नहीं लेना पड़ता था, क्योंकि आयुर्वेद विद्या पूर्ण थी। गाँव-गाँव में आयुर्वेदीय

पाठशालाएँ थीं, इसलिए सवैद्यों का अभाव न था। यहाँ की जड़ी बूटियों से अल्प प्रयास और कम खर्च में ही रोगी रोगमुक्त हो जाते थे। यहीं से हजारो औषधियाँ अरब, ईरान, और रूस होकर यूनान और इटली पहुँचती थी और वहाँ से उनके एवज में प्रभूत धन भारत में आता था। उसी जमाने में यह भारत-वसुन्धरा पृथ्वी का स्वर्ग थी।

मुसलमानी जमाने में मुसलमान हकीमों की कदर हुई और भारतीय वैद्यों की बेकदरी हुई। उसका मान बढ़ा और इनका मान घटा। जगह-जगह उन्हीं की पूँछ होने लगी। अजखर, अपित्तयून, गाबजुधाँ, गुल-बनफशा आदि ने सोंठ, मिर्च, पीपर आदि के स्थान पर अपना अधिकार जमा लिया।

जमाने ने पलटा खाया और क्या से क्या हो गया। राजा प्रजा सभी की नजरों में आयुर्वेदीय चिकित्सा हेच जँचने लगी। वैद्यों की रोजी मारी गयी, हकीमों की पौ बारह होने लगी। औषधालय उठ गये, उनकी जगह दवाखाने और शफाखाने खुल गये। पंसारियों की दवायें मिट्टी की हांडियों और टाट की थैलियों में पड़ी-पड़ी सडने और पुरानी होने लगी। काम न पड़ने से पंसारी बेचारे उनके नाम तक भूलने लगे। पंसारियों का रोजगार अत्तारों ने छीन लिया। जहाँ देखो वहीं तुख्मखतमी, गुले-नीलोफर, गुल-बनफशा की चर्चा होने लगी। इतने पर भी खैर यह हुई कि आयुर्वेद पर से लोगों का विश्वास एकदम नहीं उठ गया। उस जमाने में भी सम्राट कुलतिलक अकबर जैसे पक्षपातहीन, प्रजावत्सल बादशाह आयुर्वेद की कदर करते थे और अपने दरबार में विद्वान वैद्यों को रखते थे। इसी से आयुर्वेद-विद्या की मृत्यु नहीं हुई। यह जीवित बनी रही। हाँ उसका वह पूर्व गौरव, उसकी वह महत्ता नहीं रही।

मुसलमानों के अत्याचारी शासन का अन्त होने पर ब्रिटिश गवर्नमेण्ट इस देश की मालिक हुई। ब्रिटिश शासन में अंग्रेजों ने हमारे शास्त्रों का अंग्रेजी भाव में उल्था (अनुवाद) करवाया। इंग्लैण्ड निवासियों ने अविश्रान्त परिश्रम और उद्योग से अच्छे-अच्छे रत्न चुन लिये और अपनी चतुराई से उनका रूपान्तर करके उन्हें पहले से उत्तम बना दिया। यहाँ से हजारों दवाएँ विलायत ले जाकर, उनके सत्त, पाउडर, गोली, टिंचर, तेल, प्रभृति बना-बनाकर उनको मनोमुग्धकारिणी शीशियों और डिब्बों में बन्द करके, उनके ऊपर रंगीन लेवल और विधान पत्र लगा-लगाकर यहाँ भेजने लगे। इसमे शक नहीं कि उन्होंने यह काम बड़े परिश्रम और अध्यवसाय से किया; इसलिए वे किसी प्रकार से दोष भागी नहीं। यह तो मनुष्य का धर्म ही है।

दोष-भागी हम और पिछली सदी में होने वाले हमारे पूर्व पुरूष हैं जो आलसी की तरह हाथ में हाथ धरे देखते रहे। अब, जबकि रोग एकदम असाध्य हो गया तब आँखे खुली हैं, और आयुर्वेद की उन्नति कहकर लोग चिल्लाने लगे हैं।

जिन्होंने अंग्रेजी पढ़ी है, जिन्होंने विद्वता-सूचक डिग्रियाँ प्राप्त की हैं, जो वकील, वैरिस्टर और जज प्रभृति हो गये हैं वे भारतवासी, हिन्दुस्तानी होने पर भी आयुर्वेद चिकित्सा को नफरत की नजर से देखते हैं और यूरोपीय चिकित्सा का आदर करते हैं। जरा-जरा से रोग में, जिन्हें पहले यहाँ की स्त्रियाँ भी आराम कर लेती थीं, डाक्टरों को ही बुलाते और उनकी मुट्ठियाँ गर्म करते हैं। यह सब उन्हें स्वीकार है पर वैद्य महाशय की शक्ल देखना मंजूर नहीं। इन बड़े-बड़े की देखादेखी साधारण लोगों का झुकाव भी उधर हो गया है। उन्हें भी आयुर्वेदीय चिकित्सा अच्छी नहीं लगती। अब शहरों के रहने वाले पन्द्रह आने लोक डाक्टरी इलाज कराते हैं जो पहले विलायती दवाओं से कोसों दूर भागते थे, जो प्राणों के कण्ठ में आ जाने पर भी मद्य-मिश्रित दवा खाना पसन्द नहीं करते थे, वे भी आजकल शराब मिली हुई दवाएँ गटागट पीते और चरबी मिश्रित मरहमों को शरीर पर लगाते नहीं हिचकते। अब सोडा-वाटर और लैमनेड बिना तो इनकी रोटी नहीं पचती। जरा खांसी बढ़ी कि, कॉडलिवर ऑयल पीना शुरू किया।

नतीजा यह हुआ कि वैद्यों का रोजगार बिल्कुल मारा गया। जिनके घरों में पीढ़ियों से चिकित्सा-व्यवसाय होता था, वे अब पेट भरने के लिए खेती, दुकानदारी और नौकरी करके अपना और अपने परिवार का पेट पालने लगे। जुलाहों ने जिस तरह देशी कपड़ों की पूछ न होने से कपड़ा बुनना छोड़कर दूसरा धन्धा कर लिया, छीपियों ने छीट रंगना छोड़ दिया उसी तरह वैद्यो ने निरूत्साहित होकर अपना पुश्तैनी धन्धा त्याग दिया।

आयुर्वेद का पढ़ना सबके लिए हितकर है :-

मनुष्य मात्र को थोड़ा या बहुत चिकित्सा-विद्या का अभ्यास अवश्य ही करना चाहिए; क्योंकि चिकित्सा-शास्त्र के पढ़ने से दीर्घायु प्राप्त करने के उपाय, असमय की मृत्यु से बचने के उपाय, सदा निरोग तथा तन्दुरूस्त रहने के नियम, रोग हो जाने पर रोगों का नाश करने के उपाय प्रभृति हजारों जानने योग्य विषय मनुष्य को मालूम होते हैं। जो आयुर्वेद-विद्या से बिल्कुल कोरे रहते हैं, यहाँ तक कि दिनचर्या और रात्रिचर्या भी नहीं जानते, वे निश्चय ही अपनी अज्ञानता के कारण सदा रोगों के फन्दे में फँसे रहते और थोड़ी उम्र में ही मर जाते हैं। लेकिन जो लोग थोड़ी आयुर्वेद-विद्या सीख लेते हैं आयुर्वेद के नियमों का पालन करते हैं, वे रोगों से बचे रहते हैं और लम्बी उम्र तक जीते और अपना और पराया दोनों का भला करते हैं। जहाँ वैद्य नहीं होता, वहाँ रोग होने पर अपने और अपने पड़ोसी की जीवन रक्षा करते हैं।

शास्त्र में मनुष्य की एक सौ एक मृत्युएँ लिखी हैं। उनमें से एक मृत्यु तो सभी का संहार करती है। उससे कोई भी किसी को बचा नहीं सकता और न स्वयं ही बच सकता है,

लेकिन और मृत्युओं से जो आगन्तुक कारणों से होती है वैद्य मनुष्य को बचा सकता है। जब आयुर्वेद का जानने वाला औरों की रक्षा कर सकता है, तब स्वयं भी सावधान रहने से बच सकता है और यदि कारण उपस्थित हो ही जाय तो अपनी भी रक्षा कर सकता है। इसके सिवा आयुर्वेद का जानने वाला किसी अवस्था में भी जीविका बिना भूख नहीं मर सकता। आफत-मुसीबत, देश-परदेश, ग्राम और नगर में, हर कहीं, हर हालत में वह अपनी और अपने साथियों की जीविका का उपाय कर सकता है।

विद्या का पढ़ना किसी दशा में भी व्यर्थ नहीं होता। देखिए शास्त्र में लिखा है -

आयुर्वेदोदितां मुक्तिं कुर्वाणा विहिताश्च ये।
पुण्यायुवृद्वि संयुक्ता नीरोगाश्च भवन्ति ते।।
क्वचिदर्थः क्वचिन्मैत्री क्वचिद्धर्मः क्वचिद्यशः।
कर्माभ्यासः क्वचिच्चेति चिकित्सा नास्ति निष्फला।।

"जो आयुर्वेद और धर्मशास्त्र की युक्तियों के अनुसार चलते हैं, उनको रोग नहीं होते और उनके पुण्य और आयु की वृद्धि होती है। चिकित्सा करने से कहीं धन की प्राप्ति होती है, कहीं मित्रता होती है, कहीं कर्म होता है, कहीं यश मिलता है, और कहीं क्रिया करने से अभ्यास बढ़ता है; किन्तु वैद्यक विद्या कभी निष्फल नहीं होती।" और भी कहा गया है -

न देशो मनुजैर्हीनो न मनुष्यो निरामयः।
ततः सर्वत्र वैद्यानां सुसिद्वा एव वृत्तयः।।

"ऐसा कोई देश नहीं, जहाँ मनुष्य न हो और ऐसा कोई मनुष्य नहीं जिसे रोग न हो, इसलिए वैद्यों की जीविका सर्वत्र सिद्ध है।"

जबकि और विद्यायें निष्फल हो जाती हैं, उनके पढ़ने से अनेक बार कोई लाभ नहीं होता, दस-दस और बारह-बारह वर्ष पढ़ने, ढ़ेर धन स्वाहा करने और जने-जने की खुशामद करने पर भी पेट नहीं भरता; तब लोग इसी विद्या को क्यों न पढ़े। जो हर हालत में सुखदायक और फलप्रद्र है? वैद्यों की सभी जगह जरूरत होती है। घर के ही काम करने लायक हों तो अपनी कड़ी कमाई का धन गैरों को क्यों दिया जाय?

कौन-कौन वर्ण आयुर्वेद पढ़ सकते हैं :-

अब इस बात पर विचार करना है कि कौन-कौन वर्ण या जाति के लोग आयुर्वेद पढ़ने के अधिकारी हैं और कौन-कौन वर्ण के आदमी नहीं। समय को देखते हुए तो हमारी समझ में हर कोई आयुर्वेद पढ़ सकता है। ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य इन तीन वर्णों के लिए तो शास्त्र में आयुर्वेद पढ़ने की आज्ञा है। देखिए सुश्रुत में लिखा है :-

"ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्यानामन्यतममन्वयं वयः
शील, शौर्य शौचाचार, विनय शक्ति बल मेधा
धृति स्मृति, मति प्रतिपत्तियुक्ते तनुजिह्वौष्ठ
दन्ताग्र मृदु वक्राक्षिनास प्रसन्नचित्त
वाक्चेष्टं क्लेशसहं च भिषक् शिष्यमुपनयते।"

शिक्षा देने वाला आचार्य-ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और इन तीन वर्णो से पैदा हुई अनुलोमज जातियों को आयुर्वेद सिखा सकता है किन्तु जिसे पढ़ाने के लिए चुने, उसमें इतनी बातें अवश्य देख लें-उसका वंश उत्तम हैं कि नहीं, वह पुरूषार्थी पवित्र, सदाचारी, विनयी, सामर्थ्यवान और बलवान है कि नहीं; उसमें बुद्धि, धीरज, स्मरण-शक्ति, विचारशक्ति और विद्वता है कि नहीं, उसकी जीभ, उसके होंठ और दांतों के अगले हिस्से पतले हैं कि नहीं, उसका चित्त उसकी वाणी और उसकी चेष्टाएं अच्छी हैं कि नहीं। अर्थात् यह देखें कि पढ़ने वाले ने अच्छे कुल में जन्म लिया है उसकी उम्र कठिन आयुर्वेद के पढ़ने समझने योग्य है, वह पुरूषार्थी पवित्र, सदाचारी, सामर्थ्यवान, बलवान, धैर्यवान, पढ़ी हुई बात को याद रख सकने वाला, प्रत्येक बात पर विचार और विवेक से तर्क-वितर्क करने वाला है, उसकी जीभ, उसके होंठ और दांतो के अग्रभाग पतले हैं उसका चित्त स्थिर है, उसकी वाणी सुन्दर है, उसकी चेष्टाएं उत्तम है और वह पढ़ने को कष्ट को सह सकेगा। यदि इतने लक्षण हो तो उसे बेखटके आयुर्वेद पढ़ावें।"

और भी देखिए शूद्र के लिए भी आयुर्वेद पढ़ाने की आज्ञा है- शूद्रमपि कुलगुणसम्पन्न-मन्त्रवर्ज्यमनुपनीतमध्यापयेदित्येके।

लिखा है कि अच्छे कुल में पैदा हुए गुणवान शूद्र को भी बिना उपनयन संस्कार कराए, वेद का मन्त्र भाग छोड़कर आयुर्वेद पढ़ाया जा सकता है।

अब तो चारों वर्णो को आयुर्वेद पढ़ने का अधिकार हैं, इस बात में कोई संशय नहीं रहा। प्रत्येक मनुष्य को आयुर्वेद पढ़ना जरूरी है, इसी से ऋषियों ने किसी भी वर्ण को इस विद्या के पढ़ने से वंचित नहीं रखा।

आयुर्वेद के पढ़ने और पढ़ाने वालों के लिए ध्यान देने योग्य बातें :-

चिकित्सा शास्त्र सब शास्त्रों से कठिन हैं, इसलिए इसके पढ़ने में बड़ी सख्त मेहनत और चतुराई की जरूरत है। आयुर्वेद पढ़ने की इच्छा रखने वाले को पहले हिन्दी और संस्कृत का पूर्णज्ञान प्राप्त कर लेना चाहिए, अथवा जो लोग हिन्दी में आयुर्वेद पढ़े, उन्हें हिन्दी में और जो लोग संस्कृत में पढ़े, उन्हें दोनों में पूर्ण योग्यता प्राप्त कर लेनी चाहिए। दोनों में से एक या दोनों में पूर्ण योग्यता प्राप्त कर लेनी चाहिए। दोनों में से एक या दोनों भाषाओं में

पूर्ण अभिज्ञता प्राप्त किए बिना, सीखा नहीं जा सकता। आयुर्वेद का पढ़ना बालकों का खेल नहीं है, इसलिए इसके पढ़ने में परिश्रम से जी ना चुराना चाहिए। जो लोग परिश्रम से जी चुराते हैं, सुख या आराम की अभिलाषा रखते हैं, उन्हें कोई विद्यापूर्ण रूप से प्राप्त नहीं हो सकती, जिसमें आयुर्वेद, का आना तो नितान्त असम्भव ही है।

जिससे आयुर्वेद सीखा जाय, उसके सामने हँसने, बकवाद करने, और अन्यान्य प्रकार के ऐब या चपलता प्रभृति से सदा दूर रहना चाहिए। गुरू से, सदा निष्कपट व्यवहार रखना चाहिए; भूलकर भी धोखेबाजी करना या छल-छिद्रों से काम लेना उचित नहीं। गुरू में सच्ची भक्ति और श्रद्धा रखनी चाहिए एवं तन-मन-धन से गुरू की सेवा करनी चाहिए। सदा ऐसे कर्म करना चाहिए, जिससे शिष्य के प्रति गुरू का प्रेम दिन-ब-दिन बढ़े क्योंकि यह विद्या गुरू की पूर्ण कृपा बिना नहीं आती। गुरू को भी अपने भक्त, विनयी और सदाचारी शिष्य को निष्कपट भाव से, दिलखोलकर अपनी सामर्थ्य भर चिकित्सा-शास्त्र पढ़ाना चाहिए। देखिए, प्राचीन काल के वैद्य-गुरू किस तरह की प्रतिज्ञा करके अपने शिष्यों को पढ़ाते थे। गुरू महोदय कहते थे -

अंह वा त्यति सभ्ये वर्त्तमाने

यद्यन्यथादर्शी स्यामेनोभाग्भवेयमफल विद्यश्च।

तेरे अच्छा वर्ताव करने पर भी यदि तुझे मैं अच्छी तरह न पढ़ाऊँ तो मैं पाप का भागी होऊँ और मेरी विद्या निष्फल हो।' आजकल ऐसे गुरू दुर्लभ हैं।

आयुर्वेद पढ़ने वाले को आयुर्वेद का प्रत्येक अंग भली-भाँति पढ़ना चाहिए। प्रत्येक अंग ही नहीं, छोटी से छोटी परिभाषा को भी बिना अच्छी तरह समझे और याद किये न छोड़ना चाहिए। तोता की तहर रटना अच्छा नहीं, प्रत्येक बात गुरू से पूछकर अच्छी तरह समझनी चाहिए। बिना समझे ढ़ेर का ढ़ेर पढ़ने से कोई लाभ नहीं। सुश्रुत में कहा गया है -

यथा खरश्चन्दनभारवाही भारस्य वेत्ता न तु चन्दनस्य।

एवं हि शास्त्राणि बहूनधीत्य चार्थेषु मूढ़ाः खखद् वहन्तिः।।

चन्दन का बोझा उठाने वाला गधा केवल भार की बात जानता है किन्तु चन्दन और उसके गुणों को नहीं जानता। इसी से जो बहुत से शास्त्रों को पढ़ लेते हैं, किन्तु उनके अर्थो को नहीं समझते, वे गधे की तरह भार उठाने वाले होते हैं।''

आजकल के वैद्यों की तरह एकाध शास्त्र पढ़कर ही विद्यार्थी को सन्तोष नहीं कर लेना चाहिए। वैद्यक-विद्या पढ़ने वाला जितने ही अधिक शास्त्र पढ़ेगा, उसे चिकित्सा कार्य में उतनी ही अधिक सफलता होगी। कोई भी मनुष्य एक-या दो ग्रन्थ पढ़ लेने से चिकित्सा करने के योग्य नहीं हो जाता; इस विषय में सुश्रुत महाशय कैसी अच्छी सलाह देते हैं। वे कहते हैं -

एकशास्त्रमधीयानो न विद्याच्छास्त्रनिश्चयम्।
तस्माद्बहुश्रुतः शास्त्रं विजानीयाच्चिकित्सकः।।
शास्त्रं गुरूमुखोद्गीर्णमादायोपास्य चाऽसकृत्।
यः कर्म कुरूते वैद्यः स वैद्योऽन्ये तु तस्कराः।।

जो मनुष्य एक शास्त्र को पढ़ लेता है, वह शास्त्र के निश्चय को नहीं जान सकता। किन्तु जो बहुत से शास्त्रों को पढ़ता है, और सुनता है, वही चिकित्सा के मर्म को समझता है। जो मनुष्य गुरू के मुख से पढ़े हुए शास्त्र पर बारम्बार विचार करता है और विचार कर काम करता है, वही वैद्य है। उसके सिवा और सब चोर हैं।

विद्यार्थी को रोग परीक्षा और औषधि विज्ञान दोनों विषय खूब अच्छी तरह सीखना चाहिए। जिस वैद्य को रोगों के निदान, कारण पूर्वरूप, उपशय और सम्प्राप्ति - इन पाँचों का भली-भाँति ज्ञान नहीं होता, वह वैद्य दवा करना जानने पर भी दो कौड़ी का होता है। जिन वैद्यों को रोग की पहचान नहीं, जिन हकीमों को मर्ज की तशखीस नहीं, वह हरगिज कामयाब नहीं होते। उन्हें चिकित्सा में सफलता नहीं होती। यह दृढ़ निश्चय है कि रोग परीक्षा में निपुण हुए बिना वैद्य को सफलता हो ही नहीं सकती। मान लो कहीं धूल में लट्ठ लग ही गया; किसी तरह सफलता हो ही गयी, तो भी अधिकांश स्थलों में असफलता ही होगी। रोग को न समझने वाले वैद्य के हाथ में जाकर हजारों रोगियों के रोग असाध्य हो जाते हैं। हजारों रोगियों के प्राण असमय में ही नष्ट होते हैं। इसी से कहा गया है कि आयुर्वेद में रोग-परीक्षा-विद्या' मुख्य है। उसका जानना परमावश्यक है। शास्त्रों में वर्णित है -

यस्तु रोगमविज्ञाय कर्माण्यरभते भिषक्।
अप्यौषधविद्यानज्ञस्तस्य सिर्द्धियदृच्छया।
भेषजं केवलं कर्तुम् यो जानाति न चामयम्।
वैद्यकर्म स चेत् कुर्याद्बधमर्हति राजतः।।

रोग पहचानना-मर्ज की तशखीस करना बड़ा कठिन काम है। किसी ने लिखा है कि देखने, छूने और हाल पूछने से ही प्रायः सब रोगों का ज्ञान हो जाता है, किन्तु सुश्रुत ने इसके लिए छः उपाय लिखे हैं। उन्होंने कहा है - (1)कान से (2) चमड़े से, (3) आँखो से, (4) जीभ से, (5) नाक से- इन पाँचो इन्द्रियों से तथा (6) रोगी के हाल पूछने से, रोगों का ज्ञान हो जाता है। सुश्रुताचार्य के बाद के विद्वानों ने रोग जानने का उपाय 'नाडी परीक्षा' और निकाला है। सुश्रुत ने लिखा है -

आतुरमुपक्रममाणेन भिषगायुरेवादौ परीक्ष्येत्। सत्यायुषिव्याध्यृत्वग्नयो देहबल सत्व सात्म्य प्रकृति भेषज देशान् परीक्ष्येत्।।

रोगी की चिकित्सा करने वाले को पहले - (1) आयु, (2) रोग, (3) ऋतु, (4) अग्नि, (5) अवस्था, (6) देह, (7) बल, (8) सत्व, (9) सात्म्य, (10) प्रकृति, (11) औषधि और (12) देश प्रकृति की परीक्षा करके चिकित्सा आरम्भ करनी चाहिए।

पहले आयु की परीक्षा बड़े मतलब से लिखी है। इसका मतलब यह है कि पहले आयु को देखना चाहिए। अगर रोगी की उम्र मालूम हो तो इलाज करना चाहिए। अगर रोगी की उम्र ही बाकी न हो तो वैद्य को भूलकर भी इलाज न करना चाहिए, क्योंकि जिसकी उम्र ही पूरी हो चुकी है, उसकी उम्र वैद्य नहीं बढ़ा सकता। वैद्य तो उम्र के होने पर ही रोगी को रोगमुक्त कर सकता है। कहा है -

भिषगादौ परीक्षेत रूग्णस्यायुः प्रयत्नतः।
तत आयुषि विस्तीर्णे चिकित्सा सफला भवेत्।।
व्याधेस्त वपरिज्ञानं वेदनायाश्च निग्रहः।
एतद्वैद्यस्य वैद्यत्वं न वैद्यः प्रभुरायुषः।।

वैद्य को पहले यत्नपूर्वक रोगी की आयु परीक्षा करनी चाहिए; क्योंकि आयु के दीर्घ होने से ही यानी लम्बी उम्र होने से ही चिकित्सा सफल होती है। रोग के तत्त्व को जानना और रोगी की तकलीफ को दूर करना यही वैद्य का काम है। वैद्य आयु का स्वामी नहीं है, यानी जिसकी आयु नहीं रही है उसे आयु दे दे, वैद्य में यह सामर्थ्य नहीं है।

जिस तरह रोग परीक्षा में पण्डित होना आवश्यक है उसी तरह औषधियों में भी पूर्ण जानकारी रखना उचित है; जो वैद्य केवल रोगों की पहचान को जानता है, मगर औषधियों के मामले कुछ नहीं समझता, उसे चिकित्सा में कभी सफलता नहीं होती। केवल रोग पहचान लेने से ही बिना दवा के रोगी का रोग निवारण हो नहीं सकता, इसलिए यदि कोई रोगी ऐसे वैद्य के हाथ में पड़ जाता है तो वृथा प्राण गंवाता है। कहा है -

यस्तु केवल रोगज्ञो भेषजेष्वविचक्षणः।
तं वै प्राप्य रोगी स्याद् यथा नौर्नाविकं बिना।।

जो वैद्य केवल रोगों को पहचानता है, किन्तु औषधि करना नहीं जानता, अगर ऐसा वैद्य रोग की चिकित्सा करता है, तो रोगी इस तरह विपद में फंसता है, जिस तरह नाव बिना मल्लाहों के विपद में फँसती है। औषधियों के नाम और उनकी पहचान जान लेने से ही काम नहीं चल सकता। औषधियों के गुण, बल, वीर्य, विपाक, आदि सभी विषयों में जानकारी रखने की जरूरत है। जो औषधियों के विषय में इतना भी नहीं जानता वह वृथा चिकित्सक होने का ढ़ोंग करता है और प्राणियों की प्राणहानि करता है। 'चरक' में लिखा है -

औषधीनमिरूपाभ्यां जानन्ति ह्यजपा वने।

अविपाश्चैव गोपाश्च ये चान्ये वनवासिनः।।

न नामज्ञानमात्रेण रूपज्ञानेन वा पुनः।

औषधीनां परां प्राप्तिं कश्चिद्वेदितुमर्हति।।

योगविन्नाम रूपज्ञस्तासां तत्वविदुच्यते।

किं पुनर्योविजानीयादौषधीः सर्वथा भिषक्।।

योगमात्रन्तु यो विद्याद् देशकालोपपादितम्।

पुरूषं पुरूषं वीक्ष्य स विज्ञेयो भिषगुत्तमः।।

गाय, भेड़ और बकरी चराने वाले और जंगल में रहने वाले, जंगल में पैदा होने वाली दवाओं के नाम और रूप जानते हैं, परन्तु मनुष्य औषध्यिों के नाम और रूप जानने से ही औषधियों के काम में लाने की तरकीब नहीं जान सकता। जो औषधियों के नाम और रूप एवं उनके काम में लाने की विधि जानता है उसे औषधि तत्वज्ञ कहते हैं और जो जंगल की जड़ी-बूटियों के नाम आदि पूरी तरह से जानकर उनको देशकाल और व्यक्तिभेद से काम में लाता है, उसे वैद्य कहते हैं।

मतलब यह है कि वैद्य-विद्या सीखने वाले को दवाओं के नाम, रूप, गुण, बल, वीर्य, विपाक और प्रभाव आदि अच्छी तरह से सीखने चाहिए। यह विद्या, 'निघण्टु' रटने और जंगल में आकर जंगली लोगों को सहायता से जड़ी-बूटियों के देखने से अच्छी तरह आ सकती है। जो वैद्य निघण्टु नहीं जानता, उसकी कदम-कदम पर हँसी होती है। कहा है -

निघण्टुं हि बिना वैद्यो विद्वान् व्याकरणं विना।

अनभ्यासेन धानुष्कस्त्रयो हासस्य भाजनम्।।

"बिना निघण्टु पढ़ा वैद्य बिना व्याकरण पढ़ा विद्वान और बिना अभ्यास का तीरन्दाज-तीनों अपनी हँसी कराते हैं।"

औषधियों के प्रयोग की विधि भी सद्वैद्य से अच्छी तरह सीखनी चाहिए। यदि केवल दवाओं के नाम, रूप, गुण आदि मालूम हो किन्तु उनके प्रयोग करने की रीति न मालूम हो तो भी अर्थ का अनर्थ होने की सम्भावना रहती है। यदि तीक्ष्ण विष भी कायदे में लाया जाय, तो उत्तम औषधि का काम देता है यदि उत्तम औषधि भी बेकायदे ऊट-पटांग रीति से काम में लाई जाय तो तीक्ष्ण विष का काम करती है। घृत और मधु दोनों ही परमोत्तम पदार्थ हैं, किन्तु कोई अनजान इन दोनों को समान भाग में मिलाकर काम में लावे तो यह विष के समान हो जाएंगे। इसलिए किसी विद्वान और अनुभवी वैद्य के पास रहकर, दवा बनाने और चिकित्सा करने का अभ्यास करना चाहिए। जो मनुष्य पूर्ण रूप से शास्त्रों को पढ़-समझ लेता है, और अनेक प्रकार की अच्छी-अच्छी औषधियाँ तैयार रखता है, तो भी

अगर उसने किसी के पास रहकर अपनी आँखों से चिकित्सा नहीं देखी, स्वयं अभ्यास नहीं किया तो वह बहुधा घबराया करता है। इसलिए चिकित्सा-कर्म अवश्य देखना चाहिए। कहा है-

यस्तु केवलः शास्त्रज्ञः क्रियास्वकुशलो भिषक्।
स मुह्यति आतुरं प्राप्य यथा भीरूरिवाहवे।।
यस्तूभयज्ञो मतिमान्समर्थो ह्यर्थसाधने।
आहवे कर्म निर्वोढुं द्विचक्रः स्यन्दनो यथा।।
पीठचाराद्यथाऽचक्षुरज्ञानाद् भीतभीतवत्।
नौर्मारूतवशो वाज्ञो भिषक् चरति कर्मसु।।
तस्माच्छास्त्रे ऽर्थविज्ञाने प्रवृत्तौ कर्मदर्शने।
भिषक् चतुष्टये युक्तः स प्राणभिषगुच्यते।।

"जौ वैद्य केवल चिकित्सा-शास्त्र को जानता है, लेकिन चिकित्सा करने में कुशल नहीं है, वह रोगी के पास जाकर इस तरह घबराता है, जिस तरह कायर पुरूष लडाई में जाकर घबराता है।"

शास्त्र और क्रिया दोनों को पूरी तरह से जानने वाला वैद्य उसी तरह अपना प्रयोजन सिद्ध करता है जिस तरह दो पहियों का रथ युद्ध में अपना काम कर सकता है।

जिस तरह अन्धा डर के मारे आगे को हाथ चला-चला कर चलता है, तूफान के जोर से नाव जिस तरह उलट-पुलट होती या डगमगाती हुई चलती है, उसी तरह मूर्ख वैद्य घबराकर काम करता है।

जो शास्त्र और शास्त्र के अर्थ को जानता है, जिसने औषधि करने में अनुभव प्राप्त कर लिया है, जिसने वैद्यों की चिकित्सा परिपाटी अच्छी तरह देख ली है, उस वैद्य को प्राणदाता कहते हैं।"

सारांश यह है कि विद्यार्थी को चिकित्सा-शास्त्र के सब अंग अच्छी तरह से पढ़ने समझने चाहिए। साथ ही, किसी अनुभवी और विद्वान वैद्य के पास रहकर चिकित्सा कर्म का अभ्यास करना चाहिए तथी वह पूर्ण वैद्य होकर मनुष्यों के इलाज में हाथ डाल सकता है।

चिकित्सा कर्म आरम्भ करने वालो के लिए के उपयोगी शिक्षा :-

(1) वैद्य जब तक आयुर्वेद के सब अंगो को अच्छी तरह न पढ़ ले, गुरू के पास रहकर, गुरू के साथ जाकर चिकित्सा का अभ्यास न कर ले, तब तक स्वयं किसी का इलाज न करे।

(2) वैद्य को चाहिए कि किसी को अंनजानी, बिना अजमाई दवा न दें। क्योंकि अनजानी दवा अनेक बार विष, शस्त्र, अग्नि और इन्द्र के वज्र के समान

अनर्थ करती है। यदि किसी वैद्य को किसी दवा के नाम, रूप और गुण तो मालूम हो, किन्तु उसके देने की विधि न मालूम हो तो रोगी को भूलकर भी न दे, क्योंकि अनजानपन से, बेकायदे दी हुई दवा बहुधा, अनर्थ करती है, रोगी का रोग बढ़ता है, अथवा उसके प्राणनाश होते हैं, और वैद्य को इहलोक और परलोक - दोनों में बुरा होता है। इस लोक में बदनामी और उस लोक में दण्ड मिलता है।

(3) अगर आपने वैद्यक-शास्त्र नहीं पढ़ा है, अगर आपने गुरु के पास रहकर चिकित्सा का अभ्यास नहीं किया है तो अपना पेट पालने के लिए जबर्दस्ती वैद्य मत बनो। चरक ने कहा है-

वरमाशीविषविषं क्वथितं ताम्र मेव वा।
पीतमत्यग्निसन्तप्ता भक्षिता वाप्ययोगुडाः।।
न तु श्रुतवतां वेशं विभ्रता शरणागतात्।
गृहीतमन्नं पानं वा वित्तं वा रोगपीड़ितात्।।

"सांप का जहर पीना अच्छा, गर्मागर्म औटाये ताबें का पीना अच्छा, किन्तु पढ़े लिखे वैद्य का सा रूप बनाकर शरण में आए हुए रोगी से अन्नपान या धन लेना हरगिज अच्छा नहीं।

(4) अगर आप में वैद्य के सब गुण हैं और वैद्य की सम्पदा आपके पास है, तो आप बेखटके मनुष्यों की प्राण-रक्षा कीजिए, क्योंकि वैद्य मनुष्यों का प्राण रक्षक कहलाता है।

अगर आप औषधि का उत्तम रूप से प्रयोग करेंगे तो आपको चिकित्सा में सफलता होगी, सफलता होने से आपकी नामवारी फैलेगी; नामवारी होने से लक्ष्मी आपके चरणों में लौटेगी।

जिस तरह तेल बत्ती बगैरह के होते पर भी, दीपक हवा के झोंके से बुझ जाताहै, उसी तरह आयु होने पर भी रोगी बिना चिकित्सा के मर जाता है।"

(5) साध्यासाध्य परीक्षा के सिवा, वैद्य को 'अरिष्ट-चिह्न' अवश्य देखने चाहिए। अरिष्ट-चिह्नों से वैद्य को मृत्यु का पता बहुत ठीक लगता है। पहले वैद्य अरिष्ट-चिह्नों के जानकार और अभ्यासी होने के कारण ही वर्षों पहले ही रोगी की मृत्यु बता दिया करते थे, इसलिए वैद्य को अरिष्ट-चिह्नों को देखकर इलाज करनी चाहिए। जो वैद्य अरिष्ट चिह्नों को देखकर इलाज करता है, वह देवता की तरह पूजा जाता है। जो बिना अरिष्ट-चिह्नों को देखे इलाज करता

है, वह बदनाम होता है। अरिष्ट-चिह्नों के विषय में हम आगे लिखेंगे, तथापि इस जगह इतना बता देने में हर्ज नहीं कि अरिष्ट किसे कहते हैं। जिन लक्षणों के होने से रोगी की मृत्यु निश्चित ही हो, यदि ऐसे चिह्न नजर आवें तो उन चिह्नों को अरिष्ट या रिष्ट कहते हैं। जिस तरह वृक्षों में फूल आने से फल लगने की, धुआँ से आग होने की और बादल होने से वर्षा की सम्भावना होती है, उसी तरह अरिष्ट-चिह्न होने से मृत्यु की सम्भावना होती है। बंगसेन महोदय कहते हैं –

न त्वरिष्टस्य जातस्य नाशोऽस्ति मरणादृते।
मरणञ्चापि तत्रास्ति यात्रारिष्टं पुरःसरम्।।

"अरिष्ट होने से मृत्यु अवश्य होती है। वह मृत्यु नहीं जिसमें पहले अरिष्ट के लक्षण न हो और वह अरिष्ट नहीं जिसके होने से मरण न हो।" वाग्भट्ट ने कहा है –

विनाऽरिष्टं नास्ति मरणं दृष्टिरिष्टं च जीवितम्।
अरिष्टेऽरिष्ट विज्ञानं न च रिष्टेत्वनैपुणात्।।

"अरिष्ट विना मरण नहीं होता और अरिष्ट होने से जिन्दगी नहीं रहती। जो अरिष्ट-चिह्न जानने में निपुण नहीं है, उसको अरिष्ट ज्ञान नहीं होता।" बंगसेन ने कहा है –

असिद्धिं प्राप्नुयाल्लोके प्रतिकुर्वन् गतायुषः।
तस्माद्यत्नेना रिष्टाणि लक्षयेत् कुशलोभिषक्।।

"जिसकी आयु पूरी हो गयी है, उस मनुष्य की चिकित्सा करने से वैद्य की सिद्धि नहीं होती। इस वास्ते चतुर वैद्य को अच्छी तरह से अरिष्ट देखकर इलाज करना चाहिए।"

(6) अगर चिकित्सा में विशेष सफलता की इच्छा रखते हों तो रोगी के पास जाकर इतनी बातें अवश्य देखें :-

(क) रोगी का शरीर दुबला है या मोटा अथवा स्वाभाविक?

(ख) रोगी में कितना बल है? रोगी बलवान है या बलहीन? रोगी के बलवान का विचार करके ही दवा देनी चाहिए। यदि वैद्य दुर्बल रोगी को अति बलवान औषधि दे दे, तो रोगी के मर जाने की सम्भावना है। कमजोर रोगी अति बलिष्ठ, अत्यन्त गर्म और अत्यन्त शीतल दवा अथवा अग्नि कर्म, क्षार-कर्म और शास्त्र-कर्म नहीं सह सकता। कमजोर रोगी बहुत दवा से अक्सर मर

जाता है। इसलिए दुर्बल रोगी को हल्की दवा देनी चाहिए। अगर तेज दवा देने की जरूरत हो तो थोडी-थोड़ी मात्रा में कई बार देनी चाहिए, जिससे किसी प्रकार के उपद्रव की संभावना न रहे। विशेषकर स्त्रियों के मामले में इस बात का और भी ख्याल रखना चाहिए क्योंकि स्त्रियों का हृदय अस्थिर-चंचल, नर्म, खुला, हुआ और अत्यन्त डरपोक होता है। जो वैद्य इन बातों का विचार किये बिना दवा देते हैं, वे रोगी की प्राण हानि करते हैं।

(ग) रोगी के सत्व यानी मन की परीक्षा करनी चाहिए। देखना चाहिए रोगी प्रवर-सत्व है, मध्य सत्व है या हीन सत्व। आत्मा के साथ मन का संयोग होने से मन शरीर का पालन-पोषण करता है। सत्व बल भेद के कारण तीन प्रकार का होता है।

प्रवर सत्व वाला प्राणी निज और आगन्तुक कारण से हुई घोर पीड़ा से भी नहीं घबराता।

मध्य सत्व वाला दूसरे की देखा-देखी या सहायता से पीड़ा को सहन करता है।

हीन सत्व वाला न तो धीरज रखता है और न दूसरे की सहायता से धैर्य धारण करता है। ऐसे पुरूष बड़े भारी डील-डौल के होने पर भी जरा सी पीड़ा नहीं सह सकते। लड़ाई की बात सुनने से या कहीं खून गिरता देखकर ही बेहोश हो जाते हैं। अथवा उनका चेहरा फल हो जाता है।

(घ) सात्म्य-परीक्षा भी करनी चाहिए। देखना चाहिए रोगी को कैसा आहार-विहार अनुकूल होता है, यानी कैसा खाना, पीना, उसके मिजाज के मुआफ़िक होता है। सात्म्य परीक्षा रोगी के पूंछ्ने से होती है।

जिन प्राणियों को घी, दूध, तेल, मांस और खट्‌टे, मीठे, नमकीन प्रभृति-दही प्रकार के रस सात्म्य यानी मुआफ़िक होते हैं वे बलवान क्लेश सहने वाले और दीर्घजीवी होते हैं। जो लोग हमेशा रूखा भोजन करते हैं, जिन्हें कोई एक ही मुआफ़िक होता है वे कमजोर और कम उम्र के होते हैं। जिन्हें मिले हुए रस मुआफ़िक होते हैं, व मध्यबली होते हैं।

सात्म्य परीक्षा से वैद्य को दवा और पथ्य तजवीज करने में बड़ा सुभीता होता है। इससे प्रकृति का भी निश्चय हो जाता है। जैसे जिसे गर्म अहार-विहार, मुआफ़िक होते हैं, उसका मिंजाज ठण्डा और जिसे शीतल-आहार-विहार मुआफि होते है, उसका मिजाज गर्म होतां है।

(ङ) प्रकृति-परीक्षा भी करनी चाहिए। देखना चाहिए, रोगी की प्रकृति कैसी है? रोगी की प्रकृति बात की है या पित्त की या कफ की? यानी रोगी का मिजाज गर्म है या ठण्डा। रोग रोगी की प्रकृति अनुकूल है या प्रतिकूल? प्रकृति तुल्यता है या नहीं? जैसे किसी की पित्त प्रकृति हो और उसका कफ का उपद्रव हो तो प्रकृति तुल्यता नहीं है। प्रकृति तुल्यता[1], देश तुल्यता[2], ऋतु-तुल्यता[3] आदि खराब है। प्रकृति तुल्यता आदि के न होने से रोग सुख साध्य होता है।

(च) औषधि की परीक्षा भी करनी चाहिए, यानी यह देखना चाहिए कि औषधि रोगी की प्रकृति और ऋतु के अनुकूल है या प्रतिकूल; देशकाल प्रभृति के विचार से विरूद्ध तो नहीं।

(छ) देश की परीक्षा करनी चाहिए। जाँच कर देखना चाहिए कि रोगी जांगल[4], अनूप[5] और साधारण[6] इन देशों में से किस में पैदा हुआ है, किस देश में

---

1. पित्त प्रकृति वाले को कफ का उपद्रव हो तो प्रकृति-तुल्यता न हुई यह अच्छी बात है। अगर पित्त प्रकृति वाले को पित्त का ही रोग हो, तो प्रकृति तुल्यता हो गई, जो खराब है।
2. अनूप देश में स्वभाव से ही वात कफ के रोग होते हैं। अगर रोगी को उस देश में पित्त का रोग हुआ, तो देश-तुल्यता न हुई, इसलिए रोग सुखसाध्य है। अगर अनूप देश में वात-कफ का रोग हो तो देश तुल्यता हो गई। देश तुल्यता कष्ट-साध्य है।
3. शरद् ऋतु में पित्त कुपित होता है, यानी शरद पित्त का मौसम है। अगर शरद ऋतु में किसी को पित्त का रोग हो तब तो ऋतु तुल्यता हुई। अगर शरद ऋतु में कफ का रोग हो तो ऋतु-तुल्यता न हुई। ऋतु तुल्यता का न होना रोगी और वैद्य दोनों के लिए अच्छा है।
4. जिस देश में पानी और दरख्त कम हों और जहाँ पित्त और वात के रोग होते हैं, उस देश को जांगल देश कहते हैं ऐसा देश मारवाड़ है।
5. जिस देश में पानी बहुत हो, वृक्ष बहुत हों और जहाँ वात और कफ के रोग होते हैं, उस देश को अनूप देश कहते हैं। जैसे- बंगाल,
6. जिस देश में अनूप और जांगल दोनों के लक्षण हों, वह साधारण देश कहलाता है।

बड़ा हुआ है और किस देश में रोगी हुआ है। उस देश की आब-हवा कैसी है, वहाँ कैसे रोग होते हैं, रोगी को कैसा रोग हुआ है, देश तुल्यता है या नहीं। जैसे देश बादी हो और रोग भी बादी का हो तो देश तुल्यता समझनी चाहिए। अगर ऐसा हो तो रोग कष्ट साध्य है।

(7) रोगी के लिए मात्रा नियत करने में वैद्य को पूरी चतुराई से काम लेना चाहिए। औषधि की मात्रा का कोई बाँधा हुआ कायदा नहीं है। काल, अग्नि, बल, उम्र, स्वभाव देश और वातादि दोषों का विचार करके, वैद्य रोगी की मात्रा नियत करे। न कम मात्रा नियत करे, न ज्यादा रोग के बलाबल के अनुसार मात्रा नियत करने से लाभ होगा। कम म्रात्रा से रोग आराम न होगा, अधिक से रोग बढ़ जायेगा या रोगी मर जायेगा। कहा है -

नाल्पं हन्त्यौषधं व्याधिं यथाल्पाम्बु महानलम्।
दोषवच्चातिमात्रं स्याच्छस्यमृत्यूदकं यथा॥
मात्रया हीनया द्रव्यं विकारं न निवर्त्तयेत्।
द्रव्याणामति बाहुल्याद्व्यापत्संजायते ध्रुवम्॥

"जिस प्रकार अत्यन्त प्रज्जवलित अग्नि पर थोड़ा सा गर्म जल डालने से वह नहीं बुझती उसी प्रकार बड़े रोग में थोड़ा मात्रा की औषधि से रोग आराम नहीं होता। जिस तरह खेत में अधिक जल बरसने से अनाज नष्ट हो जाता है, उसी तरह छोटे रोग में औषधि की अधिक मात्रा देने से रोगी मर जाता है। कम मात्रा से रोग आराम नहीं होता और अधिक मात्रा से निश्चय ही विपद आती है।

(8) यदि आपको रोगी के रोग में निम्नलिखित बातें नजर आवें तो आप शौक से इलाज करें, भगवान् चाहेंगे तो आपको अवश्य सफलता मिलेगी। ऐसे रोग को सुखसाध्य कहते हैं। यानी जिस रोग में निम्नलिखित लक्षण हों, वह बिना कठिनाई के सुख से आराम हो जायेगा -

(क) रोग के हेतु यानी कारण[1] थोड़े हों।

(ख) उस रोग के पूर्वरूप[2] में जितने लक्षण होने चाहिए उससे कम हुए हों।

---

1. जिन कारणों से रोग होता है; उन्हें रोग के कारण कहते हैं जैसे अति भोजन, से अजीर्ण रोग हो जाता है। यहाँ अति भोजन अजीर्ण का हेतु या कारण है।

2. रोग के पूरी तरह प्रकट होने के पहले जो लक्षण दिखाई देते हैं, उन्हें पूर्वरूप कहते हैं। जैसे ज्वर होने के पहले नेत्रों का जलना, शरीर का टूटना, सिर में दर्द होना प्रभृति।

(ग) उस रोग के लक्षण जितने शास्त्र में लिखें. है, उससे कम हो।

(घ) दूष्य[1] देश, प्रकृति और काल के साथ उस रोग की तुल्यता न हो।

(ङ) ऐसा रोग न हो जिसका इलाज न हो सके।

(च) रोग की गति[2] एक हो, चाहे अधोगामी हो, चाहे ऊर्ध्वगामी।

(छ) रोग नया हो यानी थोड़े दिन का हो।

(ज) रोग के साथ कोई उपद्रव[3] न हो।

(झ) रोग एक दोषज हो यानी दोषों में से किसी एक के कारण हो, दो या तीनों दोषों के कुपित होने से न हो।

(ञ) रोगी का शरीर ऐसा हो, जो हर प्रकार की औषधि को सहन कर सके। चाहे दागिये, चाहिए क्षार-कर्म कीजिए, चाहे चीर-फाड़ कीजिए, चाहे जुलाब दीजिए, चाहे कय कराइये।

(ट) कीमती या दुर्लभ, जैसी भी दशा चाहो, मिल सकती हो, दवा पहले कहे हुए चारों गुणों से युक्त हो।

(ठ) रोगी की सेवा करने वाला रोगी भक्त, चतुर, सुश्रुषा-कर्म को जानने वाला और पवित्र हो।

(ड) रोगी में रोगी के सब गुण हों, यानी रोगी सब बातों को याद रखने वाला, वैद्य की आज्ञा पालन करने वाला, निर्भय-चित्र और अपने रोग का ज्यों का त्यों ठीक हाल करने वाला हो।

(ढ़) स्वयं वैद्य में शास्त्र-पारंगता, बहुदर्शिता, चतुराई और पवित्रता ये चारों गुण हों यानी सच्चे वैद्य हों

---

1. रस, रक्त, आदि को दूष्य कहते हैं। वात, पित्त, कफ, को 'दोष' कहते हैं। पित्त भी गर्म है और रक्त भी गर्म है। अगर पित्त से रक्त दूषित हुआ तो दूष्य-तुल्यता हुई। परन्तु कफ शीतल है। अगर उससे रक्त दूषित हो तो दूष्य-तुल्यता हुई। दूष्य-तुल्यता कष्ट साध्य है।

2. रक्तपित्त रोग में रक्त ऊपर के रास्ते नेत्र, नाक और मुँह से निकलता है, तथा नीचे के रास्ते लिंग, गुदा योनि से निकलता है। यदि एक रास्ते से गिरता है तो रोग सुख से अराम हो जाता है, दोनों राहों से गिरता है तो कष्ट से आराम होता है।

3. रोग के साथ उपद्रव- जैसे मुख्य रोग तो ज्वर हो, किन्तु उसके साथ कास, श्वास, हिचकी, अतिसार आदि हों तो इनको 'ज्वर' के उपद्रव कहेंगे।

(9) गर्भवती बालक और बृद्ध का रोग यदि अत्यन्त उपद्रव सहित हो तो असाध्य दोष है। इसलिए ऐसी अवस्था में इनका इलाज न करना चाहिए।

(10) अगर किसी रोगी का रोग, त्रिदोष से हुआ हो, रोग चिकित्सा के मार्ग का अतिक्रम कर गया हो, साथ ही रोगी अस्थिरताजनक, मोहजनक और इन्द्रिय विनाशक हो, तो आप रोगी को हाथ में न लीजिए, और यदि ले लिया हो तो, जवाब दे दीजिए। अगर किसी दुर्बल व्यक्ति का रोग बढ़ गया हो और अरिष्ट चिन्ह नजर आते हों तो आप रोगी को जबाब दे दीजिए।

(11) अगर किसी रोगी को जुलाब देना हो तो बड़ी सावधानी से और समझ-बूझकर दीजिए। जुलाब देना सहज काम नहीं है। जुलाब का ज्यादा लग जाना या न लगना दोनों खराब है।

अगर जुलाब न लगेगा तो रोगी के मुख में पानी भर-भर आयेगा, हृदय में अशुद्धि होगी, कफ और पित्त की सी वमन होने की शंका होगी, पेट में अफारा होगा, खाने में अरूचि होगी, उल्टी होगी, देह में बल न रहेगा, शरीर भारी से मालूम होगा, आँखों में नींद-सी आएगी। शरीर गीला-गीला सा हो जाएगा, जुकाम के चिह्न नजर आएंगे और अधोवायु खुलकर न निकलेगी।

अगर जुलाब जोर से लग जाएगा तो पहले तो मल, पित्त कफ और अधोवायु निकलेंगे- शेष में केवल खून गिरने लगेगा। इसके बाद मांस और मेद से पानी घुला हुआ पानी सा निकलेगा या दस्त, कफ और पित्त जिसमें न होगा, ऐसा जल निकलेगा या काला-काला, खून निकलेगा रोगी को प्यास बहुत लगेगी और वायु का कोप हो जाएगा। इसीलिए विद्वानों ने कहा है-

चिकित्साप्राभृतो विद्वान् शास्त्रवान् कर्मतत्परः।
नरं विरेचयति यं संयोगात् सुखमश्नुते।।
यो वैद्यमानी त्वबुधो विरेचयति मानवम्।
सोऽतियोगादयोगाच्च मानवो दुःखमश्नुते।।

चिकित्सा कर्म में कुशल, विद्वान्, शास्त्रों के जानने वाला, और अपने काम का अभ्यास रखने वाला वैद्य जिसको जुलाब देता है, वह रोगी रोग से छूट कर सुखी होता है। किन्तु वैद्य का घमण्ड करने वाला अज्ञानी वैद्य जिसको जुलाब देता है, वह मनुष्य अतियोग अधिक जुलाब लग जाने और अयोग-जुलाब न लगने के कारण दुःख का भागी होता है।"

वैद्य यदि तुझे कर्म सिद्धि, अर्थ-सिद्धि, यशोलाभ और स्वर्गकामना है, तो सदा गुरू के उपदेशों पर ध्यान दें; हमेशा सब जीवों की मंगल-कामना कर, सर्वान्तःकरण से रोगियों को अरोग्य करने, सावधानी से लगा रहकर अपनी जीविका के लिए रोगियों से अत्यन्त धन न ले, मन से भी पर स्त्री गमन की इच्छा न कर, पराये धन पर मन मत चला, सदा साफ-सफेद कपडे पहनकर और अपने चिकित्सा के यन्त्रों यानी औजारों को हमेशा साफ रक्खा कर, भूलकर भी मदिरा पान मतकर, पाप-कर्म से दूर रहकर, निष्पाप लोगों की संगति कर, धर्म में मति रख, सबका भला चाह, सच्चे दिल से पराया हितकर, ज्यादा वकवाद मतकर, सदा देश-काल का विचार रख, बातों को याद रखकर तरह-तरह की वैद्योपयोगी वस्तुओं का संग्रह किया कर।''

''जो व्यक्ति राजद्रोही हो, जो बड़े आदमियों से विरोध रखते हों, जो दुष्ट और दुराचारी हों, जिन्हें अपनी बदनामी का भय न हो जो स्वयं मरने को तैयार हों, ऐसे लोगों की चिकित्सा नहीं करनी चाहिए। जिन स्त्रियों के सिर पर उनके पति या भाई आदि सम्बन्धी न हो, उनका इलाज भी नहीं करना चाहिए। स्त्रियाँ यदि कोई चीज उपहार स्वरूप दें तो बिना उनके पति, भाई, देवर, आदि सम्बन्धियों की आज्ञा के न लो।''

- घर के मालिक को आज्ञा लेकर घर में जाओ। घर में खबर करा कर घुसो। जहाँ जाओ दिव्य वस्त्र पहनकर जाओ, घर में नीचा सिर करके घुसो। रोगी के पास जाकर रोग का तत्व समझने की चेष्टा करो और किसी तरह फालतू बात मत करो। रोगी के काम के सिवा और किसी विषय में वाक्, मन, बुद्धि और इन्द्रियों को न लगाओ।''
- रोगी के घर की बात और किसी से कभी मत करो। रोगी की मृत्यु निश्चय हो, तुमको रोगी की मृत्यु का सोलह आने विश्वास हो जाये तो यह बात किसी से भी मत कहो। ऐसी बात सुनने से रोगी और रोगी के सम्बन्धियों के चित्त पर गहरी चोट लगती है।
- तुम कैसे ही धुरन्धर विद्वान् क्यों न हो, पर अपनी तारीफ आप कभी मत करो। जो लोग अपनी बड़ाई आप करते हैं, उनसे प्राणी विरक्त हो जाते हैं।

(13) रोगी की रोग-परीक्षा के समय जल्दबाजी मत करो, चाहे आपको हानि ही क्यों न होती हो, आपको और जगह की फीस ही क्यों न मारी जाती हो। थोड़े

रोगी हाथ में लेना, और उनको रोगमुक्त करना अच्छा, किन्तु ढ़ेर रोगियों को हाथ में ले लेना और फिर उन्हे संभाल न सकना अच्छा नहीं।

आँख, कान, नाक, जीभ और त्वचा (चमड़े) से रोगी के रोग की परीक्षा करो; पूछने की बात पूछकर मालूम करो। जब सब तरह से आपको समझ में रोग आ जाय, रोग साध्य हो, रोगी की आयु हो, अरिष्ट न हो - तब रोगी की अवस्था, देश, काल और मात्रा का विचार करके उत्तम औषधि दो और दवा-सेवन विधि एवं पथ्यापथ्य की बात रोगी और परिचारक को अच्छी तरह समझा दो। बहुत से वैद्य जल्दी अथवा मिजाज के कारण आधी बात कहते और आधी बात नहीं कहते, फीस जेब में डालकर चल देते हैं हमने अनेक बार देखा है, रोगी के ऊपर, बातों के अच्छी तरह न समझने से अमृत-समान दवाएँ भी बेकार साबित हुई हैं, अथवा 'उपद्रव' बढ़ गये हैं।

4) नाड़ी परीक्षा की आजकल चाल हो गई है। अगर वैद्य नाड़ी न पकड़े तो लोग उसे वैद्य नहीं समझते। इसलिए वैद्यों को नाड़ी पकड़नी ही पड़ती है; किन्तु सारे रोगों का हाल केवल नब्ज से किसी को भी मालूम नहीं हो सकता, क्योंकि कितने ही रोगों में नाड़ी की चाल एक सी होती है।

यहाँ निश्चय रूप से कैसे मालूम हो सकता है कि अमुक ही रोग है। जैसे धातु क्षीण वाले की नाड़ी क्षीणगति और बिल्कुल मन्दी होती है, और मन्दाग्नि वाले की नाड़ी भी क्षीण गति और बिल्कुल मन्दी होती है; इसी तरह तृप्त मनुष्य की नाड़ी स्थिर होती है और कफ तथा प्रदर रोग में भी नाड़ी स्थिर होती है। सारांश यह है कि नाड़ी परीक्षा अवश्य करनी चाहिए, क्योंकि नाड़ी परीक्षा से वैद्य का बड़ा काम निकलता है, पर एक मात्र नाड़ी-परीक्षा पर निर्भर रहने से बहुधा धोखा हो जाता है।

यद्यपि प्राचीन आयुर्वेद शास्त्र 'चरक' सुश्रुत प्रभृति में नाड़ी-परीक्षा का जरा भी जिक्र नहीं है, तो भी आजकल इसका रिवाज हो गया है। नाड़ी-ज्ञान बिना वैद्य की प्रतिष्ठा नहीं है और नाड़ी-परीक्षा से लाभ भी है; इसलिए वैद्य को इसका अभ्यास अवश्य करना चाहिए। मगर नाड़ी परीक्षा गुरू के सिखाने से जैसी अच्छी आती है, वैसी अपने आप पुस्तकों की सहायता से नहीं आ सकती। हाँ जो एकलव्य की तरह चतुर पुरूष हैं वे अपने-अपने इस कठिन विद्या को सीख सकते हैं, पर सभी एकलब्य नहीं। आलकल नाड़ी-परीक्षा शास्त्रानुसार हो गयी है, यानी आजकल के शास्त्र इसे और परीक्षाओं के साथ

रोगी हाथ में लेना, और उनको रोगमुक्त करना अच्छा, किन्तु ढ़ेर रोगियों को हाथ में ले लेना और फिर उन्हे संभाल न सकना अच्छा नहीं।

आँख, कान, नाक, जीभ और त्वचा (चमड़े) से रोगी के रोग की परीक्षा करो; पूछने की बात पूछकर मालूम करो। जब सब तरह से आपको समझ में रोग आ जाय, रोग साध्य हो, रोगी की आयु हो, अरिष्ट न हो - तब रोगी की अवस्था, देश, काल और मात्रा का विचार करके उत्तम औषधि दो और दवा-सेवन विधि एवं पथ्यापथ्य की बात रोगी और परिचारक को अच्छी तरह समझा दो। बहुत से वैद्य जल्दी अथवा मिजाज के कारण आधी बात कहते और आधी बात नहीं कहते, फीस जेब में डालकर चल देते हैं हमने अनेक बार देखा है, रोगी के ऊपर, बातों के अच्छी तरह न समझने से अमृत-समान दवाएँ भी बेकार साबित हुई हैं, अथवा 'उपद्रव' बढ़ गये हैं।

(14) नाड़ी परीक्षा की आजकल चाल हो गई है। अगर वैद्य नाड़ी न पकड़े तो लोग उसे वैद्य नहीं समझते। इसलिए वैद्यों को नाड़ी पकड़नी ही पड़ती है; किन्तु सारे रोगों का हाल केवल नब्ज से किसी को भी मालूम नहीं हो सकता, क्योंकि कितने ही रोगों में नाड़ी की चाल एक सी होती है।

यहाँ निश्चय रूप से कैसे मालूम हो सकता है कि अमुक ही रोग है। जैसे धातु क्षीण वाले की नाड़ी क्षीणगति और बिल्कुल मन्दी होती है, और मन्दाग्नि वाले की नाड़ी भी क्षीण गति और बिल्कुल मन्दी होती है; इसी तरह तृप्त मनुष्य की नाड़ी स्थिर होती है और कफ तथा प्रदर रोग में भी नाड़ी स्थिर होती है। सारांश यह है कि नाड़ी परीक्षा अवश्य करनी चाहिए, क्योंकि नाड़ी परीक्षा से वैद्य का बड़ा काम निकलता है, पर एक मात्र नाड़ी-परीक्षा पर निर्भर रहने से बहुधा धोखा हो जाता है।

यद्यपि प्राचीन आयुर्वेद शास्त्र 'चरक' सुश्रुत प्रभृति में नाड़ी-परीक्षा का जरा भी जिक्र नहीं है, तो भी आजकल इसका रिवाज हो गया है। नाड़ी-ज्ञान बिना वैद्य की प्रतिष्ठा नहीं है और नाड़ी-परीक्षा से लाभ भी है; इसलिए वैद्य को इसका अभ्यास अवश्य करना चाहिए। मगर नाड़ी परीक्षा गुरू के सिखाने से जैसी अच्छी आती है, वैसी अपने आप पुस्तकों की सहायता से नहीं आ सकती। हाँ जो एकलव्य की तरह चतुर पुरूष हैं वे अपने-अपने इस कठिन विद्या को सीख सकते हैं, पर सभी एकलब्य नहीं। आलकल नाड़ी-परीक्षा शास्त्रानुसार हो गयी है, यानी आजकल के शास्त्र इसे और परीक्षाओं के साथ

शामिल करते हैं यहाँ इस बात को समझ लेना चाहिए कि यदि लोग केवल नाड़ी परीक्षा से काम चलता देखते तो नाड़ी परीक्षा के साथ मूत्र-परीक्षा, मल-परीक्षा, जिह्वा परीक्षा, प्रभृति और सात परीक्षाओं की जरूरत नहीं समझते। कहा है -

गदाक्रान्तस्य देहस्य स्थानान्यष्टौ परीक्षयेत्।

नाड़ी-मूत्र-मलं जिह्वा-शब्द-स्पर्श-दृगाकृतिम् ।।

रोगी के शरीर के आठ स्थानों की परीक्षा करनी चाहिए - (1) नाडी, (2) मूत्र, (3) मल, (4) जीभ, (5) शब्द, (6) स्पर्श, (7) आँख और (8) आकृति। यद्यपि आजकल नाड़ी-परीक्षा प्रधान है, तथापि प्रमेह, सूजाक और पथरी रोग में बिना मूत्र-परीक्षा के काम नहीं चलता। अतिसार, संग्रहणी और सन्निपात प्रभृति रोगों में मल-परीक्षा करनी होती है। आमवात प्रभृति रोगों में जिह्वा की और कण्ठ के रोगों में 'शब्द' की परीक्षा की जाती है। दाद, खुजली प्रभृति चर्मरोगों में स्पर्श-परीक्षा होती है, यानि हाँथ से छूकर रोग का तत्व मालूम करते हैं। पाण्डु-कामला यानि पीलिया वगैरह में 'आँखे' देखी जाती हैं। फोड़ा आदि में फोड़े की आकृति देखते हैं।

(15) चिकित्सा कराने वाले के लिए अनेक मौके भी आ जाते हैं जब किसी रोग का नाम, उसे नहीं मालूम होता है। यह बात दो तरह से होती है, (1) वैद्य को समय पर उस रोग के लक्षण याद न आने से, (2) कोई ऐसा रोग प्रकट हो जाने से, जिसके लक्षण पूर्वाचार्यो ने लिखे ही न हो। मोती-ज्वरा, पानी ज्वरा, यकृत-रोग, फिरंग प्रभृति ऐसे अनेक रोग हैं जो पहले भारत में नहीं होते थे, किन्तु अब विदेशियों के आवागमन से भारत में आकर बस गये हैं। ऐसे रोगों के निदान-लक्षण आदि का जिक्र इनमें भी नहीं है।

यद्यपि हमारे पूर्वाचार्यो ने अनेक रोगों का नाम और रूप आदि लिख दिए हैं, तो भी चिकित्सा का दारोमदार वातादि दोषों पर ही रखा है। हमारे यहाँ दोषों की विषमता का नाम 'रोग' है और समता का नाम 'आरोग्य' है। जिस क्रिया द्वारा वैषम्य-प्राप्त धातुएँ समता को प्राप्त होती है, यानी घटे हुए, बढ़े हुए दोष समान हो जाते है, उसे ही चिकित्सा कहते हैं।

शास्त्रकारों ने सभी रोगों के नाम नहीं लिखे हैं, इसलिए किसी रोग का नाम यदि मालूम न हो तो वैद्य को घंबराना अैर मुँह उतारना उचित नहीं। चरक में लिखा है -

विकारनामाकुशलो न जिह्वीयात्कदाचन।
नहि सर्व विकाराणां नामतोऽस्ति ध्रुवा स्थिति।।

"अगर कोई वैद्य रोग जानने में कुशल न हो तो हरगिज न शरमाये, क्योंकि सभी रोगों की स्थिति नाम से ही नियत नहीं है।"

अगर वैद्य को किसी रोग के नाम का पता न लगे तो घबराए नहीं, परन्तु वातादि दोषों की परीक्षा अच्छी तरह कर ले, यानी इस बात की खोज करे कि कौन सा दोष कुपित है और कौन सा दोष घटा या बढ़ा है और कौन सा दोष समान है। जिन दोषों की घटती-बढ़ती देखें उन्हें समान करे। दोषों के समान होने से ही रोगी आराम हो जाएगा। कहा है -

नास्ति रोगो बिना दोषैर्यस्मात्तस्माच्चिकित्सकः।
अनुक्तमपि दोषाणां लिंगैर्व्याधिमुपाचरेत्।।

रोग दोषों के बिना नहीं होते इसलिए यदि किसी रोग का नाम शास्त्र में लिखा हो, तो वैद्य दोषों (वात, पित्त, कफ) के चिह्न देखकर उन्हीं के अनुसार रोगों की चिकित्सा करे, अर्थात् घटे हुए दोषों को बढ़ाकर और बढ़े हुए दोषों को घटाकर समान करे, क्योंकि दोषों की विषमता का नाम रोग और समता का नाम ही आरोग्य है। चरक में और भी लिखा है -

विकारो धातुवैषम्यं साम्यं प्रकतिरूच्यते।
सुखसंज्ञकमारोग्यं विकारो दुःखमेव च।।
याभिः क्रियाभिर्जायन्ते शरीरे धातवः समाः।
सा चिकित्सा विकाराणां कर्म तद्भिषजां मतम्।।

वात, पित्त और कफ की विषमता का नाम रोग है और इनकी समता का नाम, आरोग्य है और आरोग्य का नाम सुख और रोग का नाम दुःख है। जिस क्रिया के द्वारा विषम धातुएँ सम हो जायँ उसे ही रोगों की चिकित्सा कहते हैं और वैद्यों का कर्म है।"

(16) हारीत मुनि ने लिखा है कि तपस्वी, ब्राह्मण स्त्री, बालक, दीन, दुर्बल, बुद्धिमान, पण्डित, महात्मा, वेदपाठी, साधु, अनाथ और बन्धुहीन रोगी की चिकित्सा वैद्य बिना कुछ लिए पुण्यार्थ करे।

राजा, साहूकार, ठाकुर, सेनापति -इनकी चिकित्सा करके वैद्य को धन लेना चाहिए और इससे भय न करना चाहिए।

ब्राह्मण, पुरोहित, कवीश्वर, कत्थक और ज्योतिषी इनकी चिकित्सा अवश्य करना चाहिए, क्योंकि ऐसे ही लोगों की चिकित्सा से वैद्य को यश मिलता है।

कसाई, चोर, म्लेच्छ, आग लगाने वाला, मछलियों को मारने वाला, अनेको का दुश्मन और चुगलखोर, इनकी चिकित्सा नहीं करनी चाहिए।

अब हारीत मुनि का जमाना नहीं है, इसलिए अब जैसा समय है वैसा ही काम करना चाहिए। मतलब यह है कि जिनके पास धन है, जो देने योग्य हैं, उनसे अवश्य लेना चाहिए, और जिनके पास धन नहीं है जो दीन और अनाथ है, उनकी चिकित्सा मुफ्त करनी चाहिए। मुफ्त इलाज करने से अवश्य कीर्ति फैलेगी।

इस विषय में बंगसेन महोदय ने आजकल के समय के अनुकूल खूब अच्छा लिखा है। उन्होंने लिखा है – "अत्यन्त क्रोधी, बिना विचारे हर प्रकार का साहस करने वाला, भयभीत, किसी उपकार को न मानने वाला, हर समय शोक में डूबा रहने वाला, मरने की इच्छा करने वाला, वैद्य को ठगने वाला, ऐसे रोगियों की चिकित्सा वैद्य को नहीं करनी चाहिए। ऐसे रोगियों का इलाज करने से वैद्य को सिवा हानि के अलावा कोई लाभ नहीं, मिलने-जुलने को तो खाक नहीं, यदि किसी तरह रोग बढ़ जाय तो वैद्य बेचारे की बदनामी होती है। निर्धनों की चिकित्सा करने में वैद्य को लोभ त्यागकर पुण्य संचय करना चाहिए और धनवानों से धन लेना चाहिए।"

(17) हमारे देश में आजकल लंघन की बड़ी चाल हो गई है। ज्वर आया नहीं कि रोगी को वैद्य जी ने लंघन का हुक्म दिया नहीं। इसका नतीजा बहुत खराब होता है। अनेक रोग उठ खड़े होते हैं। लंघन कराने से वातादि दोषों का क्षय होता है, भूख लगती है, ज्वर हल्का होता है मगर चाहे जिस ज्वर में, चाहे जिस रोगी को लंघन कराने और बल का विचार किये बिना अन्धाधुन्ध लंघन कराने का परिणाम खराब होता है। लंघन इस तरह कराना चाहिए जिससे बल न घटे क्योंकि बल के आधीन ही अरोग्यता है और आरोग्यता के लिए ही चिकित्सा की जाती है। बाल रोगी, भूखे, प्यासे, थके हुए तथा बालक, बूढ़े, गर्भवती स्त्री को लंघन कराना ही मुनासिब नहीं। वाग्भट्ट ने लिखा है – जिसे खाना खा चुकते ही बुखार चढ़ आवे और जिसे आमज्वर हो, उसे वमन यानी कय करानी चाहिए। अत्यन्त लंघन से हडफूटन, खांसी, मन में भ्रम.

प्रभृति तकलीफें उठ खड़ी होती हैं। भूख, प्यास, का नाश हो जाता है और रोगी बलहीन हो जाता है। इस वास्ते लंघन विचार कर कराना चाहिए।

(18) वैद्य जिस रोगी का इलाज करे उसकी औषधि का ही प्रबन्ध करके न रह जाय। साथ ही पथ्य-अपथ्य का भी ख्याल रखे। हमने अनेक वैद्य ऐसे देखें हैं जो रोगी को देखकर दवा लिख जाते या दे जाते हैं। परन्तु पथ्य का उन्हें ख्याल नहीं रहता। रोगी या रोगी के घर वाले अगर पूछते हैं तो आप लापरवाही से साबूदाना या मूंग का जूस रूखी रोटी, परवल का साग आदि बताकर अपना पीछा छुड़ाते हैं। वैद्य को इस बात का हमेशा ख्याल रखना चाहिए कि बिना पथ्य सेवन के हजार उत्तम औषधियाँ देने पर भी रोगी को आराम नहीं हो सकता। कहा है -

विनापि भेषजैर्व्याधिः पथ्यादेव निवर्तते।
न तु पथ्य विहीनस्य भेषजानां शतैरपि।।
पथ्ये सति गदार्त्तस्य किमौषधनिषेवणैः।
अपथ्ये सति गर्दात्तस्य किमौषधनिषेवणैः।।

बिना दवा के केवल पथ्य से भी रोगी का रोग आराम हो जाता है और पथ्यहीन रोगी का रोग हजारों दवाइयों से भी आराम नहीं होता।

यदि पथ्य सेवन किया जाय तो रोगी को दवा खाने की जरूरत नहीं, उसका रोग बिना दवा के ही आराम हो जाएगा। यदि रोगी अपथ्य सेवन करे, तो उसे दवा व्यर्थ है, क्योंकि अपथ्य सेवन करने पर हजारों दवाइयाँ देने से भी रोग आराम न होगा।" इसलिए कहा है कि एक पथ्य और हजार दवा।

(19) कैसे भी बढ़ी जगह हो, पर वैद्य को रोगी के घर, बुलावा आये बिना हरगिज नही जाना चाहिए। जो वैद्य बिना बुलाये रोगी के घर जाता है, उसका नाम नहीं होता। कहा है -

कुचैलः कर्कशः स्तब्धः ग्रामीणः स्वयमागतः।
शस्यते यस्य वैद्यो न धन्वन्तरिसमो यदि।।

"जो वैद्य मैले कपड़े पहनताहै, कड़वी वाणी बोलता है, अभिमानी है, कातर और व्यवहार कुशल नहीं होता, गांव का गँवार, होता है, बिना बुलाये अपने आप रोगी के घर चला जाता है, यदि वह धन्वन्तरि के समान हो, तो भी उसकी इज्जत नहीं होती।"

इसके विपरीत जो साफ-सफेद वस्त्र पहनता है, मीठी-मीठी बातें करता है, घमण्ड नहीं करता और व्यवहार कुशल होता है।

तमीजदारी से काम लेता है और बिना बुलाये रोगी के यहाँ नहीं जाता, उसका आदर मान होता है।

(20) अगर तुम किसी वैद्य को असाध्य रोगी की चिकित्सा करते और सफलता प्राप्त करते देख लो तो भी तुम स्वयं मत करो। असाध्य रोगी का इलाज हाथ में लेने वाले वैद्य अच्छे नहीं होते। देखते हैं अगर मूर्ख भी शीघ्र ही प्रमेह में माषान्न और मदात्यय रोग में जौ की शराब का सेवन करता है, तो उसका काम बन जाता है।

(21) पहले वैद्य रोगी के जल का बहुत अच्छा ख्याल रखते थे, मगर आजकल के वैद्य भी डाक्टरों की देखा-देखी, बहुधा सभी रोगों में शीतल जल पीने को दिला देते हैं, अथवा जिनका ख्याल गर्म जल पर जमा हुआ है, वह सभी रोगों में औटाया हुआ जल दिला देते हैं; मगर यह बड़ी भारी गलती है। वैद्य को चाहिए कि जिन रोगों में गरम जल की आज्ञा है, उनमें गर्म जल दिलावें और जिनमें शीतल जल की आज्ञा है, उनमें शीतल जल दिलावें, अन्यथा भलाई के बदले बुराई होने की सम्भावना है। रक्त-पित्त मूर्च्छा और खून विकार एवं पित्त के रोगों में गर्म जल हानिकारक है- इसी तरह जुकाम ताजा, ज्वर, हिचकी और खांसी वगैरह में शीतल जल हानिकारक है। सन्निपात, रोग में प्यास से पीड़ित रोगी को बिना पकाया शीतल जल देना और उसकी मृत्यु को बुलाना दो बात नहीं है। कहा है -

मूर्च्छापित्तोष्णदाहेषु विषरक्त मदात्यये।
श्रमे भ्रमे विदग्धेऽन्ने तमके वमथौ तथा।।
ऊर्द्ववेगे रक्तपित्ते च शीतलाम्बु प्रशस्यते।
पार्श्वशूले प्रतिश्यायें वातरोगे गलग्रहे।
आध्माने स्तिमिते कोष्ठे सद्यः शुद्धौ नवज्वरे।
अरूचिग्रहणीगुल्मश्वासकासेषु विद्रधी।।
हिक्कायां स्नेहपाने च शीताम्बु परिवर्जयेत्।
सन्निपातेन ताभ्यन्तं पार्श्वरूक्तालुशोषिणम्।।
यः पायेज्जलं शीतं स मृत्युर्नरविग्रहः।।

"मूर्च्छा, पित्त, गरमी, दाह, विष, रक्त, विकार, मदात्म्य, श्रम, भ्रम, तमकश्वास, वमन और ऊपर के रक्त-पित्त, इन रोगों में तथा जिसका अन्न पच गया हो, उसे शीतल जल अच्छा है।

पसली की पीड़ा, जुकाम, वादी के रोग, मलग्रह, अफारा, दस्त, कब्ज, जुलाब के ऊपर, नये बुखार में, अरूचि संग्रहणी, गुल्मरोग, श्वास, खाँसी, विद्रधि और हिचकी में तथा तेल आदि पीने पर शीतल जल पीना मना है; अर्थात् इन रोगों में गरम किया हुआ जल पीना चाहिए।

सन्निपात रोगी यदि प्यास के मारे घबरा रहा हो, उसकी पसलियों में दर्द हो, उसका तलुआ सूख रहा हो, अगर ऐसी दशा में वैद्य उस रोगी को ठण्डा पानी पीने को दिलावे तो उस वैद्य को रोगी की साक्षात् मृत्यु समझना चाहिए।

बहुत से रोग ऐसे भी है जिनमें वैद्य को रोगी के लिए थोड़ा जल पीने की हिदायत करनी चाहिए। अरूचिं, जुकाम, मन्दाग्नि, सूजन, क्षय, मुख प्रसेक (मुख से जल गिरना), उदर रोग, कोढ़, नेत्र-रोग, ज्वर, व्रण और मधुमेह में अल्प जल पीना अच्छा है।

(22) सन्निपात में रोगी अक्सर बकझक करने लगता है, उसी समय लोग कहा करते हैं कि इसे बादी आ गई है। मूढ वैद्य उस रोग के शान्त करने के लिए रोगी को घी पिलाते हैं, क्योंकि घृतपान करने से वात की शान्ति होना प्रसिद्ध है। मगर यह बड़ी भारी गलती है, सन्निपात में घी पिलाना रोगी को मारना है। बंगसेन ने लिखा है -

सन्निपातेन मनुजं विलापन्तन्तु यो घृतम्।
पाययेद् भोजयेद् वापि तौ च स्यातामुभौ वधम्।।

"सन्निपात रोग में प्रलाप करते हुए रोगी को घी पिलाने या उसके भोजन में घी देने से रोगी मर जाता है।"

सन्निपात रोगी को भूख लगने पर मांस और भात देना तथा दाह के मारे रोगी के चिल्लाने पर उसके ऊपर ठण्डा पानी गिराना महामूर्खो का काम है। इन बातों से रोगी मर जाता है।

सन्निपातों में मधु कदापि नहीं देना चाहिए। क्योंकि मधु खाने पर शीतल उपचार किया जाता है, और सन्निपात में शीतल उपचार ही मनाही है। सन्निपात ज्वर में अगर पसीना आवे तो उनसे शीघ्र ही रोगी के मरने का भय रहता है।

सन्निपात के शान्त होने पर दूध प्रभृति पतले रसों के सेवन या दिन में सोने से आमाशय में कफ संचित होकर वायु के मार्गो को रोककर धमनियों में घुसकर तन्द्रा पैदा करता है। तन्द्रा वाले की आँखे आधी बन्द और आधी खुली-सी रहती है। और कुछ टेढ़ी-मेढ़ी सी मालूम होती है। आँखों के तारे इधर-उधर घूमते हैं, पलक स्थिर हो जाते है, बाहर से ही दाँत दीखते हैं। ऐसे-ऐसे और भी लक्षण होते हैं। यह तन्द्रा तीन दिन तक साध्य है, फिर असाध्य हो जाती है, इसलिए नास वगैरह देकर पथसामर्थ्य तन्द्रा को शीघ्र दूर करना चाहिए, नहीं तो रोगी मर जाएगा। ज्वर में तन्द्रा सबसे अधिक बुरा उपद्रव है। कहा है -

सन्निपातज्वरोत्पन्नो युक्त्या तन्द्रां जयेद्भिषक्।
उपद्रवः कष्टतमो ज्वराणां सविशेषतः।।

सन्निपात ज्वर में जो तन्द्रा पैदा हो, उसे वैद्य को बड़ी बुद्धिमानी से नाश करना चाहिए क्योंकि ज्वर में यह उपद्रव सबसे अधिक कष्टकर है।

सन्निपात ज्वर के अन्त में रोगी की कान की जड़ में एक प्रकार की घोर सूजन पैदा हो जाती है, उस सूजन से कोई भाग्यवान बचता है, नहीं तो जिनके होती है, वे मर ही जाते हैं। उसका भी भरसक जोंक प्रभृति उपचारों से शीघ्र नाश करना चाहिए।

सन्निपात ज्वर के रोगियों के आराम करने के वास्ते बेहोशी, पसीना, तन्द्रा प्रभृति उपद्रवों के नाश करने के लिए उत्तमोत्तम नाश, अंजन, शरीर या हाथ-पैरों में मलने की उत्तमोत्तम दवाइयाँ वैद्य पहले से तैयार रखे। ऐसे रोग में वक्त पर हाथ पैर फूल जाते हैं, अनेक चीजों के जल्दी न मिलने या तैयार करने में देरी होने से रोगी की जान चली जाती है।

जितने रोग है, उनमें ज्वर की चिकित्सा कठिन है। गाय, भैंस, हाथी, घोड़े प्रभृति पशुओं को मार ही डालता है, केवल मनुष्य ही इसे सह लेते हैं, पर मनुष्यों में भी यह स्वभाव से ही कष्ट साध्य है। यह सब में बलवान हैं इसी से इसे रोगों का राजा कहा है। ज्वर में भी सन्निपात ज्वर सबसे बुरा है। इसलिए बंगसेन ने कहा है -

समद्रतरणं ध्येतद्वदन्ति भिषगीश्वराः।
मृत्युना सह योद्धव्यं सन्निपातं चिकित्सता।।
सन्निपातार्णवे मग्नं योऽभ्युद्धरति मानवम्।

कस्तेन न कृतो धर्मः काञ्च पूजां न सोऽर्हति।।

"जो वैद्य सन्निपात की चिकित्सा करता है, वह साक्षात् मौत से लड़ता है; उसको प्राचीन वैद्य समुद्र से निकलने वाला कहते हैं।

सन्निपात रूपी समुद्र में डूबे हुए रोगी को जो बचाता है उसने कौन सा धर्म नहीं किया और वह किस पूजा के योग्य नहीं है?"

हारीत संहिता में लिखा है – "सन्निपात ज्वर में पहले वात-कफ को नाश करने वाली क्रिया करनी चाहिए; जब कफ का क्षय हो जाता है, तब वात और पित्त आप ही शान्त हो जाते हैं। सन्निपात ज्वर में यत्न से तन्द्रा को दूर करना चाहिए क्योंकि यह बड़ा कठिन और शीघ्र प्राणनाशक उपद्रव है।

सन्निपात ज्वर में कफ से पूरित रोगी को जो वैद्य पथ्य देता है, वह वैद्य रोगी का शत्रु है। इस ज्वर में पथ्य और दवा यो ही नहीं देनी चाहिए। मतलब यह है कि वैद्य सन्निपात ज्वर में ऐसे उपाय करे, जिससे कफ दूर हो। जब कफ निकल जाय और शरीर के छंद शुद्ध हो जायँ, शरीर हल्का हो जाय और प्यास जाती रहे तब वैद्य पथ्यादि का विचार करे; कफ के बिना दूर हुए ही यदि पथ्य दे दिया जायेगा तो रोगी अवश्य मरेगा। सन्निपात के इलाज में बड़े धैर्य, बड़े साहस और बड़ी बुद्धिमानी की जरूरत है।

(23) ज्वर ऋतु के अनुसार दोषों की तुल्यता होने से साध्य होता है, प्रमेह दोषों की दूष्यता समान होने से साध्य होता है और रक्तगुल्म पुराना होने से सुख साध्य होता है।

(24) जिस रोगी के शरीर की शोभा नष्ट हो, इन्द्रियाँ अपना-अपना काम न कर सकती हों- अन्न में एकदम अरूचि हो, ज्वर तेज और उसका वेग गम्भीर हो ऐसे ज्वर रोगी का इलाज मत करो।

बवासीर यानि अर्श के रोगी को भी समझ-बूझकर हाथ में लेना चाहिए। यदि बवासीर गुदा की पहली बलि या पहले आँटे में हो, एक दोष से उत्पन्न हुई हो और बहुत दिनों की न हो, तब तो आप इलाज कीजिए, रोगी आराम हो जाएगा। अगर बवासीर दो दोषों से पैदा हुई हो, गुदा की दूसरी बलि में हो जिसे एक वर्ष हो चुका हो, वह तकलीफ से आराम होती है जो बवासीर जन्म से ही हो, अथवा तीनों दोषों से पैदा हुई हो और भीतर की बलि में हो उसको असाध्य समझने और वैसी अराम करने का दावा मत करो। हाँ असाध्य बवासीर भी, अगर रोगी की उम्र बाकी हो, वैद्य, औषधि, सेवक और रोगी

अपने चारों गुणों से मुक्त हो तभी रोगी को अग्नि दीप्त हो तो शायद बड़ी-बड़ी चेष्टाओं से आराम हो जाय।

अगर बवासीर वाले रोगी के हाथ, पाव, मुख, नाभि, गुदा और फोतों में सूजन हो, हृदय और पसलियों में दर्द हो, तो रोग को असाध्य समझो। जिस बवासीर-रोगी को प्यास लगती हो, अरूचि हो, दर्द के मारे घबराता हो, खून ज्यादा गिरता हो, साथ ही सूजन और अतिसार हो, ऐसा रोगी मर जाता है। अनेक बवासीर रोगी जिनको बवासीर में अत्यन्त तकलीफ नहीं होती, जिनके शरीर में बल होता है, दवा सेवन करते रहते हैं, और साथ ही अपथ्य भी सेवन करते रहते हैं। इसलिए उनको आराम नहीं होता, बल्कि रोग बढ़ जाता है। हारीत संहिता में लिखा है-

यथा काष्ठचयं दूरात्, प्राप्य घोरतोऽग्निकः।
तथापथ्यस्थ संयोगाद्भवेद्घोरतरो गदः।।

"जैसे लकड़ियों के ढ़ेर में दूर से पड़ी हुई अग्नि घोर रूप धारण कर लेती है, उसी तरह अपथ्य के संयोग से रोग भी घोर रूप धारण कर लेता है। इसलिए आप अपने रोगी से चेता-चेता कर कह दो कि भाई! दिशा-पेशाब की हाजत मत रोकना, स्त्री-प्रसंग मत करना, हाथी या घोड़े की सवारी मत करना, उकडू मत बैठना, दोष करने वाले पदार्थ हरगिज न खाना-पीना। एक तरफ दवा होती रहे और दूसरी ओर रोगी उपर्युक्त काम करता रहे तो रोग कैसे आराम होगा? बवासीर रोगी को मठा सेवन करने की सलाह जोर से दीजिए। मठा सेवन करने से मस्से जाते रहते हैं और फिर पैदा नहीं होते। मठे से बल, वर्ण और अग्नि की बृद्धि होती है, शरीर के स्रोत शुद्ध हो जाते हैं, इसलिए रस का संचार अच्छी तरह होता है, और कफ-बात के सैकड़ों विकार नष्ट हो जाते हैं।

चीते की जड़ की छाल को खूब महीन पीसकर घड़े में लेप करके उसमें दही जमाकर और बिलोकर मठा पीने से हमारे अनेक रोगी बवासीर से छुट्कारा पा गये हैं। यह नुसखा बहुत अच्छा है। सारांश यह है कि बवासीर में मेदे का बलवान रहना, अग्नि वृद्धि होना, भूख लगना, बहुत जरूरी है। इसके लिए

तक्रयानी माठा[1] परमोत्तम है। आप अपने रोगी को मठा पीने की सलाह अवश्य देते रहें।

पाण्डु या पीलिया अत्यन्त पुराना हो, तो असाध्य समझो। जिस पीलिया वाले शरीर में सूजन हो, जिसे जगत के सभी पदार्थ पीले ही पीले दीखें, उसे भी असाध्य समझो। रुधिर के क्षय होने से जिसका शरीर सफेद या पीला हो गया हो, जिसके दाँत, नाखून और नेत्र पीले हो गये हों और जिसे संसार के पदार्थ पीले दिखें, वह पीलिया वाला रोगी अवश्य मर जाता है।

वात-व्याधि, प्रमेह, कुष्ठ, बवासीर, भगन्दर, पथरी, मूढ़गर्भ और उदररोग, ये आठ महाव्याधि कहलाती हैं। ये आठों स्वभाव से ही कष्ट साध्य हैं। यदि इन महारोगों के साथ बलक्षय, मांसक्षय, श्वास, तृष, शोष, सर्दी, ज्वर, मूर्च्छा, अतिसार और हिचकी ये उपद्रव कभी हो, तब तो इनका आराम होना असम्भव ही है। इसलिए उत्तम वैद्य, जो अपनी सिद्धि चाहे, ऐसे रोग वालो को हाथ में न ले।

बालक अति वृद्ध और विकल के सारे शरीर में सूजन हो, तो वे निश्चय ही मर जायेगा।

जिस रोगी का सारा चमड़ा पीला हो गया हो, जिसकी आँखे, पीली पड़ गयी हों, जिसका पेशाब भी पीला हो तथा सभी चीजे पीली दीखें - ऐसा रोगी अवश्य मर जाता है।

जो रोगी बहुत दिनों का बीमार हो और जिसका रोग बढ़ रहा हो, जो खाने को न खाता हो, जो टूटे हुए अंगो को देखता रहता हो और औषधि न लेता हो ऐसे रोगी का इलाज समझ-बूझकर करना चाहिए क्योकि ऐसी जगह सफलता की आशा बहुत ही कम होती है।

जिस रोगी की जीभ, दोनों होंठ और आँखे लाल हो, अथवा उनसे खून गिरता हो, ऐसा रक्तातिसार और रक्तपित्त वाला रोगी मर जाता है। जिसकी कय से खून गिरे, विशेष करके जिसकी आँखे लाल हों और जिसे सब तरफ लाल ही लाल दिखे ऐसा रक्त पित्त रोगी भी मर जाता है।

---

1. यद्यपि मठा बल पैदा करता है और थकान दूर करता है, ग्रहणी-दोष बवासीर और अतिसार में हितकारी है, तथापि और-और रोगों में यह नुकसान भी करता है। जिनको मूर्च्छा भ्रम, प्यास-रोग, और रक्त-पित्त हो उनको मठा कभी नही देना चाहिए। इन रोगों में मठा लाभ के बदले हानि करता और अनेक रोग पैदा करता है। ग्रीष्म-ऋतु और शरद ऋतु में मठा हानिकारक है।

अध्याय तृतीय
आयुर्वेद सम्बन्धी वाले मुख्य पुराण

अध्याय - तृतीय
आयुर्वेद सम्बन्धी सामग्री वाले मुख्य पुराण

पुराणों में विज्ञानः-

लोकोपयोगी अनेक विद्याओं का वर्णन पुराणों में विशेषतः विश्वकोशीय अग्नि, गरूड तथा नारदीय में प्रचुरता से उपलब्ध होता है। इन विद्याओं का विवरण इनके प्रतिपादक मौलिक ग्रन्थों के आधार पर किया गया है। वर्णन है तो संक्षिप्त ही परन्तु पर्याप्त प्रामाणिक है। लोक-व्यवहार के लिए इतनी भी जानकारी कम उपयोगी नहीं है। कुछ विद्याएँ तो इतनी विलक्षण हैं कि उनके मूल ग्रन्थ आज बड़े परिश्रम से खोजे जा सकते हैं। पुराणों ने इन विद्याओं के आचार्यो के भी नाम तथा मत दिए हैं, जो अज्ञात या अल्पज्ञात है। अतः संस्कृत के वैज्ञानिक साहित्य का भी परिचय पुराणों के गम्भीर अध्ययन से सर्वथा सुलभ है। इसी दृष्टि से भी पुराणों का अध्ययन लोकोपयोगी तथा कल्याणकारी है।

(१) अश्वशास्त्र :-

यह प्राचीन विद्या है। सभापर्व से अश्वसूत्र तथा हस्तिसूत्र का उल्लेख है। अश्वों की चिकित्सा के निमित्त एक स्वतंत्र आयुर्वेद विभाग था जो शालिहोत्र के नाम से प्रख्यात था। पुराणों में अश्व के सामान्य परिचय, उनके चलाने के प्रचार, उनके रोग और उपचार आदि विषयों की सम्यक् जानकारी हमें हो सकती है। अग्निपुराण में घोड़ों के चलाने के प्रकारों का बड़ा ही उपयोगी वर्णन है। इस पुराण के 289-90 अध्याय में अश्वों की चिकित्सा संक्षेप में वर्णित है। गरूडपुराण के एक अध्याय में भी यह विषय विवृत हुआ है। इसी के प्रसंग में हस्तिशास्त्र का भी विवरण बड़ा उपयोगी है। सोमपुत्र बुध गजवैद्यक के प्रवर्तक थे-ऐसी पौराणिक अनुश्रुति मत्स्यपुराण में निर्दिष्टि है। गजायुर्वेद का वर्णन धन्वन्तरि ने किया था। इसका संक्षिप्त विवेचन गरूड पुराण में उपन्यस्त है। अग्निपुराण में यह विविध विवृत है तथा 291 अध्याय में गजशान्ति का उपन्यस्त है। मत्स्यपुराण में संकेतित सोमपुत्र बुध का निर्देश पालकत्य ने अपने हस्तिविद्या विषयक ग्रन्थ में किया है। मत्स्य8 का कथन इस प्रकार है -

तारोदर विनिष्क्रान्तः कुमारश्चन्द्रसन्निभिः।
सर्वथार्थविद् धीमान् हस्तिशास्त्र प्रवर्तकः।।
नाम्ना यत् राजपुत्रीयं विश्रुतं गजवैद्यकम्।
राज्ञः सोमस्य पुत्रत्वाद् राजपुत्रो बुधः स्मृतः।।

मल्लिनाथ के रघुवंश की टीका में राजपुत्रीय से गम्भीरवेदी हस्ती का लक्षण उद्धृत किया गया है। अग्निपुराण गायों की चिकित्सा का अलग से वर्णन करता है। इस प्रकार पशु चिकित्सा के त्रिविध प्रकारों का वर्णन पुराणों ने प्रस्तुत किया है।

आयुर्वेद :-

आयुर्वेद एक लोकोपयोगी जनजीवन से नित्यप्रति सम्बन्ध शास्त्र है। फलतः लोक से सम्बन्ध रखने वाले पुराणों में इसकी चर्चा नितान्त स्वाभाविक है। अग्नि तथा गरूड दोनों पुराणों से यह विषय विशद रूप से चर्चित है। आयुर्वेद के अनेक विभागों में निदान तथा चिकित्सा मुख्य है। इसके निमित्त औषधियों के स्वरूप का तथा गुण का परिचय होना स्वाभाविक है। इन पुराणों में ये विषय विस्तार से विवृत हुए हैं। धन्वन्तरि यहाँ वक्ता हैं जो सुश्रुत को उपदेश देते हैं। यह धन्वन्तरि काशी के राजा दिवोदास का ही नामान्तर बतलाया जाता है। सुश्रुत विश्वामित्र के पुत्र बतलाये गये हैं। गरूड पुराण 56 अध्यायों में (146 अध्याय से 202 अध्याय) इस विषय का सांगोपांग विवेचन प्रस्तुत करता है। प्रधान रोगों के जैसे ज्वर, रक्तपित्त, कास, श्वास आदि के निदान का वर्णन किया गया है। (116अ. से 167अ.)। औषधियों के नामों की विस्तृत सूची 202 अध्याय में दी गई है तथा 173अ. - 193अ. में द्रव्यगुण का वर्णन है। गारूडी विद्या अर्थात् सर्पदंश3 को दूर करने की विद्या भी विवृत है, अग्निपुराण में भी इस विषय का उपयोगी उपन्यास किया गया है। अध्याय 279-281 तक रोगों का, 283अध्याय नाना रोगों को हरण करने वाली औषधियों का, मृत संजीवनी नामक सिद्ध योगों का तथा 286 अध्याय में नाना कल्पयोगों काविवरण देकर पुराणकार ने चिकित्साशास्त्र का एक हस्तामलक ही मानों यहा प्रस्तुत किया गया है। इतना तो निश्चय है कि इन पुराणों ने उपयोगी विद्याओं के सार-संकलन की अपनी प्रक्रिया के अनुसार ही यह विषय-विवेचन किया है, जो प्रामाणिक होने के साथ ही साथ नितान्त व्यवहारोपयोगी भी है।

वृक्षायुर्वेद भी भारत जैसे कृषि प्रधान देश के लिए तो सर्वोपरि उपादेय शास्त्र है। इसमें वृक्षों, लताओं तथा गुल्मों में लग जाने वाले रोगों की दवाओं का वर्णन है। अग्निपुराण के एक विशिष्ट अध्याय (282अध्याय) ही ने इस विषय का प्रामाणिक, परन्तु संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया है। यह भारतवर्ष की एक प्राचीन विद्या है।

आयुर्वेद सम्बन्धी सामग्री

(क) अग्निपुराण :-

इस पुराण को यदि समस्त भारतीय विद्याओं का विश्वकोष कहें तो किसी प्रकार अत्युक्ति न होगी। इन पुराणों का उद्देश्य जनसाधारण में ज्ञातब्य विद्याओं का प्रचार करना भी था, इसका पूरा परिचय हमें इस पुराण के अनुशीलन से मिलता है। इस पुराण के 383 अध्यायों में नाना प्रकार के विषयों का सन्निवेश कम आश्चर्य का विषय नहीं है। अवतार की कथाओं का संक्षेप में वर्णन कर रामायण और महाभारत की कथा पर्याप्त विस्तार के साथ दी

गयी है। मन्दिर-निर्माण की कला के साथ प्रतिष्ठा तथा पूजन के विधान का विवेचन संक्षेप में सुचारू रूप से किया गया है। ज्योतिषशास्त्र, धर्मशास्त्र, व्रत, राजनीति, आयुर्वेद आदि शास्त्रों का वर्णन बड़े विस्तार के साथ मिलता है। छन्दः शास्त्र का निरूपण आठ अध्यायों में किया गया मिलता है। अलंकार शास्त्र का विवेचन बड़े ही मार्मिक ढ़ंग से किया गया है। व्याकरण की भी छानबीन कितने ही अध्यायों में की गयी है। कोश के विषय में भी कई अध्याय लिखे गये हैं जिनके अनुशीलन से पाठ्कों के शब्द ज्ञान की विशेष वृद्धि हो सकती है। योगशास्त्र के यम, नियम, आदि आठों अंगो का वर्णन संक्षेप में बड़ा ही सुन्दर है। अन्त में अद्वैत वेदान्त के सिद्धान्तों का सार संकलन है। एक अध्याय में गीता का भी सारांश एकत्रित किया गया है। इस प्रकार इस पुराण के अनुशीलन से समस्त ज्ञान-विज्ञान का परिचय मिलता है। इसीलिए इस पुराण का यह दावा सर्वथा सच्चा ही प्रतीत होता है कि

आग्नेये हि पुराणेऽस्मिन् सर्वाः विद्याः प्रदर्शिताः।।

अर्थात् इस आग्नेय (अग्नि) पुराण में सभी विद्याओं का वर्णन है। अग्निदेव ने महर्षि वशिष्ठ को यह पुराण सुनाया था। पद्म पुराण में भगवान् विष्णु का ही विग्रह अथवा मूर्तरूप बतलाया गया है और उनके विभिन्न अंग ही विभिन्न पुराण कहे गये हैं। इस दृष्टि से अग्नि पुराण को भगवान् श्रीहरि का बांया चरण कहा गया है-

अङ्घ्रिर्वामो ह्याग्नेयमुच्यते।

अग्निपुराण में 383 अध्याय हैं, जिसके अन्तर्गत परा-अपरा विद्याओं का वर्णन, मत्स्य, कर्म आदि नारायण के अवतारों की कथाएँ, रामायण के सातों काण्डों की संक्षिप्त कथा, हरिवंश नाम से प्रभु का वर्णन, भगवान् श्रीकृष्ण के वंश का वर्णन, महाभारत के सभी पर्वों की संक्षिप्त कथा, सृष्टि-वर्णन, स्नान-संध्या-पूजा-होम विधि, मुद्राओं के लक्षण, दीक्षा-विधि, अभिषेक-विधि, विविध मण्डलों की रचना विधि, निर्वाण-दीक्षा के 48 संस्कार, पवित्रारोपण, अधिवास-विधि, देवालय निर्माण फल, भूपरिग्रह-विधान, शिलान्यास-विधान, प्रासाद-लक्षण, प्रासाद-देवता-स्थापन विधि, विविध देव प्रतिमाओं के लक्षण, पिंडिका-लक्षण, लिंग का लक्षण तथा मान, प्राण प्रतिष्ठा की विधि, देवपूजाविधि, कलाशोधन, शांतिशोधन, तत्व-दीक्षा, दोषों के विविध मन्त्रों, वास्तु पूजा विधि और खगोलशास्त्र का वर्णन है। इसी प्रकार इनमें तीर्थ, महात्म्य, गया यात्रा विधि और श्राद्धकल्प, ज्योतिष शास्त्र, त्रैलोक्य विजय विद्या, संग्राम विजय विद्या, महामारी विद्या, वशीकरण आदि षट्कर्म, संवत्सरों के नाम, मंत्र, औषधि, कुब्जिका, पूजा, लक्षकोटि, होम-विधि, वर्णाश्रम धर्म, विविध, पातक एवं उनके प्रायश्चित विधान, प्रतिपदा से पूर्णिमा तक के शुभाशुभ लक्षण, रत्न परीक्षा, धनुर्वेद व्यवहार, सीमा-विवाद निर्णय, उत्पात शान्ति विधि, भोजन की विधि, दिक्पाणादि-स्नान एवं विनायक

स्नान की विधि, सूर्य एवं चन्द्रवंश का विस्तार, सिद्धौषधि एवं रसादि का वर्णन, वृक्षायुर्वेद, गज चिकित्सा, अश्वचिकित्सा, गजशान्ति, अश्व शान्ति, नागों के लक्षण और सर्पदंश की चिकित्सा, बाल तंत्र, ग्रह यंत्र, नरसिंह मन्त्र, त्रैलोक्यमोहन मन्त्र, लक्ष्मी एवं त्वरिता पूजा तथा मन्त्र, वागीश्वरी पूजा एवं सिद्धि आदि का प्रतिपादन किया गया है। साथ ही इनमें अधोरात्र-मन्त्रोद्धार, पाशुपत शांति, रूद्र-शान्ति, छन्दशास्त्र, काव्य लक्षण, नाट्यशास्त्र, श्रृंगारादि रस, अलंकार, व्याकरण शास्त्र, शब्दकोष, प्रलय वर्णन, नरक वर्णन, कर्मविपाक, योगांग, ब्रह्मज्ञान, भगवद्गीता का भावार्थ, यमगीता तथा अन्त में पुराण के पठन-पाठन, श्रवण और दान का माहात्म्य बतलाया गया है।

(ख) गरूड पुराण :-

इस पुराण में विष्णु ने गरूण को विश्व की सृष्टि बतलायी है। इसीलिए इसका नाम गरूड पुराण पड़ गया। इसमें 18000 श्लोक हैं और अध्यायों की संख्या 264 है। इसमें दो खण्ड हैं आरम्भ में विष्णु तथा उनके अवतारों का माहात्म्य कथित है। इसके एक अंश में नाना प्रकार के रत्नों की परीक्षा है, जैसे मोती की परीक्षा (अ.69), पद्मराग की परीक्षा (अ. 70), मरकत, इन्द्रनील, वैदूर्य, पुष्पराग, करकेतन, भीष्मरत्न, पुलक, रूधिराख्य रत्न, स्फटिक तथा विद्रुम की परीक्षा (अ. 71-80तक) क्रमशः की गयी है। राजनीति काशीवर्णन बड़े विस्तार के साथ यहाँ (अ. 108से 115तक) उपलब्ध होता है। आयुर्वेद के आवश्यक निदान तथा चिकित्सा का कथन अनेक अध्यायों (अ. 150-181) में किया गया है।

नाना प्रकार के रोगों को दूर करने के लिए औषधि व्यवस्था भी यहाँ (अ. 170-196तक) की गयी है। इसके अतिरिक्त एक अध्याय (197) में पशु चिकित्सा का भी वर्णन इसमें पाया गया है जो समधिक महत्वपूर्ण है। एक दूसरा अध्याय (अ.199) बुद्धि को निर्मल बनाने के लिए औषध की व्यवस्था करता है। अच्छा होता कि आयुर्वेद के प्रतिपादक 50 अध्याय अलग पुस्तकाकार में प्रकाशित किये जाते और अन्य आयुर्वेद के ग्रन्थों के साथ इसका भी अनुशीलन किया जाता। छन्दःशास्त्र के विषय में 6अध्याय (अ.211-216) यहाँ मिलते हैं। सांख्य योग का भी इसमें (अ.230 और 243) वर्णन है। एक अध्याय (अ. 242) में गीता का सारांश भी वर्णित है। इस प्रकार गरूण पुराण का यह पूर्वअंश अग्निपुराण के समान ही समस्त विद्याओं का विश्वकोश कहा जाय तो अनुचित न होगा।

इस पुराण का उत्तरखण्ड प्रेतकल्प कहा जाता है। जिसमें 42 अध्याय हैं। मरने के बाद मनुष्य की क्या गति होती है? वह किस योनि में उत्पन्न होता है? तथा कौन-कौन सा भोग भोगता है? इसकावर्णन अन्य पुराणों में यत्र-तत्र पाया जाता है, परन्तु इस पुराण में इस विषय का अत्यन्त विस्तृत तथा सांगोपांग वर्णन मिलता है। जो अन्यत्र उपलब्ध नहीं

होता। इसमें गर्भावस्था, नरक, यम नगर का मार्ग, प्रेतगण का वास स्थान, प्रेत लक्षण तथा प्रेत योनि से मुक्ति, प्रेतों का रूप मनुष्यों की आयु, यमलोक का विस्तार, सपिण्डीकरण की विधि, वृषोत्सर्ग विधान आदि विषयों का भिन्न-भिन्न अध्यायों में बड़ा रोचक तथा विस्तृत वर्णन उत्पन्न होता है। श्राद्ध के समय इस पुराण का पाठ किया जाता है।

गरूड पुराण प्रधान तथा वैष्णव पुराण है और इसमें विशेषतः पूर्वखण्ड में विष्णु-भक्ति एवं उपासना से सम्बन्धित सांगोपांग दसों अवयवों का सन्निवेश है। सनातन हिन्दू धर्म में मृत्यु के पश्चात् प्रायः गरूड पुराण के श्रवण का प्रावधान है तथा उत्तरखण्ड में प्रेतकल्प का वर्णन है। मरने के पश्चात् जीव की गति, उसका अन्य योनियों में जन्म, मोक्ष आदि का विस्तार से वर्णन प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त दान, प्रेतयोनि से मुक्ति के उपाय, श्राद्ध आदि पर विस्तार से तथ्यात्मक व तर्कात्मक सार प्रस्तुत किया गया है। सभी पुराणों में इसकी श्लोक संख्या 18000बतलाई गयी है। किन्तु वर्तमान समय में 7000 श्लोक ही उपलब्ध होते हैं।

गरूड पुराण के तीसरे अध्याय में 'पक्षि ऊँ स्वाहा' इस मन्त्र को तथा गरूड पुराण को मुख्य गारूडी विद्या कहा गया है। पुराण में एक कथा आती है कि जब परीक्षित को तक्षक के द्वारा डसने की बात का प्रचार हुआ, तो सभी बड़े-बड़े मन्त्रवेत्ता झाड-फूंक के लिए भी चले थे। इन्हीं मे एक कश्यप भी थे। तक्षक ने रास्ते में उन्हें देखा। वह उनके प्रभाव को जानता था। उसने एक वृद्ध ब्राह्मण का वेष बनाकर उनसे पूछा कि आप इतनी उतावली के साथ कहाँ जा रहे हैं? तब कश्यप ने कहा-'आज तक्षक परीक्षित को डसने वाला है, अतः मैं भी उसके विष को दूर कर उन्हें जीवित करने के लिए जल्दी-जल्दी जा रहा हूँ। यह सुनकर ब्राह्मण वेषधारी नागराज ने कहा-तक्षक तो मैं ही हूँ, आप लौट जाइए। मेरे दंश की चिकित्सा किसी के वश की बात नहीं है। तब कश्यप ने कहा मैं तुम्हारे विष को अवश्य दूर करूँगा।

इस पर तक्षक ने कहा यदि ऐसी बात है तो मैं इस वृक्ष को डसता हूँ, आपके पापस जितनी मन्त्र शक्ति हो दिखाइए। यह सुनकर काश्यप ने कहा- तुम अपना अहंकार प्रकट करो। मैं अभी इस वृक्ष को हरा-भरा कर देता हूँ। काश्यप के ऐसा कहने पर तक्षक ने वृक्ष को काटा और वृक्ष आग जैसे जल उठा। यह देखकर उसने काश्यप से कहा बचा सकते हो तो बचाइये। इसके बाद काश्यप ने उस वृक्ष की भस्म राशि को एकत्र कर ज्योंही मन्त्र पढ़कर फूंका त्योंही उसमें से अंकुर निकला, फिर तो पल्लव, शाखा, प्रशाखा, पुष्प आदि से युक्त वह वृक्ष पूर्ववत् ज्यों का त्यों खड़ा हो गया।

यह देखकर तक्षक ने कहा- ब्राह्मन यह तो बड़े आश्चर्य की बात है। अब आप यह बताएँ कि परीक्षित को जिलाने से आपका कौन सा प्रयोजन सिद्ध होगा? तब काश्यप ने कहा

–मुझे राजा से अपार धन मिलेगा। यह सुनकर तक्षक ने उनकी इच्छा से दूना धन देकर काश्यप को वापस कर दिया। काश्यप का यह प्रभाव गरूड पुराण को सुनने से हुआ था, ऐसा गरूड पुराण और महाभारत दोनों में दो बार उल्लिखित है।

गरूण पुराण के प्रथम अध्याय में भगवान् के चौबीस अवतारों का ठीक वही वर्णन प्राप्त होता है, श्रीमद्भागवत के प्रथम स्कन्द के तीसरे अध्याय में है। इसे ब्रह्मा जी ने व्यास और व्यास जी ने सूत आदि ऋषियों को बद्रीनारायण में सुनाया था। आगे के अध्यायों में नीतिसार, आयुर्वेद, गया महात्म्य, श्राद्ध विधि, दशावतार चरित्र, सूर्य–सोम वंश वर्णन आदि बहुत विस्तार से वर्णित हैं। बीच–बीच में इन वंशों में उत्पन्न जरासंघ आदि राजाओं का चरित्र भी निरूपित है। गया महात्म्य तो बताया गया है कि पहले गयासुर नामक एक बलवान दैत्य था। उसने तपस्या से सभी देवताओं की शक्ति नष्ट कर दी थी और उनका सारा अधिकार अपहरण कर लिया था। देवता लोग दुःखी होकर भगवान् विष्णु की शरण में गये। तब उन्होंने कहा– इसका शरीर पृथ्वी पर किसी प्रकार लेटे तो इसका अन्त समझना चाहिए। एकबार वह शिवजी की पूजा के लिए क्षीर समुद्र से कमलों को लेकर कोंकट देश में सो रहा था। यह विष्णु की माया का प्रभाव था। उसी समय भगवान् विष्णु ने उसे गदा से मार डाला। इसलिए गया में विष्णु का नाम गदाधर है, और पुरी का नाम गयापुरी है। वहाँ उन्होंने ब्रह्मा जी को बुलाकर कहा कि यहाँ दैत्य देह के दोष को दूरकर श्राद्ध आदि कार्य पितरों के लिए तारक होंगे। वहाँ उन्होंने रूद्रपद, ब्रह्मा, गायत्री आदि के स्थानों की रचना कर फल्गु नदी भी प्रवाहित की। इस गयापुरी का विस्तार पांच कोस में है। यहाँ ब्रह्मज्ञान के समान मुक्ति मिलती है। गया के आस–पास में पुनपुना नदी, च्यवनाश्रम और राजगृह आदि बड़ी ही पुण्यदायक माने गए हैं।

गरूड पुराण के आरम्भ में मनु से सृष्टि की उत्पत्ति, ध्रुव चरित्र एवं द्वादश आदित्यों की कथा है। बाद में सूर्य, चन्द्र आदि ग्रहों के मन्त्र, शिव–पार्वती के मन्त्र, इत्यादि दिक्पालों के मन्त्र, सरस्वती के मन्त्र, और उनकी नौ शक्तियों का वर्णन है। फिर विष्णु–दीक्षा की विधि और उसके बाद नव व्यूहों के अर्चन का विधान निरूपित है। तेरहवें अध्याय में विष्णु पंजर स्त्रोत, पन्द्रहवें अध्याय में विष्णु–सहस्रनाम–स्त्रोत और चौबीसवें अध्याय में त्रिपुरा का मन्त्र निरूपित है। इसके आगे के अध्याय में 'रत्नसार' ग्रन्थ संक्षेप में वर्णित है। इसमें कहा गया है कि देवताओं ने विश्व विजेता बल नामक दैत्य की प्रर्थना को जिसने पहले इन्द्र आदि देवताओं को जीत लिया था। देवताओं ने उससे कहा कि आप महान यज्ञ के रूप में अपना शरीर परिणत कीजिए। बल ने देवताओं की प्रार्थना मानी, तब उसकी विशुद्ध शक्ति से रत्नों का भण्डार प्रकट हुआ, जो समुद्र, पर्वत, वन आदि की खानों में प्राप्त होता है। हीरा, मोती,

पद्म, राग, मरकत, कर्केतन, इन्द्रनील, वैदूर्य, पुल्क, पुष्पराग, रूधिरमणि, स्फटिक, विद्रुम आदि मुख्य रत्नों तथा मणियों के लक्षण दस-बारह अध्यायों में यहाँ विस्तार से बताये गये हैं।

तद्नन्तर सम्पूर्ण ज्योतिष शास्त्र, बृहस्पति प्रोक्त, नीतिशास्त्र और सामुद्रिक शास्त्र का भी वर्णन है। इसमें सांपो के लक्षण, स्वरोदय शास्त्र, धर्मशास्त्र, विनायक शान्ति, वर्णाश्रम धर्म, विविध व्रत, सम्पूर्ण अष्टांग, आयुर्वेद, पतिव्रता माहात्म्य, सूर्य-चन्द्र वंश वर्णन और भगवान की कथा सुनना, कीर्तन करना, उनकी पूजा करना आदि विष्णु भक्ति की महत्वपूर्ण बाते विस्तार से निरूपित है। कमलनाभ, पुण्डरीकाक्ष, नाम परम पाथेय है। जो इन्हें पुरुष सूक्त से एक फूल तथा एक बार जल चढ़ा देता है; वह तीनों लोकों की पूजा कर लेता है।

इसके आयुर्वेद विभाग में अर्श, अतिसार, प्रमेह, पाण्डु, शोथ, कुष्ठ, विसर्प, नाडी-व्रण तथा स्त्री रोगों की चिकित्सा है। आगे द्रव्यगुण विकास भी है। ब्राह्मी घी के सेवन से मेधा की वृद्धि होती है। नारायण तेल से गठिया की और अजमोद के तेल से गंडमाला का शमन होता है। इसका आयुर्वेदीय भाग धन्वन्तरीय सुश्रुत, अग्निवेश, हारीत, आत्रेय एवं वाग्भट सम्मत है। इसके आगे कई यन्त्र, मन्त्र आदि प्रयोगों एवं व्याकरण तथा छंद शास्त्र का भी वर्णन है।

इसके अन्त में ज्ञानामृतसार है, जिसमें कहा गया हैकि निर्विकल्प, निराभास, निष्प्रपंच, विष्णु का ध्यान करने वाला मुक्त हो जाता है। इसके 233वें अध्याय में 9 श्लोकों में मार्कण्डेय की वह स्तुति है, जिसे पढ़कर मार्कण्डेय मृत्युभय से मुक्त हो गये थे। इसके आगे सांख्य एवं वेदान्त का सार निरूपित है। 237 वें अध्याय का गीतासार है, किन्तु उसमें गीता के श्लोक नहीं है। उसमें कहा गया है कि आत्मा असंग है। जैसे दीपक प्रज्जवलित होकर घट और पट को प्रकाशित करता है, वैसे ही ब्रह्मज्ञान आत्मा को प्रकाशित करने में भी सहायता करता है। इससे वह शीघ्र ही साक्षात् ब्रह्म रूप होकर पूर्ण मुक्त हो जाता है।

सिद्ध औषधियों का वर्णन :-

वैद्य ज्वाराक्रान्त व्यक्ति के बल की रक्षा करते हुए अर्थात् बल पर ध्यान रखते हुए लंघन (उपवास) कराने तदन्नतर उसे सोंठ से युक्त लाल मण्ड (धान के लावे का माँड) तथा नागरमोथा, पित्तपापड़ा, खस, लालचन्दन, सुगन्धवाला और सोंठ के साथ श्रृत (अर्धपक्व) जल को प्यास और ज्वर की शान्ति के लिए दे। छः दिन बीतने के बाद चिरायता जैसे द्रव्यों का काढ़ा अवश्य देना चाहिए।

ज्वर निकालने के लिए (आवश्यकता हो तो) स्नेहन (पसीना) करावे, रोगी के दोष (वातादि) जब शान्त हो जायँ, तब विरेचन-द्रंव्य देकर विरेचन कराना चाहिए। साठी, तिन्नी, लाल अगहनी और प्रमोदक (धान्य विशेष) के तथा ऐसे ही अन्य धान्यों के भी पुराने चावल

ज्वर में (ज्वरकाल में मण्ड आदि के लिए) हितकारी होते हैं। यकवे बने (बिना भूसी के) पदार्थ भी लाभदायक हैं। मूँग, मसूर, चना, कुलथी, मोठ, अरहर, खेखशा, कायफर, उत्तम फल के सहित परवल नीम की छाल, पित्तपापड़ा एवं अनार भी ज्वर में हितकारक होते हैं।

रक्तपित्त नामक रोग यदि अधोग (नीचे की गति वाला) हो तो वमन हितकर होता है तथा उर्ध्वग (ऊपर की ओर गति वाला)हो विरेचन लाभदायक होता है। इसमें बिना सोंठ के षडंग (मुस्तपर्पटकोशरीरचन्दनोदीच्य–नागरमोथा, पित्तपापड़ा, खस, चन्दन एवं सुगन्धवाला) से बना क्वाथ देना चाहिए। इस रोग में (जौका) सत्तू, गेंहूँ का आटा, धान का लावा, जौ के बने विभिन्न पदार्थ, अगहनी धान का चावल, मसूर, मोठ, चना और मूँग, खाने योग्य है। घी एवं दूध से तैयार किये गये गेहूँ के पदार्थ– दलिया, हलुआ आदि भी लाभकारी होते हैं; बलवर्धक रस तथा छोटी मक्खियों का मधु भी हितकारी होता है। अतिसार में पुराना अगहनी का चावल लाभदायक होता है।

गुल्मरोग में जो अन्न कफकारक न हो तथा पठानी लोथ की छाल के क्वाथ से सिद्ध किया गया हो, वही देना चाहिए। उस रोग में वायुकारक अन्न को त्याग दे एवं वायु से रोगी को बचाना चाहिए।

उदररोग में दूध के साथ वाटी खाय। घी से पकाया हुआ बथुआ, गेंहू, अगहनी चावल तथा तिक्त औषध उदर–रोगियों के लिए हितकारी है।

गेंहू, चावल, मूँग, पलाशबीज, खैर, हर्रे, पंचकोल (पिप्पली, पीपलामूल, चाभ, चित्ता, सोंठ) जांगल रस, काला या सफेद जीरा, (पाठान्तर के अनुसार चमेली की पत्ती), सूखी मूली तथा सेंधा नमक ये कुछ रोगियों के लिए हितकारक है। पीने के लिए खारिदोधक (खैर मिलाकर तैयार किया जल) प्रशस्त माना गया है। पेया बनाने के लिए मसूर एवं मूंग का प्रयोग होना चाहिए। खाने के लिए पुराने चावल का उपयोग उचित है। नीम तथा पित्तपापडा का शाक और जांगल रस–ये सब कुष्ठ में हितकर होते हैं। वाय विडंग, काली मिर्च, मोथा, कूट, पठानी लोध, हुरहुर, मैनसिल तथा वच इन्हें गोमूत्र में पीसकर लगाने से कुष्ठ रोग का नाश होता है।

प्रमेह के रोगियों के लिए पूआ, कूट, कुल्माष (घुघुरी) और जौ आदि लाभदायक है। जौ के बने भोज्य पदार्थ, मूंग, कुलथी, पुराना अगहनी का चावल, तिक्त–रूक्ष एवं तिक्त हरे शाक हितकर हैं। तिल, सहजन, बहेड़ा, और इंगुदी के तेल भी लाभदायक है।

मूंग, जौ, गेंहूँ, एक वर्ष तक रखे हुए पुराने धान का चावल तथा जांगल–रस ये राजयक्ष्मा के रोगियों के भोजन के लिए प्रशस्त है।

श्वास-कास (दमा और खाँसी) के रोगियों को कुलथी, मूंग, रास्ना, सूखी मूली, मूंग का पुआ, दही और अनार के रस से सिद्ध किये गये विष्किर, जांगल-रस विजौरे का रस, मधु, दाख और व्योष (सोंठ, मिर्च, पीपल) से संस्कृत जौ, गेंहूँ और चावल खिलाना चाहिए। दशमूल, बला (बरियार या खरेटी) रास्ना और कुलथी से बनाये गये तथा पूपरस से युक्त क्वाथ श्वास और हिचकी का कष्ट दूर करने वाले हैं।

सूखी मूली, कुलथी, मूल (दशमूल), जांगल रस, पुराना जौ, गेंहूँ, और चावल खस के साथ लेना चाहिए। इससे भी श्वास और कास का नाश होता है। शोथ में गुडसहित हर्रे या गुडसहित सोंठ खानी चाहिए।

निरन्तर वातरोग से पीड़ित रहने वाले के लिए पुराना जौ, गेहूँ, चावल, जांगल-रस, मूँग, आंवला, खजूर, मुनक्का, छोटीबेर, मधु, घी, दूध, शुक्र(इन्द्रयव), नीम, पित्तपापड़ा, वृष (बलकारक द्रव्य) तथा तक्रारिष्ट हितकर है।

हृदय के रोगी विरेचन-योग्य होते हैं, अर्थात् इनका विरेचन कराना चाहिए। हिचकी वालों को पिप्पली हितकर है। छाछ-आरनाल, सीधु तथा मोती, ठण्डे जल में लें। यह हिक्का (हिचकी) रोगों में विशेष लाभप्रद है।

मदात्य-रोग में मोती, नमकयुक्त, जीरा तथा मधु हितकर है। उरः क्षत रोगी मधु और दूध से लाह हो लेवे। मांस-रस(जटामांसी के रस) के आहार और अग्निसंरक्षण (बुभुक्षावर्धक भोगों) के क्षय को जीते। क्षयरोगी के लिए भोजन से लाभ अगहनी धान का चावल, नीवार, कलय (रोपा धान) आदि हितकारी है।

अर्श (बवासीर) में यवान्न-विकृति, नीम, मांस (जटामांसी), शाक, संचर नमक, कचूर, हर्रे, मांड का जल मिलाया हुआ मठ्ठा हितकारक है। मूत्रकृच्छ में मोथा, हल्दी के साथ चित्रक का लेप, यवान्न-विकृति, शालिधान्य, बथुआ, सुवर्चल (संचरनमक), त्रयु (लाह), दूध, ईख के रस और घी से युक्त गेंहूँ ये खाने के लिए लाभकारी हैं तथा पीने के लिए मण्ड और सुरा आदि देने चाहिए।

छर्दि (कै, वमन) के लिए लाजा (लावा), सत्तू, मधु, परूथक (फालसा), वैगन का भर्ता, शिखि-पंख (मोर की पांख) तथा पानक (विशेष प्रकार का पेय) लाभदायक है।

अगहनी के चावल का जल, गरम या शीत-गरम दूध; तृष्णा का नाशक है। मोथा और गुड़ से बनी हुई गुटिका (गोली), मुख में रखी जाय तो तृष्णानाशक है। यावन्न-विकृति, पूय (पूआ), सूखी मूली, परवल का शाक, वेत्राग्र (वेंत के अग्रभाग का नरम हिस्सा) और करेलउरूस्तम्भ (जांघा के जकड़ने का विनाशक है। विसर्पी (फोडे फुंसी आदि के रूप में सारे शरीर में फैलने वाले रोग का रोगी) मूँग, अरहर, मसूर के यूष, तिलयुक्त, जांगलरस,

सेंधानमक, सहित घृत, दास, सोंठ, आंवला और उन्नाव के यूष के साथ, पुराने गेहूँ, जौ और अगहनी धान के चावल आदि अन्न का सेवन करें तथा चीनी के साथ मधु मुनक्का एवं अनार से बना जल पीये।

वातरक्त के रोगी के लिए लाल साठी का चावल, गेहूँ, यव, मूँग, आदि हल्का अन्न देना चाहिए। काकमाची (काली मकोय), नेत्राग, बथुआ, सुवर्चना, आदि शाक देना चाहिए। मधु और मिश्री सहित जल पिलाना चाहिए। नासिका के रोगों में दूर्वा से सिद्ध घृत लाभदायक है। आंवले के रस से या भृग्राज के रस से सिद्ध किये हुए तेल का नस्य दिया जाय तो वह सिर के समस्त कृमिरोगों में लाभप्रद है।

शीतल जल के साथ लिया गया अन्नपान और तिलों का भक्षण दाँतों को मजबूत बनाने वाला तथा परम तृप्ति कारक है। तिल के तेल से किया गया कुल्ला दाँतों को अधिक मजबूत करने वाला है। सब प्रकार के कृमियों के नाश के लिए बायबिडंग का चूर्ण तथा गोमूत्र का प्रयोग करें। आँवले को घी में पीसकर यदि उसका सिर पर लेपन किया जाय तो वह शिरोरोग के नाश के लिए उत्तम माना गया है। चिकना और गरम भोजन भी इसके लिए हितकर होता है।

कांन में दर्द हो तो बकरे के मूत्र तथा तेल से कानों को भर देना चाहिए। यह कर्णशूल का नाशक है। सभी प्रकार के सिरके भी इस रोग में लाभदायक हैं। गिरिमृतिका (पहाड़ी मिट्टी), सफेद चन्दन, लाख मालतीकालिका (चमेली की कली) सबको पीसकर बनायी हुयी बत्ती उरःक्षत तथा शुक्र-दोषों को नष्ट करती है। व्योष (सोंठ, काली मिर्च, पीपल) और त्रिफला (आँवला, हर्रा, बहेड़ा) तथा तूतिया थोड़ा जल मिलाकर आँख में डालना चाहिए। यह और रसात्र्जन (रसोत) भी आँख के सब रोगों का नाश करने वाला है। लोध, काँजी और सेंधा नमक को घी में भूनकर शिला पर पीसकर आँखों पर लेप करने से सब प्रकार के नेत्र रोगों में लाभ होता है। आश्च्योतन (आँसू गिरना) तो बन्द ही हो जाता है। गिरिमृत्तिका और सफेद चन्दन का बाहरी लेप आँखों को लाभ पहुँचाता है तथा नेत्र रोगों के नाश के लिए त्रिफला का सदा सेवन करें। (उसके जल से आँखों को धोना उत्तम माना गया है।)

दीर्घजीवी होने की इच्छा वाले को रात में त्रिफला घृत, मधु के साथ खाना चाहिए। शतावरी-रस में सिद्ध दूध तथा घी कृष्य है। (बलकारक एवं आयुवर्द्धक है।) कलम्बिका (करमी काशक) और उड़द भी वृष्य होते हैं। दूध एवं घृत भी वृष्य हैं।

महुआ के फूल के रस के साथ त्रिफला ली जाय तो वह बुढ़ापा के चिन्ह-झुर्री पड़ने और वालों के पकने गिरने आदि का निवारण करती है।

वच से सिद्ध घृत भूतदोष का नाश करने वाला है। उसका कव्य बुद्धि को देने वाला तथा सम्पूर्ण मनोरथों को सिद्ध करने वाला है। खटेरही के (पत्थर पर पीसे हुए) कल्क के सिद्ध क्वाथ द्वारा बनाया हुआ अञ्जन नेत्रों के लिए हितकारी है। रासना या सहचरी (झिण्टी) के सिद्ध तैल वात रोगियों के लिए हितकर हैं, जो अन्न श्लेष्माकारी न हो, वह व्रणरोगों में श्रेष्ठ माना गया है। सत्तुपिण्डी तथा आमड़ा पाचन के लिए श्रेष्ठ है। नीम का चूर्ण घाव के भेदन (फोडने) में तथा रोपण (घाव भरने) में श्रेष्ठ है। उसी प्रकार सूच्युपचार (सूची कर्म) भी व्रण को फोडने या बहाने में सहायक है। बलिकर्म विशेष से सूतिका को लाभ होता है तथा रक्षाकर्म प्राणियों के लिए सदा हित करने वाला है। नीम के पत्तों को रखना सांप से डसे हुए की दवा है (पीसकर लगाया हुआ) पताल नीम का पत्ता, पुराना तैल, अथवा पुराना घी केश के लिए हितकर होते हैं।

जिसे बिच्छू ने काटा हो उसके लिए मोरपंख और घृत का धूम लाभदायक है। अथवा आक के दूधे से पीसे हुए पलाश बीज का लेप करने से बिच्छू का जहर उतर जाता है। बिच्छू के काटे हुए को पीपल या बड़ी हरड़ जायफल के साथ पिलायें। आक का दूध, तिल, तैल और गुड इनको समान मात्रा में लेकर पिलाने से कुत्ते का भयंकर विष शीघ्र ही दूर होता है। चौराई का मूल और निशोथ समान मात्रा में घी के साथ पीने से मनुष्य अतिबलवान सर्पविष और कीटों के विषों पर शीघ्र ही काबू पा लेता है। श्वेत चन्दन, पद्माख, कूठ, लताम्बु (जूही का पानी), उशीर (खस) पाटला, निर्गुण्डी, शारिवा, सेलु (सेरुकी)– ये मकड़ी के विष का नाश करने वाले औषध हैं। गुड सहित सोंठ शिरोविरेचन के लिए हितकारक हैं।

स्नेहपान में तथा वस्तिकर्म में तैल और घृत सर्वोत्तम है। अग्नि पसीना कराने में तथा शीतलजल स्तम्भन में श्रेष्ठ है। इसमें संशय नहीं कि निशोथरेचन में श्रेष्ठ है और मैनफल वमन में। वस्ति, विरेचनऔर वमन, तैल घृत एवं मधु – ये तीन क्रमशः वात, पित्त एवं कफ के परम औषध हैं।

सर्वरोगहर औषधों का वर्णन :-

शारीर, मानस, आगन्तुक और सहज ये चार प्रकार की व्याधियाँ हैं। ज्वर और कुष्ठ आदि शारीर रोग हैं, क्रोधआदि मानस रोग हैं, चोट आदि से उत्पन्न रोग, आगन्तुक कहे जाते हैं तथा भूख, बुढ़ापा आदि सहज (स्वाभाविक) रोग हैं। शारीर तथा आगन्तुक व्याधि के नाश के लिए रविवार को ब्राह्मण की पूजा करके उसे घृत, गुड़ं, नमक और सुवर्ण का दान करें। जो सोमवार को ब्राह्मण के उबटन देता है, वह सब रोगों से छूट जाता है। शनिवार को तैल का दान करें। आश्विन के महीने में गो-रस-गाय का घी, दूध और दही तथा अन्न देने वाला सब रोगों से छुटकारा पा जाता है। घृत का दूध से शिवलिंग को स्नान कराने से मनुष्य

रोगहीन हो जाता है। त्रिमधुर (शर्करा, गुड, मधु) में डुबायी हुई दूर्बा का गायत्री मन्त्र से हवन करने पर मनुष्य सब रोगों से छूट जाता है। जिस नक्षत्र में रोग पैदा हो, उसी शुभ नक्षत्र में स्नान करें तथा बलि दें।

खाया हुआ अन्न पक्काशय से दो भागों में विभक्त हो जाता है। एक अंश से वह किट्ट होता है और दूसरे अंश से रस। किट्टभाग मल है, जो विष्ठा, मूत्र तथा स्वेद रूप में परिणत होता है। वही नेत्रमल, नासामल, कर्णमल तथा देहमल कहलाता है। रस अपने समस्त भाग से रूधिर रूप में परिणत हो जाता है। रूधिर से मांस, मांस से मेद, मेद से अस्थि, अस्थि से मज्जा, मज्जा से शुक्र, शुक्र से रांग (रंग या वर्ण) तथा ओजस उत्पन्न होता है। चिकित्सक को चाहिए कि देश, काल, पीड़ा, बल, शक्ति प्रकृति तथा भेषज के बल को समझकर तदनुकूल चिकित्सा करे। औषध प्रारम्भ करने में रिक्ता (4,9,14) तिथि, भौमवार, एवं मन्द दारूण तथा उग्र नक्षत्र को त्याग देवे। विष्णु, गौ, ब्राह्मण, चन्द्रमा, सूर्य आदि देवों की पूजा करके रोगी के उद्देश्य से निम्नांकित मन्त्र का उच्चारण करते हुए औषध प्रारम्भ करे-

ब्रह्मदक्षाश्रिवरूद्रेन्द्रभूचन्द्रार्कानिलानलाः।
ऋषयश्रचौषधीग्रामा भूतसंघाश्च पान्तु ते।।
रसायनमिवर्षीणां देवानाममृतं यथा।
सुधैवोत्तमनागानां भैषज्यमिदमस्तु ते।।

ब्रह्मा, दक्ष, अश्विनीकुमार, रूद्र, इन्द्र, भूमि, चन्द्रमा, सूर्य, अनिल, अनल, ऋषि, औषधसमूह तथा भूतसमुदाय ये तुम्हारी रक्षा करें। जैसे ऋषियों के लिए रसायन, देवताओं के लिए अमृत तथा श्रेष्ठ नागों के लिए सुधा ही उत्तम एवं गुणकारी है, उसी प्रकार यह औषध तुम्हारे लिए आरोग्यकारक एवं प्राणरक्षक हो।

देश :-

बहुत वृक्ष तथा अधिक जल वाला देश, अनूप कहलाता है। यह वात और कफ उत्पन्न करने वाला होता है। जांगल देश 'अनूप' देश के गुण प्रभाव से रहित होता है। थोड़े वृक्ष तथा थोड़े जल वाला देश 'साधारण' कहा जाता है। जांगल देश अधिक पित्त उत्पन्न करने वाला तथा साधारण देश मध्यमपित्त का उत्पादक है।

वात, पित्त, कफ के लक्षण :-

वायु, रूक्ष, शीत तथा चल हैं पित्त उष्ण हैं तथा बहुत्रय (सोंठ, मिर्च, पीपली) पित्तकर हैं। कफ स्थिर, अम्ल स्निग्ध तथा मधुर है। समान वस्तुओं के प्रयोग से इनकी वृद्धि तथा असमान वस्तुओं के प्रयोग से हानि होती है। मधुर, अम्ल एवं लवण रस कफकारक तथा

वायुनाशक हैं। कटु, तिक्त एवं कषाय रस वायु की वृद्धि करते हैं तथा कफनाशक हैं। इसी तरह कटु अम्ल तथा लवण रस पित्त बढ़ाने वाले हैं। तिक्त स्नायु (मधुर), तथा कषाय रस पित्तनाशक होते हैं। यह गुण या प्रभाव रस का नहीं उसके विषाक का माना गया है। उष्णवीर्य कफनाशक तथा शीतवीर्य पित्तनाशक होते हैं।

शिशिर, वसन्त तथा शरद में क्रमशः कफ के चय, प्रकोप तथा प्रशमन बताये गये हैं। अर्थात् कफ का चय शिशिर ऋतु में, प्रकोप बसन्त ऋतु में तथा प्रशमन ग्रीष्म ऋतु में होता है। वायु का संचय ग्रीष्म में, प्रकोप वर्षा में तथा रात्रि में और शमन शरद में कहा गया है। इसी प्रकार पित्त का संचय वर्षा में, प्रकोप शरद में तथा शमन हेमन्त में कहा गया है। वर्षा से हेमन्त पर्यन्त (वर्षा,शरद,हेमन्त ये) तीन ऋतुओं को (औषध लेने के निमित्त), आदान (काल), कहा गया है। विसर्गकाल को 'सौम्य और आदानकाल को 'आग्नेय' कहा गया है। वर्षा आदि तीन ऋतुओं में चलता हुआ चन्द्रमा औषधियों में क्रमशः अम्ल, लवण तथा मधुर रसों को उत्पन्न करता है। शिशिर आदि तीन ऋतुओं में विचरता हुआ सूर्य क्रमशः तिक्त, कषाय तथा कटु रसों को बढ़ाता है। रातें ज्यों-ज्यों बढ़ती हैं, त्यों-त्यों औषधियों का बल बढ़ता है।

जैसे-जैसे रातें घटती हैं, वैसे-वैसे मनुष्यों का बल क्रमशः घटता है। रात में, दिन में, तथा भोजन के बाद आयु के आदि मध्य और अवसान काल में कफ, पित्त एवं वायु प्रकुपित होते हैं। प्रकोप के आदि काल में इनका संचय होता है तथा प्रकोप के बाद इनका शमन कहा गया है। अधिक भोजन और अधिक उपवास से तथा मल-मूत्र आदि के वेगों को रोकने से सभी रोग उत्पन्न होते हैं।

इसलिए पेट के दो भागों के अन्न से तथा एक भाग से जल को पूरा करें। अवशिष्ट एक भाग को वायु आदि के संचरण के लिए रिक्त रखना चाहिए। व्याधि का निदान तथा विपरीत औषध करना चाहिए।

नाभि के ऊपर पित्त का स्थान है तथा नीचे श्रेणी एवं गुदा को वात का स्थान कहा गया है। तथापि ये सभी समस्त शरीर में घूमते हैं। उनमें भी वायु विशेष रूप से सम्पूर्ण शरीर में संचरण करती है। इस विषय का सुस्पष्ट वर्णन सुश्रुत1 में इस प्रकार है -

दोषस्थानान्यत ऊर्ध्वं वक्ष्यामः। तत्र समासेन वातः श्रोणिगुदसंश्रयः, तदुपर्यधो नाभेः पक्काशयः, पक्कामाशयमध्वं पित्तस्य, आमाशयः श्लेष्मणः।[1]

वायु का स्थान श्रोणि एवं गुदा है, उसके ऊपर एवं नाभि (ग्रहणी) के नीचे पक्काशय

1. अग्निपुराण अध्याय - 280

है, पक्काशय एवं आमाशय के मध्य में पित्त का स्थान है। श्लेष्मा का स्थान आमाशय है।

देह के मध्य में हृदय है, जो मन का स्थान है। जो स्वभावतः दुर्बल, थोड़े, बलवाला, चंचल, अधिक बोलने वाला तथा विषमानल है- जिसकी जठराग्नि कभी ठीक से पाचन क्रिया करती है, कभी नहीं करती है तथा जो स्वप्न में आकाश में उडने वाला है वह वात प्रकृति का मनुष्य है। समय (अवस्था) से पूर्व ही जिसके बाल पकने-झरने लगे, जो क्रोधी हो, जिसे पसीना अधिक होता हो, जो मीठी वस्तुएँ खाना पसन्द करता हो और स्वप्न मे अग्नि को देखने वाला हो वह पित्त प्रकृति का है। जो दृढ़ अंगो वाला, स्थिरचित्त, सुन्दर, कान्तियुक्त, चिकने केश तथा स्वप्न में स्वच्छ जल को देखने वाला है वह कफ प्रकृति वाला मनुष्य कहा जाता है। इसी प्रकार तामस, राजस तथा सात्विक - तीन प्रकार के मनुष्य होते हैं।

सभी मनुष्य वात, पित्त और कफ वाले होते हैं। मैथुन से और भारी काम करने से रक्त पित्त होता है। अधिक भोजन से तथा शोक से वायु कुपित होती है। जलन पैदा करने वाले पदार्थो तथ कटु, तिक्त, कषाय रस से युक्त पदार्थो के सेवन से मार्ग में चलने से तथा भय के पित्त प्रकुपित होता है। अधिक जल पीने, भारी अन्न भोजन करने वालो, खाकर तुरन्त सो जाने वालों तथा आलसियों का कफ प्रकुपित होता है। उत्पन्न हुए वातादि रोगों को लक्षणों से जानकर उनका शमन करना चाहिए।

अस्थिभंग (हड्डियों का टूटना या व्यथित होना), मुख का कसैला स्वाद होना, मुँह सूखना, जँभाई आना तथा रोएँ खड़े हो जाना - ये वायुजनित रोग के लक्षण हैं। नाखून, आँखे एवं नस नाडियों का पीला हो जाना, मुख में कडुवापन प्रतीत होना, प्यास लगना, शरीर में दाह या गर्मी मालूम होना ये पित्त व्याधि के लक्षण हैं।

आलस्य प्रसेक (मुँह में पानी आना), भारीपन, मुँह का मीठा होना, ऊष्ण की अभिलाषा (धूप में या आग के पास बैठने की इच्छा होना या उष्णपदार्थो को ही खाने की कामना) - ये कफज व्याधि के लक्षण हैं। स्निग्ध और गरम-गरम भोजन करने से, तेल की मालिश से तथा तैल-पान आदि से वातरोग का निवारण होता है। घी, दूध, मिश्री आदि एवं चन्द्रमा की किरण आदि पित्त को दूर करता है। शहद के साथ त्रिफला का तैल लेने तथा व्यायाम करने से कफ का शमन होता है। सब रोगों की शान्ति के लिए भगवान् विष्णु का स्थान एवं पूजन सर्वोत्तम औषधि है।

रस आदि के लक्षण :-

मधुर अम्ल और लवण रस चन्द्रमा से उत्पन्न कहे गये हैं। कटु, तिक्त, एवं कषाय रस अग्नि से उत्पन्न माने गए हैं। द्रव्य का विपाक तीन प्रकार का होता है- कटु, अम्ल और लवण रूप। वीर्य दो प्रकार के कहे गये हैं- शीत और ऊष्ण। औषधियों का प्रभाव अकथनीय

है। मधुर, तिक्त और कषाय रस शीत वीर्य कहे गये हैं एवं शेष रस 'ऊष्ण वीर्य' माने गये हैं। गुडूची (गिलोय) तिक्त रस वाली होने परभी अत्यन्त वीर्यप्रद होने से उष्ण है।

इसी प्रकार हरड़ कषाय रस से युक्त होने पर भी 'उष्णवीर्य' होती है तथा मांस (जटामांसी) मधुर रस से युक्त होने पर भी 'उष्णवीर्य' मधुर माने गये हैं। अम्लोष्ण का विपाक भी मधुर होता है। शेष रस विपाक में कटु हैं। इसमें संशय नहीं है कि विशेष वीर्ययुक्त द्रव्य के विषय में उसके प्रभाव के कारण विपरीतता भी हो जाती है; क्योंकि शहद मधुर होने पर भी विपाक में कटु माना गया है।

द्रव्य से सोलह गुना जल लेकर क्वाथ करें। प्रक्षिप्त द्रव्य से चार गुना जल शेष रहने पर (क्वाथ को) छानकर पीवें।

स्नेह (तैल या घृत) पाक की विधि में स्नेह से चौगुना कषाय (क्वथित द्रव्य) अथवा बराबर-बराबर तैल एवं विभिन्न द्रव्यों के क्वाथ लेने चाहिए। तैल का परिपाक तब समझना चाहिए, जबकि उसमें डाली हुई औषधियाँ उफनते हुए तैल में गलकर ऐसी हो जाएँ कि उन्हें ठण्डा करके यदि हाथ पर रगड़ा जाय तो उनकी बत्ती सी बन जाय। विशेष बात यह है कि उस बत्ती का सम्बन्ध अग्नि से किया जाय तो चिड़चिड़ाहट की प्रतीत न हो तब सिद्ध तैल मानना चाहिए।

लेह्य (चाटने योग्य) औषधि द्रव्यों में इसी के समान प्रक्षेप आदि होते हैं। निर्मल तथा उचित औषधि प्रक्षेप द्वारा निर्मित क्वाथ उत्तम होता है (तथा उसका प्रयोग लेह्य आदि में करना चाहिए) चूर्ण की मात्रा एक अक्ष (तोला) और क्वाथ की मात्रा चार पल है। वैसे मात्रा का परिमाण कोई निश्चित परिमाण नहीं है। रोगी की अवस्था, बल, अग्नि, देश, काल, द्रव्य और रोग का विचार करके मात्रा की कल्पना होती है।

मधुर रस तो विशेषतया शरीर के धातुओं की वृद्धि के लिए जानना चाहिए। दोष, धातु और द्रव्य समान गुण युक्त होने पर शरीर की वृद्धि करते हैं। इस शरीर में तीन प्रकार के उपस्तम्भ (खम्भे) कहे गये हैं - आहार, मैथुन और निद्रा। मनुष्य उनके प्रति सदा सावधानी रखे। इनके पूर्णतया परित्याग या अत्यन्त सेवन से शरीर क्षय को प्राप्त होता है। कृक्ष शरीर का 'बृंहण' (पोषण) स्थूल शरीर का कर्षण और मध्यम शरीर का रक्षण करना चाहिए। ये शरीर के तीन भेद माने गये हैं।

औषधियों की निर्माण-विधि पांच प्रकार की मानी गयी है - रस, कल्क, क्वाथ, शीतकषाय तथा फाण्ट। औषधों को निचोड़ने से रस होता है, मन्थन से कल्क बनता है, औटाने से क्वाथ होता है, रात्रि भर रखने से शीत, और तत्काल जल में कुछ गरम करके छान लेने से फाण्ट होता है।

इस तरह से चिकित्सा के एक सौ आठ साधन हैं जो वैद्य इनको जानता है, वह अजेय होता है। अर्थात् वह चिकित्सा में कहीं असफल नहीं होता है। वह 'बाहुशौण्डिक' कहा जाता है। आहार-शुद्धि अग्नि के संरक्षण , संवर्द्धन एवं संशुद्धि आदि के लिए आवश्यक हैं, क्योंकि मनुष्यों के बल का अग्नि ही मूल आधार है। बल के लिए सैन्धव लवण से युक्त त्रिफला, कान्तिप्रद उत्तम पेय, जांगम-रस, सैन्धव युक्त दही और दुग्ध तथा पिप्पली (पीपल) का सेवन करना चाहिए।

मनुष्य को चाहिए कि जो रस या धातु आदि अधिक हो गये, अर्थात् बढ़ गये हैं, उन्हें सम करना चाहिए। वात प्रधान प्रकृति के मनुष्य को अपनी परिस्थिति के अनुसार ग्रीष्म ऋतु में अंगमर्दन करना चाहिए। शिशिर ऋतु में साधारण या अधिक, वसन्त ऋतु में मध्यम और ग्रीष्म ऋतु में विशेष रूप से अंगो का मर्दन करना चाहिए। पहले त्वचा का, उसके बाद मर्दन करने योग अंग का मर्दन करें।

स्नायु और रूधिर से परिपूर्ण शरीर में अस्थि समूह अत्यन्त मांसल सा प्रतीत होता है। इसी प्रकार कंधे, बाहु, जानुद्वय तथा जंघाद्वय भी मांसल प्रतीत होते हैं। बुद्धिमान, मनुष्य शत्रु के समान इनका मर्दन करे। जत्रु (हंसली का भाग), वक्षःस्थल (छाती) इन्हें पूर्ववत् साधारण प्रकार से मले तथा समस्त अंग सन्धियों को खूब मलकर उन्हें (अंग सन्धियों को) फैला दें। मनुष्य अजीर्ण में, भोजनोपरान्त और तत्काल जल पीकर परिश्रम न करे।

दिन के चार भाग (प्रहर) होते हैं। प्रथम प्रहरार्ध के व्यतीत हो जाने पर व्यायाम न करे। शीतल जल से एक बार स्नान करे। उष्ण जल थकावट को दूर करता है। हृदय के श्वास को अवरूद्ध न करे। व्यायाम कफ को नष्ट करता है तथा मर्दन वायु का नाश करता है। स्नान पित्ताधिक्य का शमन करता है। स्नान के पश्चात् धूप का सेवन प्रिय है। व्यायाम का सेवन करने वाले मनुष्य धूप और परिश्रम युक्त कार्य को सहन करने में समर्थ होते हैं।

आयुर्वेद वर्णित वृक्ष विज्ञान :-

क्रमशः घर के उत्तर दिशा में प्लक्ष (पाकड) पूर्व में वट (बरगद) दक्षिण में आम्र और पश्चिम में अश्वत्थ (पीपल) वृक्ष मंगल माना गया है। घर के समीप दक्षिण दिशा में उत्पन्न हुए कांटेदार वृक्ष भी शुभ हैं। आवास-स्थान के आस-पास उद्यान का निर्माण करें अथवा सब ओर का भाग पुष्पित तिलों से सुशोभित करें।

ब्राह्मण और चन्द्रमा का पूजन करके वृक्षों का आरोपण करना चाहिए। वृक्षारोपण के लिए तीनों उत्तरा, स्वाती, हस्त, रोहिणी, श्रवण और मूल के नक्षत्र अत्यन्त प्रशस्त हैं। उद्यान में पुष्पकारिणी (बावली) का निर्माण करावें और उसमें नदी के प्रवाह का प्रवेश करावें। जलाशय

आरम्भ के लिए हस्त, मघा, अनुराधा, पुष्य, ज्येष्ठा, शतभिषा, उत्तराषाढ़ा, उत्तरा-भाद्रपदा और उत्तरा फाल्गुनी नक्षत्र उपयुक्त है।

वरूण, विष्णु और इन्द्र का पूजन करके इस कर्म को आरम्भ करना चाहिए। नीम, अशोक, पुन्नाग (नागकेशर), शिरीष, प्रियंग, अशोक कदली (केला), जम्बू (जामुन), वकुल (मौलसिरी) और अनार वृक्षों का आरोपण करके ग्रीष्म ऋतु में प्रातःकाल और सायंकाल, शीतऋतु में दिन के समय एवं वर्षा ऋतु में रात्रि के समय भूमि के सूख जाने पर वृक्षों को सींचे। वृक्षों के बीच में बीस हाथ का अन्तर 'उत्तम', सोलह हाथ का अन्तर 'मध्यम' और बारह हाथ का अन्तर 'अधम' कहा गया है। बारह हाथ अन्तर वाले वृक्षों को स्थानान्तरित कर देना चाहिए। घने वृक्ष फलहीन होते हैं। पहले काट-छाँटकर शुद्ध करें फिर विडंग घृत और पंक मिश्रित शीतल जल से उनको सींचे। वृक्षों के फलों का नाश होने पर कुलथी, उडद, मूँग, जौ, तिल और घृत से मिश्रित शीतल जल के द्वारा यदि सेचन किया जाय तो वृक्षों में सदा फलों एवं पुष्पों की वृद्धि होती है। भेंड और बकरी की विष्ठा का चूर्ण, जौ का चूर्ण, तिल और जल- इनको एकत्र करके सात दिन तक एक स्थान पर रखें। उसके बाद इससे सींचना सभी वृक्षों के फल और पुष्पों को बढ़ाने वाला है।

मछली के जल (जिसमें मछली रहती हो) से सींचने पर वृक्षों की वृद्धि होती है। विडंग चावल के साथ यह जल वृक्षों का दोहद (अभिलषित पदार्थ) है। इसका सेंचन साधारणतया सभी वृक्ष रोगों का विनाश करने वाला है।

नाना रोगनाशक औषधियों का वर्णन :-

अडूसा, मुलहठी या कचूर, दोनों प्रकार की हल्दी और इन्द्रयव, इनका क्वाथ बालकों के सभी प्रकार के अतिसार में तथा स्तन्य (माता के दूध के) दोषों में प्रशस्त है। पीपल और अतीस के सहित काकडाश्रृंगी का अथवा केवल एक अतीस का चूर्ण करके बालकों को मधु के साथ चटावें। इससे खांसी, वमन और ज्वर नष्ट होता है। बालको को दुग्ध, घृत अथवा तैल के साथ वच का सेवन करावें अथवा मुलहठी और शंखपुष्पी को दूध के साथ बालक पिये। इससे बालकों को वाक्शक्ति एवं रूपसम्पत्ति के साथ-साथ आयु, बुद्धि और कान्ति की भी वृद्धि होती है। वच, कलिहारी, अडूसा, सोंठ, बालकों को प्रातःकाल पिलावें। इसका सेवन बुद्धिवर्धक है। देवदारू, बड़ा सहजन, त्रिफला और नागरमोथा,- इनका क्वाथ अथवा पीपल और मुनक्का का कल्क सभी प्रकार के कृमिरोगों का नाशक है। शुद्ध रांगे को त्रिफला, भृंगराज तथ अदरख के रस या मधुघृत में अथवा भेड के मूत्र या गोमूत्र में अंजन करने से नेत्ररोगों में लाभ होता है। दूर्वारस का नस्य नाक से बहने वाले रक्तरोग (नाशा) को शान्त करने में उत्तम है।

लहसुन, अदरख और सहजन के रस से कान को भर देने पर वह कर्णशूल का नाशक तथा ओष्ठरोगों को दूर करने वाला होता है। जायफल, त्रिफला, व्योष (सोंठ, मिर्च, पीपल), गोमूत्र, हल्दी, गोदुग्ध तथा बड़ी हर्रे के कल्क से सिद्ध किया हुआ तिल का तैल, कवल (कुल्ला) करने से दन्तपीड़ा का नाशक है। काँजी, नारियल का जल, गोमूत्र, सुपारी तथा सोंठ, इनके क्वाथ का कवल मुख में रखने से जिह्वा के रोग का नाश होता है। कलिहारी के कल्क (पिसे हुए द्रव्य) में निर्गुण्डी के रस के साथ सिद्ध किया हुआ तैल का नस्य लेने (नाक में डालने) से गण्डमाला और गलगण्डरोग का नाश होता है। सभी चर्म रोगों को नष्ट करने वाले आक, काटा, करञ्ज, भूहर, अमलतास और चमेली के पत्तों को गोमूत्र के साथ पीसकर उबटन लगाना चाहिए। वाकुची को तिलों के साथ एक वर्ष तक खाया जाय तो वह सालभर में कुष्ठरोग का नाश कर देती है। हर्रे, भिलावा, तैल, गुड और पिण्डखजूर, – ये कुष्ठनाशक औषध हैं। पाठा, चित्रक, हल्दी, त्रिफला, और व्योष (सोंठ, मिर्च, पीपल) – इनका चूर्ण तक्र के साथ पीने से अथवा गुड के साथ हरीतकी खाने से अर्श रोग का नाश होता है। प्रमेह रोगी को त्रिफला, दारुहल्दी, बड़ी इन्द्रायण, और नागरमोथा, इनका क्वाथ या आंवले का रस हल्दी, कल्क और मधु के साथ पीना चाहिए। अडूसे की जड़ गिलोय और अमलतास के क्वाथ में शुद्ध एरण्ड का तेल मिलाकर पीने से वातरक्त का नाश होता है और पिप्पली प्लीहा रोग को नष्ट करती है।

पेट के रोगी को थूहर के दूध में अनेक बार भावना दी हुई पिप्पली का सेवन करना चाहिए। चित्रक, विडंग तथा त्रिकटु (सोठ, मिर्च, पीपल) के कल्क से सिद्ध दूध अरुचिरोग का निवारण करता है। पीपलामूल, वच, हर्रे, पीपल, और विडंग को घी में मिलाकर रखें। इसके सेवन से या केवल तक्र के एक मास तक सेवन से ग्रहणी, अर्श, पाण्डु, गुल्म और कृमिरोगों का नाश होता है। त्रिफला, गिलोय, अडूसा, कुट्की, चिरायता – इनका क्वाथ शहद के साथ पीने से कामला सहित पाण्डुरोग का नाश होता है। अडूसे के रस को मिश्री और शहद मिलाकर पीने से या शतावरी, दाख, खरेटी और सोठ– इनसे सिद्ध किया हुआ दूध पीने से रक्त–पित्तरोग का नाश होता है। क्षय रोग के रोगी को शतावरी, विदारीकंद, बड़ी हर्रे, तीनो खरेटी, असगंध, गदहपूर्ना तथा गोखरू के चूर्ण को शहद और घी के साथ चाटना चाहिए।

हर्रे, सहजन, कटञ्ज आक, दालचीनी, पुनर्नवा, सोंठ और सैन्धव– इनका गोमूत्र के साथ योग करके लेप किया जाय तो यह विद्रधि की गाँठ को पकाने के लिए उत्तम उपाय है। निशोथ, जीवन्ती, दन्तीमूल, मञ्जिष्ठा, दोनो हल्दी, रसाञ्जन और नीम के पत्ते का लेप भगन्दर में श्रेष्ठ है। अमलतास, हरिद्रा, लाक्षा और अडूसा– इनके चूर्ण को गोघृत और शहद के साथ बत्ती बनाकर नासूर में देना चाहिए। इससे नाशूर का शोधन होकर घाव भर जाता

है। पिप्पली, मुलहठी, हल्दी, लोथ, पद्मकाष्ठ, कमल, लालचन्दन एवं मिर्च - इनके साथ गौदुग्ध में सिद्ध किया हुआ तैल घाव को भरता है। श्रीताड़, कपास की पत्तियों की भस्म, त्रिफला, गोलमिर्च, खरेटी और हल्दी- इनका गोला बनाकर घाव का स्वेदन करके और इन औषधियों के तेल को घाव पर लगायें। दूध के साथ कुम्भीसार (गुग्गुलसार) को आग पर जलाकर व्रण पर लेप करें (अथवा गुग्गुलसार को दूध में मिलाकर आग से जले हुए व्रण पर लेप करना चाहिए) अथवा जलकुम्भी को जलाकर दूध में मिलाकर लगाने से सभी प्रकार के व्रण ठीक हो जाते हैं। इसी प्रकार नारियल की जड़े की सिद्धि में घृत मिलाकर सेक करने से व्रण का नाश होता है।

सोंठ, अजमोद, सेंधानमक, इमली, की छाल-इन सबके समान भाग हर्रे को तक्र या गरम जल के साथ पीने से अतिसार का नाश होता है। इन्द्रयव, अतीस, सोंठ, बेलगिरि और नागरमोथा का क्वाथ आमसहित जीर्ण अतिसार में और शूल सहित रक्तातिसार में भी पिलाना चाहिए। ठंडे थूहर में में सेंधानमक भरकर आग में जला ले। फिर यथोचित मात्रा में उदरशूल वाले को गरम जल के साथ दे। अथवा सेधा नमक, हींग, पीपल, हर्रे, - इनका गरम जल के साथ सेवन करना चाहिए।

वर की वरोह, कमल और धान की खोल का चूर्ण- इनको शहद में भिगोकर, कपड़े में पोटली बनाकर, मुख में रखकर उसे चूसे तो इससे प्यास दूर होती है। अथवा कुट्की, पीपल, मीठा, कूट एवं धान का लावा मधु के साथ मिलाकर पोटली में रखकर मुँह में रखे और चूसे तो प्यास दूर हो जाती है। पाठा, दारूहल्दी, चमेली के पत्र, मुनक्का की जड़, और त्रिफला- इनका क्वाथ बनाकर उसमें शहद मिला दें। इसको मुख में धारण करने से मुखपाक - रोग नष्ट होता है। पीपल, अतीस, कुट्की, इन्द्रयव, देवदारू, पाठा और नागरमोथा - इनका गोमूत्र में बना क्वाथ मधु के साथ लेने पर सब प्रकार के कण्ठरोगों का नाश होता है।

हर्रे गोखरू, जवासा, अमलतास एवं पाषाण- भेद इनके क्वाथ में शहद मिलाकर पीने से मूत्रकृच्छ का कष्ट दूर होता है। बाँस का छिलका और वरूण की छाल का क्वाथ शर्करा और अश्मरी रोग का विनाश करता है। श्लीपद रोग से युक्त मनुष्य शाखोटक (सिंहार) की छाल का क्वाथ मधु और दुग्ध के साथ पान करे। उड़द, मदार की पत्ती तथा दूध, तैल, मोम एवं सैन्धव लवण - इनका योग पादरोगनाशक है। सोंठ, काला नमक और हींग- इनका चूर्ण या सोंठ के रस के साथ सिद्ध किया घी अथवा इनका क्वाथ पीने से मलबन्ध रोग और तत्सम्बन्धी रोग नष्ट होते हैं। गुल्मरोगी सर्जक्षार, चित्रक, हींग और अजमोद - इनके रस के साथ या विडंग एवं चित्रक के साथ तक्रपान करें। आँवला, परवल और मूँग - इनके क्वाथ का घृत के साथ सेवन विसर्परोग का अपहरण करने वाला है। अथवा सोंठ, देवदारू, और

पुनर्नवा या वंशलोचन - इनका दुग्धयुक्त क्वाथ उपकारक है। गोमूत्र के साथ सोंठ, मिर्च, पीपल, लोहचूर, यवक्षार, तथा त्रिफला का क्वाथ, शोथ (सूजन) को शान्त करता है। गुड़, सहिजन एवं निशोथ, सैन्धव लवण-इनका चूर्ण (या क्वाथ) भी शोध को शान्त करता है।

निशोथ एवं गुड के साथ त्रिफला का क्वाथ विरेचन करने वाला है। वच और मैनफल के क्वाथ का जल वमनकारक होता है। भृंगराज के रस में भावित त्रिफला सौ पल, वायविडंग, और लौहचूर दस भाग एवं शतावरी गिलोय और चिचक पचीस पल ग्रहण करके उसका चूर्ण बना लें। उस चूर्ण को मधु, घृत और तेल के साथ चाटने से मनुष्य बली और पलित से रहित होता है। अर्थात् उसके मुँह पर झुर्रियाँ नहीं होती हैं और बाल नहीं पकते। इसके सिवा वह सम्पूर्ण रोगों से मुक्त होकर सौ वर्षो तक जीवित रहता है। मधु और शर्करा के साथ त्रिफला का सेवन सर्वरोगनाशक है। त्रिफला और पीपल का मिश्री मधु और घृत के साथ भक्षण करने पर भी लाभ प्राप्त होते हैं। हर्रे, चित्रक, सोंठ और गिलोय और मुसली का चूर्ण गुड के साथ खाने पर रोगों का नाश होता है और तीन सौ वर्षो की आयु प्राप्त होती है। जपा-पुष्प को थोड़ा मसलकर जल में मिला लें। उस चूर्ण जल को थोड़ी सी मात्रा में तेल में मिला देने पर तैल घृताकार हो जाता है। जलगोह (बिल्ली) की जरायु (गर्भ की झिल्ली) की धूप देने से चित्र दिखलायी नहीं देता। फिर शहद की धूप देने से पूर्ववत् दिखलायी देने लगता है। पाडर की जड़, कपूर, जोंक, और मेंढ़क का तेल- इनको पीसकर दोनों पैरों में लगाकर मनुष्य जलते हुए अंगारों पर चल सकता है। वृणोत्थान (तृणों को आग में ऊपर फेंकता - उछालता हुआ) आश्चर्यजनक खेल दिखलाता हुआ चल सकता है। विषों को रोकना (अथवा विष एवं ग्रह निवारण) रोग का नाश एवं तुच्छ क्रीडाएँ कामना परक हैं। इहलौकिक तथा पारलौकिक दोनों सिद्धियों के देने वाले कर्मो को बताया गया है, जो छः कर्मो से युक्त हैं- मन्त्र, ध्यान, औषध, कथा, मुद्रा और यज्ञ - ये छः जहाँ मुष्टि (भुजा के रूप में सहायक) हैं वह कार्य, धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष रूप चतुर्वर्ग फल को देने वाला कर्म बताया गया है।

मन्त्ररूपी औषधीय वर्णन :-

ओंकार आदि मन्त्र आयु देने वाले तथा सब रोगों को दूर करके आरोग्य प्रदान करने वाले हैं। इतना ही नहीं, देह छूटने के पश्चात् वे स्वर्ग को भी प्राप्ति कराने वाले हैं। ओंकार सबसे उत्कृष्ट मन्त्र है। इसका जप करके मनुष्य अमर हो जाता है- आत्मा के अमरत्व का बोध प्राप्त करता है अथवा देवतारूप हो जाता है। गायत्री भी उत्कृष्ट मन्त्र है। उसका जप करके मनुष्य भोग और मोक्ष का भागी होता है।

'ऊँ नमो नारायणाय' - यह अष्टाक्षर मन्त्र समस्त मनोरथों को पूर्ण करता है।

'ऊँ नमो भगवतेवासुदेवाय' - यह द्वादशाक्षर मन्त्र सब कुछ देने वाला है।

'ऊँ हूँ विष्णवे नमः' - यह मन्त्र उत्तम औषध है। इस मन्त्र का जप करने से देवता और असुर श्री सम्पन्न तथा नीरोग हो गये। जगत् के समस्त प्राणियों का उपकार तथ धर्माचरण - यह महान औषध है।

'धर्मः सद्धर्मकृत् धर्मी' - इन धर्म सम्बन्धी नामों के जप से मनुष्य निर्मल (शुद्ध) हो जाता है।

'श्रीदः श्रीशः श्रीनिवासः श्रीधरः श्रीनिकेतनः, श्रियःपतिः तथा श्री परमः।' - इन श्रीपति सम्बन्धी नामात्मक मन्त्र पदों के जप से मनुष्य लक्ष्मी, धन सम्पत्ति को प्राप्त कर लेता है।

'कामी कामप्रदः, कामः, कामपालः, हरिः आनन्दः, माधवः। - श्री हरि के इन नाम मन्त्रों के जप और कीर्तन से समस्त कामनाओं की पूर्ति हो जाती है।

रामः, परशुरामः, नृसिंहः, विष्णुः, त्रिविक्रमः।- ये श्रीहरि के नाम युद्ध में विजय की इच्छा रखने वाले योद्धाओं को जपने चाहिए नित्यविद्याभ्यास करने वाले छात्रों को सदा श्री पुरुषोत्तम नाम का जप करना चाहिए।

दामोदरः - नाम बन्धन दूर करने वाला है।

पुष्कराक्षः - यह नाम मन्त्र नेत्र रोगों का निवारण करने वाला है।

हृषीकेशः - इस नाम का स्मरण भयहारी है। औषध देते और लेते समय इन सब नामों का जप करना चाहिए।

औषधकर्म में 'अच्युत' इस अमृत-मन्त्र का भी जप करें। संग्राम में 'अपराजित' का तथा जल से पार होते समय 'श्रीनृसिंह' का स्मरण करें। जो पूर्वादि दिशाओं की यात्रा में क्षेत्र की कामना रखने वाला हो, वह क्रमशः चक्री, गदी, शागी, और खंगी का चिन्तन करे। व्यवहारों मुकदमों में भक्तिभाव से 'सर्वेश्वर अजित' का स्मरण करें। 'नारायण' का स्मरण हर समय करना चाहिए। भगवान नृसिंह को याद किया जाय तो वे सम्पूर्ण भीतियों को भगाने वाले हैं। 'गरूडध्वजः' - यह नाम विष का हरण करने वाला है।

'वासुदेवाय' नाम को तो सदा ही जप करना चाहिए। धान्य आदि को घर में रखते समय तथ शयन करते समय भी 'अनन्त' और 'अच्युत' का उच्चारण करें। दुःस्वप्न दीखने पर 'नारायण' का तथा दाह आदि के अवसर पर जलशायी का स्मरण करें। पुत्र की प्राप्ति के लिए जगत्सूति (जगत्सृष्टा) का तथा शौर्य की कामना हो तो, श्री बलभद्र का स्मरण करें। इनमें से प्रत्येक नाम अभीष्ट मनोरथ को सिद्ध करने वाला है।

मृतसंजीवनीकारक सिद्धयोगों का वर्णन :-

वातज्वर में बिल्वादि, पत्र्चमूल- बेल, सोना पाठा, गम्भार, पाटल एवं मारणी का काढ़ा दे और पाचन के लिए पिप्पलीमूल गिलोय, और सोंठ- इनका क्वाथ दें। आँवला, अभया, (बड़ी

हर्रे) पीपल एवं चित्रक–यह आमलक्यादि क्वाथ सब प्रकार के ज्वरों का नाश करने वाला हैं। बिल्वमूल, अरणी, सोनापाठा, गम्भारी, पाटल, शालपर्णी, गोखरू, पृष्ठवर्णी, बृहती (बड़ी कटेर), और कण्टकाटिका (छोटी कटेर) ये दशमूल कहे गये हैं। इनका क्वाथ तथा कुश के मूल का क्वाथ ज्वर, अपाचन, पार्श्वशूल और कास (खाँसी) का नाश करने वाला है। गिलोय, पित्तपापड़ा, नागरमोथा, चिरायता और सोंठ– यह 'पञ्चभद्र क्वाथ' वात एवं पित्त ज्वर में देना चाहिए।

निशोथ, विशाला (इन्द्रवारूणी), कुट्की, त्रिफला और अमलतास इनका क्वाथ यवक्षार मिलाकर पिलावें। यह विरेचक और सम्पूर्ण ज्वरों को शान्त करने वाला है। देवदारू, खरेटी, अडूसा, त्रिफला और व्योष (सोंठ, कालीमिर्च, पीपल) पध्मकाष्ठ, वायविडंग और मिश्री – इन सबका समान भाग चूर्ण 5 प्रकार के कास रोगों का मर्दन करता है। रोगी मनुष्य हृदयरोग, ग्रहणी, पार्श्वरोग, हिक्का, श्वास और कासरोग के विनाश के लिए दशमूल, कचूर, रास्ना, पीपल, विल्व, पोकरमूल, कागड़ासिंगी, भुई आंवला, भार्गी, गिलोय, और पान– इनसे विधिवत् सिद्ध किया हुआ क्वाथ या यवागू का पान करे। मुलहठी (चूर्ण) के साथ मधु, शर्करा के साथ पीपल, गुड के साथ नागर (सोंठ) और तीनों लवण (सेंधा नमक, विड्नमक और कालानमक) – ये हिक्का (हिचकी) का नाश करने वाला है। कारवी अजाजी (कालाजीरा, सफेदजीरा) कालीमिर्च, मुनक्का, वृक्षाम्ल (इमली), अनारदाना, कालानमक और गुड़– इन सबके समान भाग से तैयार चूर्ण का शहद के साथ निर्मित, कारव्यादि बटी सब प्रकार के अरूचि रोगों का नाश करती है। अदरख के रस के साथ मधु मिलाकर रोगी को पिलायें। इससे अरूचि, श्वास, कास, प्रतिश्याय (जुकाम) और कफ विकारों का नाश होता है।

वट, वटांकुर, कागड़ासिंगी, शिलाजीत, लोध, अनारदाना और मुलहठी, – इनका चूर्ण बनाकर उस चूर्ण के समान मात्रा में मिश्री मिला मधुं के साथ अवलेह (चटनी) का निर्माण करें। इस वटशुंगादि के अवलेह को चावल के पीने के साथ लिया जाय तो उससे प्यास और छर्दि (वमन) का प्रशनम होता है। गिलोय, अडूसा, लोध और पीपल, – इनका चूर्ण शहद के साथ कफयुक्त रक्त, प्यास, खाँसी एवं ज्वर को नष्ट करने वाला है। इसी प्रकार सम्भाग मधु से मिश्रित अडूसे का रस और ताम्रभस्म कास को नष्ट करता है। शिरीष पुष्प के स्वरस में भावित सफेद मिर्च का चूर्ण कास में (तथा सर्पविष) हितकर है। मसूर सभी प्रकार की वेदना को नष्ट करने वाला है तथा चौराई का साग पित्तदोष को दूर करने वाला है, मेउड, शारिवा, सेरुकी, एवं अङ्कोल – ये विषनाशक औषध हैं।

सोंठ, गिलोय, छोटी कटेरी, पोकरमूल, पीपलामूल, और पीपल, इनका क्वाथ मूर्च्छा और मदात्यय रोग में लेना चाहिए। हींग, कालानमक, और व्योष (सोंठ, मिर्च, पीपल) ये सब

अध्याय चतुर्थ
सन्दर्भित पुराणों में रोग निदान

अध्याय - चतुर्थ
विभिन्न रोगों के लक्षण

आयुर्वेद-प्रकरण :-

गरूडपुराण का आयुर्वेद-प्रकरण अत्यन्त महत्व का है। इस प्रकरण के प्रथम बीस अध्यायों में निदान-स्थान के विषय वर्णित है। किस कारण से रोग उत्पन्न हुआ है और रोग के लक्षण क्या हैं जिससे रोग का निर्णय हो सके इत्यादि विषय 'निदान' शब्द से अभिप्रेत हैं। इसके बाद लगभग चालीस अध्यायों में रोगों की चिकित्सा हेतु औषधियों का निरूपण हुआ है तथा इन औषधियों के निर्माण की विधि बतायी गयी है। इस औषधि का यह अनुपान है, किस प्रकार इसका सेवन करना चाहिए आदि बताया गया है। एक ही रोग के लिए अनेक औषधिक योगों को भी बताया गया है। उपलब्ध गरूडपुराण का पाठ कहीं-कहीं अस्पष्ट तथा खण्डित भी प्रतीत होता है। आयुर्वेद के आर्षग्रन्थों का आश्रय करके यथासम्भव अर्थ ठीक करने की चेष्टा की गई है।

निदान का अर्थ तथा रोगों का सामान्य निदान-निरूपण :-

रोग के ज्ञान के पाँच उपाय हैं - निदान, पूर्वरूप, रूप, उपशय और सम्प्राप्ति। निमित्त हेतु, आयतन, प्रत्यय, उत्थान तथा कारण इन पर्यायों से निदान कहा जाता है अर्थात् निमित्त आदि शब्दों से जिस वस्तु का निश्चय होता है वही निदान है। दोष विशेष के ज्ञान के बिना ही उत्पन्न होने वाला रोग जिन लक्षणों से जाना जाता है, उसे पूर्वरूप कहते हैं। यह पूर्वरूप सामान्य और विशिष्ट भेद से दो प्रकार का होता है। यह उत्पद्यमान रोग जिन लक्षणों से जाना जाता है, उन लक्षणों के अल्पता के कारण थोड़ा व्यक्त होने से पूर्वरूप कहा जाता है। वही पूर्वरूप व्यक्त हो जाने पर रूप कहलाता है। संस्थान, व्यञ्जन, लिंग, लक्षण, चिह्न और आकृति - ये रूप के पर्यायवाची शब्द हैं हेतु-विपरीत, व्याधि-विपरीत, हेतु-व्याधि-उभय-विपरीत क्रिया करने वाला व्याधि-विपरीत अर्थकारी और हेतु -व्याधि-उभय विपरीत अर्थकारी औषध, अन्न तथा विहार के परिणाम में सुखदायक उपयोग को उपशय कहते हैं, इसी का नाम सात्म्य भी है। उपशय के विपरीत अनुपशय होता है। इसका दूसरा नाम व्याध्यसात्म्य भी है। दोष जिस प्रकार (प्राकृत आदि विविध) निदानों से दूषित होकर (उर्ध्व आदि) भिन्न गतियों के द्वारा शरीर में विसर्पण करते हुए (धातु आदि को दूषित कर) रोग को उत्पन्न करता है, उसे सम्प्राप्ति कहा जाता है। उसके पर्यायवाची शब्द हैं - जाति तथा आगति।

संख्या विकल्प, प्राधान्य, बल और व्याधि काल की विशेषताओं के आधार पर उस सम्प्राप्ति के भेद किये जाते हैं। जैसे इसी शास्त्र में बताया जाएगा कि ज्वर के आठ भेद होते

हैं (यह संख्या सम्प्राप्ति हुई)। रोगात्पत्ति में कारणभूत दोषों को अशांशकल्पना (न्यूनाधिक्य आदि) का विवेचन विकल्प सम्प्राप्ति, स्वतंत्रता और परतन्त्रता द्वारा दोषों का प्राधान्य या अप्राधान्य - विवेचन प्राधान्य सम्प्राप्ति, हेतु पूर्वरूप और बल सम्प्राप्ति और दोषानुसार रात्रि, दिन, ऋतु एवं भोजन (के परिपाक) के अंश (आदि, मध्य और अन्त) - द्वारा रोगकाल के ज्ञान को कालसम्प्राप्ति समझना चाहिए।

इस प्रकार निदान के सामान्य अभिधेयों (निदान, पूर्वरूप, रूप, उपशय और सम्प्राप्ति) का निरूपण किया गया। सम्प्रति उनका विस्तार से वर्णन किया जायेगा। सभी रोगों के मूल कारण (शरीर में स्थित) कुपित दोष ही हैं। किन्तु दोष प्रकोप का भी कारण अनेक प्रकार के हितकर पदार्थों का सेवन है। यह अहितसेवन तीन प्रकार (असात्म्येन्द्रियार्थ संयोग, प्राज्ञापराध तथा परिणाम) का होता है।

वात, प्रकोप का निदान :-

तिक्त, उष्ण, कटु, कषाय, अम्ल और रूक्ष खाद्यान्न का असंयमित आहार, दौड़ना, जोर से बोलना, रात्रि जागरण तथा उच्च भाषण, कार्यो में विशेष अनुरक्ति, भय, शोक, चिन्ता, व्यायाम एवं मैथुन करने से शरीर के अन्तर्गत विद्यमान वायु प्रकुपित हो जाती है। विशेषतः यह वायु-विकार, ग्रीष्म ऋतु के दिन तथा रात्रि में भोजन करने के पश्चात् पाक के अन्त में होता है।

पित्त-प्रकोप का निदान :-

कटु, अम्ल, तीक्ष्ण, उष्ण, लवण तथा क्रोधोत्पादक एवं दाहोत्पादक आहार करने से पित्त प्रकुपित होता है। पित्त का यह प्रकोप शरद-ऋतु के मध्याह्न अर्धरात्रि तथा अन्य दाह उत्पन्न करने वाले क्षणों में विशेष रूप से होता है।

कफ-प्रकोप का निदान :-

मधुर1, अम्ल, लवण, स्निग्ध, गुरू, अभिष्यन्दी तथा शीतल भोजनों के प्रयोग से, बैठे रहने से, निद्रा से सुख भोग से, अजीर्ण से, दिवा-शयन से, अत्यन्त, बलकारक पदार्थो के प्रयोग से, वमन आदि न करने से, भोजन के परिपाक के प्रारम्भ काल में दिन के प्रथम भाग में तथा रात्रि के प्रथम भाग में कफ कुपित होता है और दो-दो दोषों के प्रकोपक आहार-विहार का सेवन करने से दो-दो दोष प्रकुपित होते हैं।

त्रिदोष-प्रकोप का निदान एवं सब रोगों की सामान्य सम्प्राप्ति :-

त्रिदोष के (वात,पित्त[1] तथा श्लेष्मा-इन सभी के) प्रकुपित तथा मिश्रित स्वभाव से

1. अ0हृ0नि0 2/19-23 (चिकित्सादर्श, परि0पृ09 वैद्य राजेश्वर शास्त्री)

सन्निपात की उत्पत्ति होती है। संकीर्ण भोजन, अजीर्णता में भोजन, विषम तथा विरुद्ध भोजन, मद्यपान, सूखे शाक, कच्ची मूली, पिण्याक (खली), मृत्युवत्सरपूति (सत्तू), शुष्क, कृशा, मांस तथा मत्सयादि का भक्षण करने से वात-पित्त एवं श्लेष्मोत्पादक विभिन्न पदार्थों के उपभोग से आहार्य, अन्न का परिवर्तन, धातुजन्य दोष, वात-पित्त, श्लेष्मा का परस्पर मिलकर उपद्रव करने से शरीर में यह विकार (सन्निपात) उत्पन्न होता है। दूषित कच्चे अन्न का प्रयोग करने से, श्लेष्मजनित विकार से तथा ग्रहों के प्रभाव से मिथ्या आहार-व्यवहार के योग से पूर्वजन्म में संचित विभिन्न पापों के प्रभाववश किये गये दुराचरण से, स्त्रियों में प्रसव-काल की विषमता तथा मिथ्योपचार से शरीर में सन्निपात की विकृति उत्पन्न होती है। इस प्रकार प्रकुपित वात आदि दोष रोगों के अधिष्ठानों में जाने वाली रस वाहिनियों के द्वारा शरीर में पहुँचकर अनेक प्रकार के विकारों को उत्पन्न करते हैं।

ज्वर निदान :-

ज्वर रोगपति, पात्मा, मृत्यराज, ओजोऽशन (ओज को खा जाने वाला), अन्तक (आयु को समाप्त कर देने वाला), क्रुद्ध होकर दक्ष के यज्ञ को विध्वंस करने वाले रूद्र के तीसरे नयन से उत्पन्न संताप मोहमय, संतापात्मा तथा अपचारज (मिथ्या आहार-विहार से उत्पन्न) इन विभिन्न नामों से नाना प्रकार की योनियों में विद्यमान रहता है।

यह हाथियों में पाकल, अश्वों में अभिताप, कुत्तों में अलर्क मेघों में इन्द्रमद, जल मे नीलिका, औषधियों में ज्योति और भूखण्डों में ऊषर नाम से रहता है।

कफ-ज्वर के लक्षण :-

कफ से[1] उत्पन्न होने वाले ज्वर में हृदय में घबराहट, वमन, खाँसी, शरीर में ठण्डक तथा अंगों में सूजन हो जाती है। दोषों के प्रकोप काल में ज्वर की उत्पत्ति होने लगती है (पर जो यह पहले से उत्पन्न हो चुके हैं) पहले वह काल पर विचार करें कि यह वात, पित्त, कफ-इन दोषों में किस दोष को प्रकुपित करने वाला है। इस आधार पर रोग को समझने में सुविधा हो सकती है। जिस तरह विशिष्ट काल के द्वारा रोग की उत्पत्ति या वृद्धि देखकर यह रोग-वात आदि किस दोष से उत्पन्न हुआ है, यह अनुमान कर लिया जाता है, उसी तरह उपशय (लाभ) और अनुपशय (हानि) से भी रोग को पहचाना जा सकता है। औषध, अन्न, विहार, देश, काल, आदि से उत्पन्न लाभ को उपशय कहते हैं और इन्हीं औषधि आदि का उपयोग यदि किसी रोग में दुःखद हो तो उसे अनुपशय कहते हैं।

अतः किस प्रकार की औषधि अन्न आदि के सेवन से रोगी को लाभ (उपशय) हो रहा

1. अ0हृ0अ0 2/22 (कफ ज्वर के लक्षण)

है और किस प्रकार की औषधि आदि से हानि (अनुपशय) हो रहा· है, इस पर विचार करने से चिकित्सक को रोग समझने में आसानी होती है।

निदान प्रकरण में कहे गये (किस औषधि और विहार के सेवन से) अनुपशय (हानि) होती है और किन पदार्थों के सेवन से उपशय (लाभ) होता है यह देखकर दोषों का अनुमान किया जा सकता है। अरूचि अपरिपाक, स्तम्भ, आलस्य, हृदयदाह, विपाक, तन्द्रा, वस्ति, विमर्दावनय, लार का गिरना, मन का भरा होना शरीर की जीर्णता का विशेष भाव होना तथा शरीर की कान्ति में मलीनता का आना- ये सभी आम ज्वर के लक्षण हैं।

भूख का न लगना, शरीर का हल्का हो जाना, यह सामान्य ज्वर है। जब ज्वर में वात-पित्त, कफ तीनों दोष बराबर बढ़ते रहते हैं तो इसे अष्टाह[1] (निराम) ज्वर का लक्षण माना जाता है। दो दोषों के लक्षणों का संसर्ग होने पर तीन संसर्गज - द्वन्द्वज[2] ज्वर होते हैं।

वात-पित्त ज्वर के लक्षण :-

सिर में वेदना, मूर्च्छा, वमन, शरीर - प्रदाह, मोह कण्ठ और मुख की शुष्कता, अरूचि, शरीर, के पर्व-पर्व में टूटन अनिद्रा, मन में विभ्रम, रोमाञ्च (सिहरन), जम्हाई एवं वात-प्रकोप से त्वचा में शीतलता की अनुभूति का होना- ये सभी लक्षण वात और पित्त की प्रकृति के कारण उत्पन्न हुए ज्वर से ग्रसित शरीर में दिखायी देते हैं।

ज्वर ताप की अल्पता, अरूचि, पर्ववेदना (शरीर के प्रत्येक जोड में दर्द) सिर पीड़ा, बार-बार थूकने की इच्छा, श्वास-कष्ट और खाँसी चेहरे का रंग उड़ जाना, ठंडक लगना, आँखों के सामने दिन में भी अन्धकार का छाया रहना और अनिद्रा का होना - ये सभी लक्षण कफ वात जनित ज्वर की पहचान कराते हैं।

शरीर में अनियमित शीतलता का अनुभव, स्तम्भन, पसीने का आना, दाह का होना, प्यास का लगना और खाँसी का आना, श्लेष्म एवं पित्त की प्रवृत्ति, मूर्च्छा, तन्द्रावस्था में तथा मुख में कड़ुवापन का होना- ये सभी लक्षण श्लेष्म-पित्तजन्य ज्वर के रूप का निर्धारण करते हैं।

वत[3]-पित्त और श्लेष्म-प्रवृत्तिजन्य सभी लक्षणों के एक साथ सर्वज (सन्निपात) ज्वर का आकलन होता है। ऐसी अवस्था में बार-बार ये सभी लक्षण प्रकट होते रहते हैं। इस ज्वर काल में रोगी को ठंडक लगती है, दिन में महानिद्रा की स्थिति बनी रहती है, रात्रि में नींद नहीं आती। रोगी को अधिक पसीना छूटता है अथवा पसीना ही नहीं आता। वह ऐसी अवस्था

1. निराम ज्वर का लक्षण (च0चि0 अ03), गरूण पुराण अ0 146
2. द्वन्द्वज ज्वर का रूप (अ0हृ0अ0 2/23-26)
3. त्रिदोष ज्वर का रूप अ0हृ0अ0 2/27-33

में गीत गाता है, नाचता है या हास्यादि की क्रियाओं को करता है। उसकी सामान्य प्रकृति पूर्ण बदलती हुई होती है। नेत्र मलिन एवं आँसुओं से डबडबाये रहते हैं। आँखों की पलकों के किनारों पर लाली छायी रहती है और आँखे खुली रहती हैं अथवा मुँदी रहती है। शरीर की पिण्डुली, पार्श्वभाग, सिर, संधि-स्थान, तथा हड्डी-हड्डी में वेदना होती है और बुद्धि में भ्रम बना रहता है। दोनों कान ध्वनि एवं वेदना से व्याप्त रहते हैं। ये अत्यधिक ठण्डे हो जाते हैं अथवा अत्यधिक गर्म हो जाते हैं। रोगी की जिह्वा जली हुई सी प्रतीत होती है। अर्थात् कुछ लाल और कृष्ण वर्ग के मिश्रित भावों से युक्त तथा खुरदरी हो जाती है उसमें स्निग्धता नहीं रह जाती। सम्पूर्ण शरीर एवं उसके संधि-स्थानों पर भारीपन तथा शिथिलता आ जाती है।

रोगी के मुख से रक्त-पित्त मिश्रित थूक निकलता है, सिर लुढ़क जाता है, अत्यन्त प्यास लगती है। शरीर के समस्त कोष्ठ-प्रदेशों का वर्ण श्याम और रक्त हो जाता है। उन पर मण्डलाकार धब्बे दिखायी पड़ने लगते हैं। हृदय में व्यथा होने लगती है। आँख, कान, नाक, गुदा आदि में निकलने वाले मल की प्रवृत्ति बढ़ जाती है अथवा अत्यन्त कम हो जाती है। मुख में स्निग्धता, बल की क्षीणता, स्वरभंग, ओजक्षय तथा प्रलाप की स्थिति उत्पन्न होने लगती है। दोषपाक, अर्थात् वात-पित्त और कफ की वृद्धि शरीर के अन्दर ही अन्दर पक जाती है, जिससे शरीर की सामान्य गति में अवरोध आ जाता है, कण्ठ घरघराने लगता है।

शरीर में तन्द्रा की अवस्था रहती है और कण्ठ से अव्यक्त शब्द निकलने लगते हैं। ऐसे लक्षणों से युक्त रोग शरीर में अपना स्थान बना लेता है उसको बलवीर्य विनाशक अभिन्यास-सन्निपात नाम ज्वर कहना चाहिए।

इस सन्निपातक ज्वर में वायु-विकार के कारण कण्ठ में अवरोध उत्पन्न होने से पित्त अभ्यान्तर-भाग में पीड़ा पहुँचाने लगता है और (विशेष मार्ग) नाक आदि से सुखपूर्वक बिना प्रयास के ही बाहर निकलने लगता है। उसी पित्त प्रभाव के कारण नेत्र हल्दी के समान पीले पड़ जाते हैं। वात-पित्त तथा कफ जन्य दोष के बढ़ जाने पर जब शरीर में विद्यमान अग्नि-तत्व विनष्ट हो जाता है तो उस समय वह अपने सम्पूर्ण लक्षणों से युक्त रहता है। यह सन्निपात ज्वर असाध्य है। इस पर बड़ी ही कठिनता से अधिकार प्राप्त किया जा सकता है।

इस सन्निपात[1] का एक अन्य भी रूप है जिसमें पित्त पृथक् भाव से स्थित रहता है। ऐसे ज्वर में त्वचा और कोष्ठ के अन्दर दाह होता है अथवा यह स्थिति उस ज्वरोत्पत्ति के पहले भी शरीर में हो सकती है। उसी प्रकार जब वात और पित्त की प्रवृत्ति शरीर में बढ़ने लगती है, उस समय भी यह सन्निपात ज्वर होता है। उस काल में शीत और दाह का प्रकोप

1. चरक चिकित्सा अ. 3, सु.उ.अ. 39

शरीर पर होता है उनसे मुक्ति प्राप्त करना प्राणी के लिए अत्यन्त कठिन है। शीत का प्रभाव शरीर पर पहले होने से पित्त के कारण मुख से कफ निकलता है और सूख भी जाता है। पित्त के शान्त होने पर मूर्च्छा, मद और तृष्णा होती है। अन्त में क्रमशः रोगी को तन्द्रा और आलस्य आ जाता है तथा अम्ल वमन होता है।

आगन्तु-ज्वर का लक्षण :-

अभिघात[1], अभिषंग, शाप तथा अभिचार-कर्म से आने वाले चार प्रकार के ज्वर को आगन्तु ज्वर माना गया है। दाह आदि के कारण शरीर में जब पसीना छूटता है तो उसको अभिघातज ज्वर कहा जाता है। अधिक परिश्रम करने से शरीर में वायु प्रायः रक्त को प्रदूषित करता हुआ पीड़ा, शोक तथा शरीर के सामान्य वर्णो को परिवर्तित करने वाले पीड़ायुक्त ज्वर को उत्पन्न कर देता है।

ग्रह-प्रभाव, औषधि-प्रयोग, विष-पान तथा क्रोध भय शोक एवं कामजन्य भी सन्निपात ज्वर होता है। ग्रहावेश से जो ज्वर उत्पन्न होता है, उसमें रोगी अकस्मात् हँसने और रोने लगता है। औषधि और गन्ध विशेष के प्रयोग से आए हुए सन्निपात-ज्वर में मूर्च्छा, सिरपीड़ा, वमन, कम्प तथा क्षय (शरीर शौथिल्य) का प्रभाव रोगी पर रहता है। विष-पान में मूर्च्छा, अतिसार, पीलापन, दाह और मस्तिष्क-भ्रान्ति के लक्षण रोगी में स्पष्ट होने लगते हैं। क्रोधजन्य सन्निपात में शरीर काँपने लगता है, मस्तिष्क में पीड़ा होती है। भय तथा शोक से उत्पन्न हुए ज्वर में रोगी प्रलाप करता है। कामजन्य ज्वर में भ्रम, अरुचि, दाह, लज्जा, निद्रा, बुद्धि तथा धैर्य का ह्रास हो जाता है।

सन्निपातिक ग्रहवेशादि के कारण उत्पन्न हुए ज्वर और आगन्तुक रूप आदि रूपजन्य ज्वर में वायु का प्रकोप ही प्रभावी रहता है। कोपजन्य ज्वर के कारण रोगी में पित्त प्रकुपित हो उठता है। शाप तथा अभिचार कर्म के कारण जो ये दो सन्निपात-ज्वर प्राणी में आते हैं ये दोनों अत्यन्त भयंकर होते हैं। इन दोनों ज्वरों को सहन करना रोगी के लिए अतिशय कठिन है। अभिचार जन्म ज्वर तान्त्रिकों के द्वारा प्रयुक्त मन्त्रों से शरीर में आता है। इसमें मन्त्र प्रभाव के कारण उत्पन्न किये गये असह्य कष्टों से प्राणी संतप्त होता रहता है। इसी अभिचार मन्त्र के द्वारा इसको पूर्वावस्था की जानकारी करनी चाहिए, तत्पश्चात् शरीर पर विचार करना अपेक्षित है उसके बाद रोगी में उठे हुए संताप से विस्फोट तथा दिग्भ्रमित दाह, मूर्च्छा, चेतना आदि से ज्वर का परीक्षण करना उचित है। अन्यथा उस रोगी में सर्वप्रथम प्रदाह और मूर्च्छा का प्रकोप होता है उसके बाद ज्वर प्रतिदिन बढ़ता रहता है।

---

1. चरक चिकित्सा, अ.3, अ.हृ. नि.अ. 2

इस प्रकार संक्षेप[1] में आठ प्रकार का ज्वर देखा गया, किन्तु वह विभिन्न प्रकार का होता है- यथा- शारीरिक, मानसिक, सौम्य, तीक्ष्ण, अर्न्तबाह्य, प्राकृत, वैकृत, साध्य, असाध्य, सामज्वर और निरामज्वर इसके विविध रूप हैं।

ज्वर होने पर प्रथम शरीर में शारीरिक, मन में मानसिक ज्वर आने पर पहले मन में अनन्त शरीर में ताप होता है। प्राकृतिक वायु के बाह्य प्रभाव से नाक-कान तथा मुँह आदि के द्वारा जो वायु ग्रहण की जाती है, उसके कारण कफ मिश्रित होता है, तब शरीर में शीत बढ़ जाता है। पित्त मिश्रित शरीर होने पर शरीर में दाह होता है।

कफ तथा पित्त दोनों की मिश्रित अवस्था में शीत और दाह का मिश्रित प्रभाव पड़ता है। इसलिए वात-कफ-ज्वर सौम्य तथा वात-पित्त ज्वर तीक्ष्ण होता है। अन्तराश्रय ज्वर में अन्तर्विकार अधिक होते हैं। तथा तीव्र दाह और मल-मूत्रादि का विबन्ध होता है। बहिराश्रय ज्वर में केवल बाहरी ताप होता है। इसमें तीव्र दाह और मल आदि की निबन्धता नहीं होती, इसलिए बहिराश्रय ज्वर-सुख -साध्य अन्तराश्रय ज्वर दुःसाध्य होता है।

वर्षा शरद् तथा वसन्त ऋतुओं में ये वात-पित्त और कफ के प्रभाव से ज्वर उत्पन्न होता है, उसे प्राकृत-ज्वर कहा जाता है। (यथा- वर्षाकाल में वातिक, शरत्काल में पैत्तिक एवं वसन्तकाल में श्लैष्मिक ज्वर का प्राकृतिक प्रभाव रहता है।) वह साध्य है। इस वैकृत ज्वर का जो विपरीत रूप है, वह दुःसाध्य माना गया है। प्राकृतिक ज्वर प्रायः वायुदोष के कारण होता है, वह भी दुःसाध्य है। वायु वर्षाकाल में दोषयुक्त ही हो जाती है, उसके प्रभाव के कारण पित्त एवं वायु कफ से समन्वित ज्वर प्राणियों में होता है। शरत्काल में पित्त दोषजन्य ज्वर की उत्पत्ति होती है। इस काल में पित्त दोष का अनुगमन कफ करता रहता है, इसलिए इस काल के ज्वर में, पित्त एवं कफ दोनों मिलकर रोगी को कष्ट देते हैं। इस प्राकृतिक ज्वर से मुक्ति प्राप्त करने के लिए भोजन न करने से रोगी को किसी अन्य रोग का भय नहीं रहता है। वसन्त काल में कफ कुपित होकर ज्वर उत्पन्न करता है। उसके पीछे ही वात एवं पित्त के दोष भी लगे रहते हैं। इस ज्वर में उपवास से हानि हो सकती है।

यदि रोगी बलवान् हो और ज्वर अल्प दोष से उत्पन्न हुआ हो

तथा दूष्य पदार्थो, देश, ऋतु और प्रकृति द्वारा बढ़कर और बलवान भारी तथा स्तब्ध होकर रसादि के आश्रित हो जाते हैं तथा प्रतिद्वन्दिता से रहित होकर वातादि दोष, दुःसह संतत-ज्वर को उत्पन्न करते हैं। अनल-धर्म-ज्वर की गर्मी, कभी मल और कभी धातुओं का शीघ्र ही क्षय कर देते हैं।

---

1. अ0हृ0नि0 अ0 2/46

मल[1] और धातुओं के क्षय के कारण रसादि सप्त धातु, मल, मूत्र और तीनों दोष- इन बारह पदार्थों को ज्वर की ऊष्मा सर्वाकार निःशेष करके कफ की अधिकता से उत्पन्न हुआ यह संतत ज्वर सात, दस या बारह दिन में या तो रोगी को छोड़ देता है या मार डालता है, यह अग्निवेश का मत है। इस विषय में हारीत का यह मत है कि रोगी को नीरोगता तथा मृत्यु के लिए चौदह, अठारह तथा बाइस दिन तक त्रिदोष की मर्यादा होती है।

धातुजन्य[2] शुद्धता अथवा अशुद्धता के कारण यह संतत-ज्वर प्राणी के शरीर में अधिक समय तक भी अवस्थित रह सकता है। दुर्बल तथा व्याधिमुक्त रोगी के मिथ्याहारादि (अपथ्य) सेवन से शरीर में प्रविष्ट अल्पदोष भी अन्य दोषों से शक्ति ग्रहण कर महाबलवान् हो जाते हैं। जिस उपचार या पथ्य के कारण ज्वर बढ़ता और घटता है उसे प्रत्यनीक कहते हैं। यह ज्वर विक्षेप, क्षय तथा बुद्धि से युक्त रहता है। उपर्युक्त मिथ्याहार का सेवन करने वाले मनुष्य के देह में वातादि दोषों में से कोई सा बलवान् दोष अपने प्रकोपकाल में संतत आदि ज्वर उत्पन्न करता है। परन्तु यह तभी सम्भव है, जब उसे अपने पक्ष के किसी रसादि दूष्य पदार्थ से सहायता मिले, सहायता न मिलने पर वह बलहीन होकर क्षीण हो जाता है।

क्षीण हो रहे दोष से युक्त ज्वर सूक्ष्म होता है, जो शरीर के अन्दर विद्यमान रसादिक3 सात धातुओं में ही लीन रहता है। रस आदि में सूक्ष्मभाव से विद्यमान रहने के कारण वह ज्वर शरीर में कृशता, विवर्णता और जड़तादि को उत्पन्न कर देता है। रसवाही स्रोतों के मुख खुले होने के कारण ज्वर को उत्पन्न करने वाले दोष उन स्रोतों में प्रविष्ट होकर सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त हो जाते हैं। इस कारण संतत-ज्वर निरन्तर रहता है और उक्त हेतु के विपरीत होने पर सम्पूर्ण स्रोत दूरवर्ती सूक्ष्म मुखवाले होते हैं।[3]

इसलिए ज्वर को उत्पन्न करने वाले दोष विलम्ब से प्रविष्ट होते हैं, अर्थात् सम्पूर्ण देह में फैलने नहीं पाते, इसलिए विच्छिन्न काल में सततादि ज्वर को उत्पन्न करते हैं। अतः सततादि ज्वर संतत ज्वर से विपरीत होता है।

विषम संज्ञक[4] ज्वर का प्रारम्भ, क्रिया और काल विषम होता है तथा यह ज्वर दीर्घकालानुबन्धी होता है, प्रायः रक्ताश्रित दोष सतत-ज्वर को उत्पन्न करता है। यह ज्वर अहोरात्र में दो बार होता है अर्थात् दिन में एक बार, रात में एक बार अथवा कभी दिन में

---

1. अ0हृ0नि0अ0 2, च0चि0अ0 3,53-73
2. अ0हृ0नि0अ0 2, 63-66 च0चि0अ0 3, सु0उ0अ0 39
3. रस, रक्त, मांस, मेदा, अस्थि, मज्जा तथा शुक्र- ये सात धातु शरीर को धारण करते हैं।
4. च0चि0अ. 3, आ0हृ0नि0अ0 2

दो बार, रात में दो बार। जब दोष मांसवाही नाड़ी में आश्रित होकर अन्येद्यु नामक विषम ज्वर को उत्पन्न करता है। तब यह दिन-रात में एक बार होता है। उसी ज्वर के प्रभाव में जब मांसवाही एवं मेदावाही नाड़ियाँ भी प्रकुपित दोष के संसर्ग में आ जाती हैं, वह लक्षण तृतीयक (तिजरिया) ज्वर के अन्तर्गत मान लिया जाता है।

तृतीयक ज्वर तीन प्रकार का होता है- वात-पित्ताधिक्य, कफ-पित्ताधिक्य और वात-कफाधिक्य। प्रथम दिन पित्त और वायु के प्रकुपित होने से ज्वर प्रभाव के कारण पहले दिन रोगी का मस्तक जलने लगता है और उसमें पीड़ा होने लगती है। दूसरे दिन कफ तथा पित्त के प्रकुपित होने से रीढ़ की हड्डी में दर्द होता है, तीसरे दिन वायु एवं कफ के दोषजन्य प्रभाव के बढ़ने से रोगी को ताप तो होता ही है, किन्तु उसकी समस्त पीठ में पीड़ा होती है। यह ज्वर एक-एक दिन का अन्तराल छोड़कर शरीर के तीनों भागों को प्रभावित करता है, इसलिए इसको 'एकाहान्तर' नाम से स्वीकार किया गया है।

वात-पित्त और कफजन्य दोष के कारण शरीर के अन्दर अधिक बनने वाले मल के द्वारा ज्वर जब मेदा-मज्जा-हड्डी तथा अन्य स्थितियों में पहुँच जाता है, तब उसको चतुर्थक ज्वर कहा जाता है, लौकिक भाषा में इसी को लोग 'चौथिया बुखार' कहते हैं। जब यही ज्वर मज्जा भाग में प्रविष्ट होता है तो यह दूसरे प्रकार का हो जाता है और इसका प्रभाव भी शरीर पर दूसरी रीति से पड़ता है।

वाध्वाधिक्य से सिर में वेदना होती है। कफाधिक्य से जंघा में प्रारम्भ होती है। उक्त सिर एवं जंघा में वेदना होकर ही ज्वर चढ़ता है।

तदन्तर वह अस्थि एवं मज्जा में जाकर अवस्थित होता है। इसी कारण इसको चतुर्थक ज्वर का विपर्यय[1] (दूसरा) रूप माना जाता है। यह ज्वर अपने संताप काल में एक दिन का अन्तराल करके रोगी पर तीन दिन तक तीन प्रकार से आक्रमण करता है।

यह अस्थि और मज्जा इन दो धातुओं में आश्रित होने के कारण लगातार तीन दिन तक रहकर बीच में एक दिन छोड़कर आता है और फिर तीन दिन लगातार रहता है। बलावल के प्रभाव से वात-पित्त तथा कफजन्य दोष अथवा अन्य विकृति चेष्टाओं को जन्म देने वाले विकारों की परिपक्व-स्थिति के आ जाने पर रोगी को सात दिन का लंघन करना चाहिए।

इसी तरह जिस-जिस समय रजोगुण एवं तमोगुण के कारण मानस दोष और मानस कार्य का बलाबल होता है, उसी-उसी समय में यह सततादि ज्वर उत्पन्न होकर चढ़ता-उतरता रहता है।

---

2. सु0उ0अ0 39

उस प्रत्येक काल में रोगी के कर्म का प्रभाव दिखायी देता है। सन्निपात के द्वारा सम्भूत कारण से गम्भीर धातुओं में समाहित दोषों की प्रबलता होने पर यह चतुर्थक ज्वर अत्यन्त कठिन चिकित्सा की अपेक्षा करने लगता है अर्थात् ज्वर का शमन, चिकित्सक के दुःसाध्य हो जाता है। दूरतम देशकाल और अवस्था के अनुसार सूक्ष्मातिसूक्ष्म रूप से ज्वर का शरीर में जो संक्रमण होता है, रक्तादिक मार्गों में जो दोष बहुत समय पहले से धीरे-धीरे अल्पमात्रा में प्रभावी होता है, वह सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त नहीं होता (अतएव वह एक दिन शरीर पर अपना पूर्ण अधिकार कर लेता है) और उसी दोष के कारण वह ज्वर प्राणी में संताप आदि के कष्टों को उत्पन्न करता है। अतः प्राणी को प्रयत्नपूर्वक पथोपचार से उस ज्वर का विनाश कर देना चाहिए, अन्यथा वह असाध्य हो जाता है। ज्वर का सामान्य लक्षण तो यही है कि वह शरीर में ताप से युक्त होकर अनुभूत होता है।

विषमगति से प्रारम्भ होने वाला ज्वर विषम कहा जाता है। यह विषम ज्वर मध्यरात्रि काल तक अपने पूर्ण वेग में रहता है। उसके बाद उसकी गति और शक्ति दोनों मन्द हो जाती है। उसी काल के अनुसार वह शरीर के रसादि पर अपने दोष का प्रभाव डालता है और धीरे-धीरे निष्प्रभावी होता है। ऐसा प्रकुपित दोष प्राणी को अधिकतम समय तक अस्वस्थ रखता है। जैसे भूमि में जल से सिंचित बीज अंकुरण के लिए समय की प्रतीक्षा नहीं करता, वैसी ही (वात-पित्त तथा कफजन्य) दोष का बीजरूप स्वयं को शरीर में प्रकट करने के लिए समय की प्रतीक्षा नहीं करता। जिस प्रकार विष वेग पूर्वक शरीर के आमाशय में जाकर बलवान् होकर क्रुद्ध हो उठता है, उसी प्रकार शरीर में स्थित दोष की यथासमय शक्ति सम्पन्न होकर स्वास्थ्य पर क्रोध करता है।

इसी प्रकार सततादि ज्वर भी शरीर में विषम भाव को प्राप्त कर लेते हैं।

अधिक[1] कष्ट का होना, शरीर का भारी लगना, दीनता अंग-भंग (शरीर का टूटना), जँभाई, अरुचि, वमन और श्वास का फूलना आदि में दोष सभी रसगत ज्वर होते हैं। जब ज्वर रक्तगत[2] संश्रित हो जाता है, तो उस अवस्था में रोगी को रक्त का वमन, प्यास, रूक्षता, उष्णता, शरीर पर छोटी-छोटी पीड़िकाओं (दानों) का निकलना, दाह, लालिमा, भ्रम, मद तथा प्रलाप का उपद्रव होता है। मांस और मेदा में ज्वर के संश्रित होने पर तृष्णा, ग्लानि, कान्तिमन्दता, अन्तर्दाह, भ्रम, अन्धकारदर्शन, दुर्गन्ध, गात्रविक्षेप का दोष उत्पन्न हो जाता है। ज्वर के अस्थिगत होने पर पसीना, अधिक प्यास, वमन, दुर्गन्ध की प्रतीति, चिड़चिड़ापन, प्रलाप, ग्लानि तथा अरूचि एवं हड्डियों में तोड़ने जैसी पीड़ा होती है। ज्वर के मज्जागत हो

1. माधव निदान ज्वर, 48-53, गरूड पुराण अ0 147

2. सु0उ0 अ0 39, च0चि0अ03

जाने पर उक्त दोष तो होते ही हैं, उसके अतिरिक्त श्वास, अंगविक्षेप, अस्पष्ट ध्वनि, बाह्य शीतलता और हिचकी के दोष की प्रवृत्ति बढ़ जाती है। शुक्र में दोष के संश्रित होने पर रोगी को दिन में भी अन्धकार दिखाई देता है, शरीर के मर्मों में छेदने जैसी पीड़ा होती है। जननेन्द्रियों के स्तब्ध होने पर निरन्तर उससे वीर्य बहता रहता है। प्रायः ऐसी अवस्था में शुक्रगत हो जाने पर रोगी की मृत्यु होती है। वस्तुतः रस, रक्त, मांस तथा मज्जागत - ये पाँचो ज्वर उत्तरोत्तर दुस्साध्य होते हैं।

मन्द ज्वर होने पर सम्पूर्ण शरीर कफ द्वारा भारीपन के दोष से संलिप्त रहता है। रोगी प्रलाप करता है, उसको शीतलता की अनुभूति होती है, तथा उसके सभी अंग शिथिल हो जाते हैं। जब शरीर में नित्य ही मन्द ज्वर होता है तो शरीर में सूखापन आ जाता है, रोगी शीतलता का अनुभव करता है और शरीर में दुर्बलता आ जाती है तथा श्लेष्मा की अधिकता हो जाती है।

जिस ज्वर में शरीर हल्दी के वर्ण का हो जाता है, और पेशाब भी पीला हो जाता है, उसे हरिद्रक ज्वर कहा जाता है, यह यम के समान मारने वाला होता है।

जिसके शरीर में कफ और वात समान रूप में रहते हैं, तथा पित्त की कमी होती है, उसमें यह ज्वर दिन में मन्द वेग से एवं रात्रि में तेज हो जाता है, तथा इसे रात्रि ज्वर कहते हैं।

व्यायाम के कारण दिवाकर के शक्ति संचय न करने से जब रोगी का शरीर शुष्क हो जाता है तो वात की अधिकता के कारण रोगी के शरीर में सदा रात में ज्वर रहता है, उसे पौर्वरात्रिक ज्वर कहा जाता है।

इस ज्वर में श्लेष्मा पित्त के नीचे आमाशय में स्थित रहने पर आत्मस्थ होकर रोगी का आधा शरीर शीतल और आधा उष्ण रहता है। ज्वर के समय रोगी के शरीर में जब पित्त परिव्याप्त रहता है, तथा श्लेष्मा अन्त में स्थित रहता है। इसलिए उसका शरीर उष्ण और हाथ-पैर ठंडे रहते हैं। रस और रक्त में आश्रित तथा मांस एवं मेदा में स्थित ज्वर साध्य है। हड्डी और मज्जा में स्थित ज्वर कष्ट साध्य है। ज्वर जिस जिस अंग में रहता है, उसे कान्तिहीन कर देता है। इस ज्वर में रोगी संज्ञाहीन ज्वर के वेग से आर्त और क्रोधयुक्त रहता है। रोगी सदा दोष समन्वित उष्ण मल का वेगपूर्वक परित्याग करता है।

ज्वर के शान्त होने पर शरीर लघु (हल्का) हो जाता है, थकान, मोह और संताप दूर हो जाता है, मुख में छाले पड़ जाते हैं। इन्द्रियों में निर्मलता आ जाती है, पीड़ा नहीं रहती, शरीर में उचित पसीना छूटता है, भूख लगती है, मन स्वस्थ तथा प्रसन्न हो जाता है अन्न ग्रहण की इच्छा होने लगती है तथा सिर में खुजलाहट होती है।

चरक संहिता के आधार पर ज्वर चिकित्सा :-

ज्वरो विकारो रोगश्च व्याधिरातङ्क एव च।

एकोऽर्थो नामपर्यायैर्विविधैरभिधीयते।।

ज्वर के पर्याय - ज्वर, विकार, रोग, व्याधि, आतंक- ये सभी एक ज्वर रूप को कहने वाले नाम रूपी पर्याय है, जिनसे (यहाँ) ज्वर का अभिधान किया जाता है।

तस्य प्रकृतिरूछिष्टा दोषाः शारीरमानसाः। देहिनं न हि निर्दोषं ज्वरः समुपसेवते।।

ज्वर की प्रकृति क्या है - ज्वर की प्रकृति शारीरिक (वात, पित्त, कफ) दोष तथा मानसिक (रजस, तमस,) दोष हैं, क्योंकि जो प्राणी इन दोषों से दूषित नहीं होता, ज्वर उसका सेवन नहीं करता, अर्थात् वह ज्वर रोग से पीड़ित नहीं होता है।

क्षयस्तमो ज्वरः पाप्मा मृत्युश्चोक्ता यमात्मकाः।

पञ्चत्वप्रत्ययान्नृणां क्लिश्यतां स्वेन कर्मणा।।

क्षय, तम, ज्वर, पाप्मा और मृत्यु - ये सभी यम स्वरूप कहे गये हैं। अपने-अपने दुष्कर्म द्वारा कष्ट पाने वाले मनुष्यों के पञ्चतत्व (मृत्यु) का कारण होने के विश्वास से इन्हें यमस्वरूप कहा गया है।

रक्त पित्त निदान :-

अत्यन्त उष्ण, तिक्त, कटु, अम्ल, नमक आदि जो पेट में विशेष प्रकार का दाह उत्पन्न करने वाले पदार्थ हैं और कोदो, उछ्छालक आदि गरिष्ठ अन्न से बने भोजन है तथा अन्य पित्तवर्धक शाक-पात हैं, उन सभी का अधिक सेवन करने से शरीर में पूर्व से स्थित पित्तात्मक द्रव कुपित हो उठता है और परस्पर में मिलकर वह रक्त पर दूषित प्रभाव डालता है। जिससे शरीर का रक्त दूषित हो जाता है, उन्हीं भोज्य एवं पेय पदार्थो के प्रभाव से पित्त और रक्त एक सा रूप धारण करके सम्पूर्ण शरीर पर अधिकार कर लेते हैं। संसर्ग दोष के कारण विकृत हुए रक्त पित्त-गन्ध वर्ण तथा दोष प्रवृत्ति में एक अनुरूपता होने पर भी उसको रक्त[1] नाम से ही जाना जाता है। वह दूषित रक्त प्लीहा तथा यकृत भाग वाले कोष्ठ से उत्पन्न होता है। इस कारण उसका नाम रक्त पित्त है।

रक्त पित्त का दोष निम्नलिखित उपद्रवों से जाना जा सकता है। मस्तिष्क में भारीपन, अरूचि, शीतल पदार्थ सेवन की इच्छा कण्ठ से धूम निकलने का आभास तथा अम्लतायुक्त डकारों का आना वमन, वमन में दुर्गन्ध, खाँसी, श्वास, भ्रम, थकान, लोहा रक्त तथा मछलीकी सी गन्ध, स्वर में क्षीणता, नयनादि अंगों में लाली, हल्दी की तरह पीलापन अथवा हरापन होना, नीले, लाल और पीले रंग में भेद का मालूम होना और स्वप्न में भी लाल रंग

1. च0चि0अ0 4, अ0हृ0 अ0 3

दिखायी देना ये लक्षण रक्त, पित्त-रोग, होने वाले में ये पाये जाते हैं।

रक्त-पित्त तीन प्रकार का होता है- ऊर्ध्वगामी, अधोगामी, और उभयगामी। इनमें से उर्ध्वगामी रक्त पित्त दोनों नाक के छिद्रों तथा आँखों, कानों और मुख - इन सात द्वारों से निकलता है, अधोगामी कुपित रक्त मूत्रेन्द्रिय, योनि और गुदा से निकलता है और उभयगामी रक्त-पित्त समस्त रूपकूपों एवं पूर्वोक्त दसों द्वारों से निकलता है। ऊर्ध्वगामी साध्य रक्त-पित्त कफ की अधिकता से निकलता है। इसलिए इसका साधन विरेचन है। पित्त शान्ति की बहुत सी औषधियाँ हैं, उनमें सबसे प्रधान विरेचन है तथा रक्त-पित्त का अनुबन्धी कफ होता है और कफ की औषधि भी विरेचन ही है। फान्ट आदि कषाय मधुर रसयुक्त होने पर भी रोगनाशक होने के कारण वातादि दोष से रहित कफ वाले रोगी के लिए हितकारी होते हैं।

ऐसी स्थिति में कटु तिक्त और कषाय द्रव्य जो स्वभाव से ही कफ का नाश करने वाले हैं, ये अत्यन्त लाभप्रद होते हैं। अधोगामी रक्त-पित्त वात से उत्पन्न होने के कारण आप्य (साध्य) होता है। इसकी चिकित्सा वमन है। पित्त की चिकित्सा अल्प होने के कारण वमन से श्रेष्ठ औषधि नहीं है। रक्त-पित्त का अनुबन्धी वात है। इसीलिए वमन वात का शमन नहीं करता। इसलिए रक्त-पित्त दोष में मधुर कषाय ही हितकारी होता है।

शरीर में कफ तथा वायु के संसृष्ट होने पर रक्त जनित उभयगामी रक्त-पित्त असाध्य हो जाता है। प्रतिलोग होने और औषधि से असाध्य होने के कारण यह रोग असह्य होता है। प्रतिलोम होने के कारण इस दोष का कोई प्रतिकार नहीं है। रक्त-पित्त रोग में शोध प्रतिलोक (रोग का उल्टा) उपाय नहीं बतलाया गया है। रोग का इसी तरह से संशोधन और उपशमन सम्भव है।

वात[1] पित्त तथा कफ आदि दोषों के एक-दूसरे में संसृष्ट हो जाने पर सब प्रकार से शमन औषधि ही हितकारी होती है। इस रोग में रक्षा करने पर शिरावेध परीक्षणविधि ही दिखायी देता है। वस्तुतः ऐसे दोषों में होने वाले उपद्रव विकार को लक्ष्य करके ही शरीर पर प्रभावी होते हैं। अतः रोगी के शरीर में दृष्टिगत उपद्रवों से अन्य विकार न उत्पन्न हों उसके पूर्व ही उनका शमन तथा परीक्षण करा लेना चाहिए।

कास (खाँसी) - निदान :-

खाँसी, वातज, पित्तज, कफज, क्षतज तथा धातु क्षयज होने से पाँच प्रकार की मानी गयी है। यदि इन पाँचों के विनाश की उपेक्षा कर दी जाती है तो ये क्षय को उत्पन्न कर देती है, यह उत्तरोत्तर बलवान हो जाती है। इसका भावी रूप इस प्रकार होता है - कास रोग होने पर कण्ठ में खुजलाहट और अरूचि होती है। कान, मुख तथा कण्ठ में शुष्कता आ

1. सु0उ0अ0 45, च0चि0अ02, सु0चि0 अ0 34

जाती है। शरीर में वायु प्रायः अधोगामी होता है। इस रोग में ऊर्ध्वगामी होकर वक्षःस्थल में जा पहुँचता है, वहाँ अभिघात करते हुए वायु कण्ठ में रोग की सृष्टि करता हुआ मस्तिष्क तथा रक्तवाही आदि शरीर के तेरहों स्रोतों में जाता है। तदनन्तर सभी अंग-प्रत्यंगों में प्रवष्टि होकर आक्षेप एवं उनका कष्ट पहुँचाता है।

इसका प्रकोप होते ही नेत्रों में उत्क्षेप करता हुआ और पीठ तथा हृदय एवं पार्श्वों में पीड़ा उत्पन्न करता हुआ मुख से निकलता है। बोलने[1] में भी रोगी को कष्ट होता है, फूटे हुए काँसे की ध्वनि के समान मुख से वाणी निकलती है, हृदय के पार्श्वभाग तथा शिरोभाग में पीड़ा उठती है, मोह और क्षोभ होता है एवं स्वर भंग हो जाता है।

यह रोगी को अत्यन्त तेज पीड़ा के साथ सूखी खाँसी खाँसने के लिए विवश कर देता है। रोगी को रोमाञ्च हो जाता है, खाँसने पर बड़ी ही कठिनता से अन्दर से सूखा हुआ कफ बाहर निकलता है, जिससे खाँसी कुछ कम हो जाती है।

पित्त जन्य[2] कास होने से नेत्र पीले पड़ जाते हैं, मुख में तीतापन रहता है, ज्वर और भ्रम होता है। रोगी पित्त तथा रक्त संश्रित वमन करता है, उसे प्यास लगती है, कण्ठ से निकलने वाली ध्वनि टूटी रहती है, उसको सब ओर धुआँ-ही-धुआँ दिखायी देता है और धूमामित एवं खट्टी डकार आती है तथा उसमें एक प्रकार का मद छाया रहता है। जब सभी को खाँसी का वेग आता है तो उसी खाँसी के बीच आँखों के सामने चमकता हुआ छोटा-छोटा प्रकाश पुंज दिखायी देता है।

कफजन्य कास रोग होने पर वक्षःस्थल में सामान्य वेदना होती है, सिर में भारीपन तथा हृदय में जकड़न आ जाती है। कण्ठ में किसी द्रव्य पदार्थ के लेप का अनुभव होता है। एक प्रकार का मद-जैसा शरीर पर छाया रहता है तथा पीनस, वमन, अरुचि, रोमांच और घने स्निग्ध कफ की प्रवृत्ति होती है।

युद्धादि अत्यन्त साहसिक विभिन्न कर्मो को करने वाले लोगों द्वारा जब शक्ति से अधिक कर्म किया जाता है तो उससे वक्षः स्थल में क्षत हो जाता है। पित्त से अनुगमित होकर वायु बलवान् हो जाता है। तदनन्तर उसके कारण रोगी को खाँसी आने लगती है, जिसके द्वारा मुख से रक्तसंश्रित कफ अधिक निकलता है। प्रायः यह कफ पीला, पिंगल शुष्क ग्रन्थ (लोथड़े की भाँति) और अत्यन्त दूषित होता है।

इस रोग में रोगी रूग्ण कण्ठ से कफरूपी मल को बाहर निकालता है, वायुदोष के कारण हृदय फटा सा प्रतीत होता है और शरीर में सुइयों के चुभने जैसे कष्ट की अनुभूति

1. अ0ह0नि0 अ0 3/21, सु0उ0 52

2. अ0ह0नि0अ0 3/24-25, सु0अ0 52

होती है।

तथा कष्टकारी शूल के आघात से मर्मस्थल में पीड़ा होती है, रोगी के पर्व-पर्व में दर्द होता है और ज्वर भी रहता है। उसकी सांस फूलती है। प्यास बढ़ जाती है। उसकी वाणी में स्वर भंग होने लगता है। तथा शरीर में कम्पन रहता है।

रोगी[1] उस रोग में कबूतर के समान कहरने लगता है। उसके पार्श्वभाग में शूल उठने लगता है। कफादि विकारों के कारण उसका वमन होता है। उसकी शक्ति क्षीण होने लगती है और शरीर का वर्ण कान्तिहीन हो जाता है।

राजयक्ष्मा रोग होने से रोगी का शरीर क्षीण होने लगता है। उसके पेशाब में रक्त आता है। साँसे फूलने से पीठ और कमर में पीड़ा होती है। जिनको शास्त्र में आयु कहा गया है, वे आयु रूपी धातु हैं, शरीर में प्रकुपित होकर दौड़ने लगती है। यक्ष्मा से पीड़ित रोगी घर को खाँसी और खखार से भर देता है। वह खखार (पीब) के समान दुर्गन्धयुक्त तथा हरे और लाल रंग का होता है। ऐसे रोगी को सोने में विशेष कष्ट होता है अर्थात् सुप्तावस्था में भी रोगी को कष्ट होता रहता है। यह रोग रोगी के हृदय को गिरते हुए समान कष्ट देता है। अचानक रोगी में उष्ण और शीतल भोजन एवं पेय पदार्थ ग्रहण करने की इच्छा होने लगती है। वह बहुत खाता है। उसका बल क्षीण होने लगता है। मुख पर स्निग्धता बनी रहती है। उसके नेत्र भी शोभा सम्पन्न रहते हैं, किन्तु रोग के बलवान होने के बाद सभी विनाशकारी राजयक्ष्मा के लक्षण रोगी के शरीर में जन्म लेते हैं।

क्षयजन्य[2] कास का रूप ऐसा ही है। इस रोग से क्षीण हुए शरीर वाले रोगियों की मृत्यु निश्चित ही हो जाती है अथवा रोगियों के बलवान होने पर यह रोग याप्य-साध्य रहता है। कास जब रोगी पर अपना प्रथम कुप्रभाव दिखाना प्रारम्भ करे उसी काल में इसकी चिकित्सा अपेक्षित है।

रोगी[3] में उपचार का सामर्थ्य होने पर यह रोग साध्य भी है। अतः रोगी को यथा सामर्थ्य इस रोग का उपचार अवश्य करना चाहिए, किन्तु उपचार प्रारम्भ करने के पूर्व उसके वात आदि सभी प्रकारों पर विचार करके ही पृथक-पृथक रूप से प्रयोज्य औषधि तथा पथ्यापथ्य आहार ग्रहण करना हितकर होता है। वृद्ध प्राणी के शरीर में जो मिश्रित भाव से वातजादि कास रोग होते हैं। वह याप्य हैं। उनकी उपेक्षा करने से खाँसी, श्वास, क्षय, वमन तथा स्वरभंगादिक प्रतिश्याय का प्रकोप होता है।

1. अ0हृ0नि0अ0 3, सु0उ0 52, गरूण पुराण अ0 149
2. अ0हृ0नि0अ0 3, 36-37, सु0उ0 52
3. अ0हृ0नि0अ0 3, च0चि0अ018, सु0उ0 52

श्वासरोग-निदान :-

कासरोग[1] के परिपक्व हो जाने पर उसी से शरीर में श्वास रोग की उत्पत्ति होती है अथवा प्रारम्भकाल में वात-पित्त तथा कफजन्य दोषों के प्रकुपित होने से यह रोग उत्पन्न होता है। इस रोग का प्रादुर्भाव, आमातिसार, वमन, विषपान और पाण्डुरोग एवं ज्वर से भी हो जाता है। धूलि-ग्रहण, धूप तथा शीत वायु के सेवन करने से भी इस रोग का जन्म हो सकता है। मर्मस्थल में आघात पहुँचने से और बर्फीले जल का प्रयोग करने से भी शरीर में इस रोग का प्रकोप हो जाता है।

यह रोग क्षुद्र, तमक, छिन्न, महान् तथा ऊर्ध्व नाम से पाँच प्रकार का माना गया है। कफ के द्वारा सामान्य ढ़ंग से शरीर में अवरोधित गतिवाला सर्वव्यापी वायु प्राणवाही, जलवाही, अन्नवाही तथा रक्तपित्तादिजन्य स्रोतों को प्रकुपित करता हुआ जब हृदय में स्थित हो जाता है, तब वह आमाशय में श्वासरोग को उत्पन्न करता है।

इस रोग का पूर्वरूप इस प्रकार होता है - रोगी के हृदय और पार्श्व (बगल) - भाग में शूल उठता है- प्राणवायु और शरीर में प्रतिलोम गति से प्रवाहित होने लगती है, रोगी के मुख से पीड़ा के कारण बराबर आह-आह की ध्वनि निकला करती है, फूटे हुए शंख को बजाने से जैसी ध्वनि प्रकट होती है, वैसी ही ध्वनि रोगी के शरीर की पीड़ा के कारण होती है।

प्रायः शरीर में इन लक्षणों का उद्भव अधिक भोजन करने के दोष प्रेरित वायु स्वयं मल से युक्त क्षुद्र श्वास को प्रेरित करता है अर्थात् अधिक भोजन करने से रोगी की साँस फूलने लगती है और उसे मल विसर्जन करने की इच्छा होती है। ऐसी स्थिति में कफ के अवरोध को पार करके वायु प्रतिलोमभाव से शिरोभाग में प्रवेश करता है, जिससे वह हृदय में पहुँचता है और वहाँ आमाशय में जाकर श्वासरोग को बल देता है।

यह वायु[2] प्रकोप उस समय सिर, गला और हृदय भाग को अपने अधिकार में लेकर पार्श्वभागों में पीड़ा उत्पन्न करता हुआ खाँसी, घुरघुराहट, मूर्च्छा, अरूचि और पीनस तथा तृषा का उपद्रव शरीर में प्रकट करता है। प्राणों को संतृप्त करने वाली साँस अत्यन्त वेग से चलने लगती है। यद्यपि खाँसी के द्वारा कण्ठ में आये हुए दूषित कफ को थूकने से तात्कालिक कुछ शान्ति रोगी को प्राप्त हो जाती है और वह कुछ क्षण के लिए सुख का अनुभव कर सकता है।

---

1. अ0हृ0नि0अ04, च0चि0अ017, सु0उ0अ0 51, आ0नि0चि0 दर्श पृष्ठ 41
2. च0चि0अ021, अ0हृ0अ0 4-7, गरूण पुराण अ0 150

श्वास के प्रकोप से अत्यन्त कष्ट होने पर रोगी सो जाता है। यदि बैठ जाता है, तब वह अपने को कुछ स्वस्थ अनुभव करता है। इस प्रकुपित रोग के कारण रोगी को कष्टाधिक्य के कारण आँखे ऊपर की ओर निकलती हुई प्रतीत होती हैं, मस्तक से पसीना छूटने लगता है और रोगी अत्यन्त कातर हो उठता है। बार-बार श्वास आने से रोगी का मुँह सूख जाता है। वह काँपता है और उष्ण आहार या पेय पदार्थ के सेवन की अभिलाषा करता है। मेघ घिरने पर, वर्षा होने पर, शीत गिरने पर एवं पूर्वी हवा चलने पर तथा कफकारक आहार-विहार करने पर श्वास का वेग बढ़ जाता है।

यदि बलवान मनुष्य के शरीर में तमक नामक श्वास रोग होता है तो वह याप्य-साध्य होता है। प्रथम दृष्ट्या तो ज्वर और मूर्च्छा से युक्त होने पर रोगी को इस तमक श्वास का उपशमन शीतल द्रव्य पदार्थों से ही करना चाहिए। ऐसे रोग के उपभेद में रोगी खाँसी और श्वास के प्रकोप से ग्रस्त शरीर से निर्बल तथा मर्मस्थल की पीड़ा से अत्यन्त दुःखी रहता है। उसे अधिक पसीना आता है, मूर्च्छा होती है, पीड़ा से वह कराहता रहता है, उसके मूत्राशय में जलन एवं पेशाब (मूत्र) रूक-रूककर आता है। विभ्रम का प्रकोप होता है। रोगी की दृष्टि-अधोगति रहती है, अधिक कष्ट तथा ताप के कारण आँखे अपने स्थान से निकलती सी प्रतीत होती है, उनमें चिकनापन तथा लालिमा छा जाती है, मुख सूख जाता है। कष्ट के कारण रोगी प्रलाप करता है। शरीर का तेज नष्ट होकर चेतना भी नष्ट हो जाती है तथा वह मृत्यु को प्राप्त हो जाता है।

महाश्वास[1] का रोग प्रभेद होने पर रोगी अपने शारीरिक मानसिक तथा वाचिक महत्व से रहित हो उठता है। वह दीन व्यक्ति के समान प्रतीत होता है, श्वास की पीड़ा के कारण आवाज तथा गले में घड़घड़ाहट होती है। वह मतवाले साँड के समान रात-दिन धूलिधूसरित होकर हुँकार के साथ श्वास छोड़ता है तथा ज्ञान-विज्ञान से रहित हो जाता है। उसके नेत्र और मुख पर भ्रान्ति की अवस्था आ जाती है। नेत्रों से किसी वस्तु को सत्यरूप में जान नहीं पाता उसकी जिह्वा में खाये गये द्रव्य पदार्थों के स्वाद को बताने की शक्ति नहीं रह जाती है। उसके नेत्रों में झपकी चढ़ी रहती है। मूत्र के साथ रोगी का तेज भी निकलता है। उसकी वाणी मुख से टूटी-फूटी निकलती है। रोगी का कण्ठ सूख जाता है। उसकी बारम्बार साँस फूलती है। उसके कान, गला और सिर में अत्यन्त पीड़ा होती है। जिस रोगी की लम्बी-लम्बी ऊर्ध्व गतिवाली साँस निकलती है वह अपने श्वास को नीचे की ओर ले जाने में समर्थ नहीं हो पाता।

1. च0चि021, अ0हृ0नि0अ04, गरूण पुराण अ0 150

इस महाश्वास[1] के रोग में रोगी के मुख और कान कफ से भरे रहते हैं। शरीर का प्रकुपित वायु उसे बहुत ही कष्ट देता है। अब मैं ऊर्ध्व श्वास के भेद की समीक्षा कर रहा हूँ। इस रोग में रोगी चारो ओर अपनी दृष्टि को फेंकता हुआ भ्रान्ति प्राप्त करता है। मर्म छेदने की सी वेदना होती है और वाणी रूक जाती है। इन तीनों प्रकार के श्वासों के लक्षण जब तक प्रकट नहीं होते हैं, तभी तक साक्ष्य होते हैं, परन्तु लक्षण प्रकट हो जाने पर असाध्य से साध्य होते हैं, परन्तु लक्षण प्रकट हो जाने पर असाध्य हो जाते हैं। और निश्चित ही मृत्युकारक बन जाते हैं।

हिक्कारोग-निदान :

श्वासरोग के जो-जो निदान-पूर्वरूप, संख्या, प्रकृति अैर आश्रयस्थान कहे गये हैं, वे ही हिक्कारोग के भी होते हैं। यह हिक्का पाँच प्रकार की होती है- भक्तोद्भवा (अन्नजा), क्षुद्रा, यमला, महती और गम्भीरा। तीक्षण स्वर तथा असात्म्य अन्न तथा पेय पदार्थों के सेवन के प्रकुपित वायु हिक्कारोग को पैदा करती है। इस हिक्का रोग में रोगी श्वास लेता हुआ क्षुधानुगामी मन्द-मन्द शब्द करता है। अन्न तथा पेय पदार्थों की अयुक्ति पूर्वक सेवन करने से जो हिक्का (हिचकी) रोगी को आती है, उसे 'अन्नजा हिक्का' कहते हैं। यह हिचकी सात्म्य अन्नपान से शान्त हो जाती है। अधिक परिश्रम करनेसे शरीर में प्रकुपित हुआ पवन 'क्षुद्रा' हिक्का को जन्म देता है। वह ग्रीवामूल से निकलकर मन्द-मन्द गति से कण्ठ के बाहर आता है। यह रोग अधिक परिश्रम करने से बढ़ जाता है, किन्तु यथोचित मात्रा में भोजन कर लेने पर कुछ शान्त हो जाता है।

जो हिचकी[2] अधिक समय से एक या दो बार वेगपूर्वक आती है परिणामतः वह धीरे-धीरे बढ़ती जाती है। अपने वेग से जो रोगी के सिर और ग्रीवा भाग को प्रकम्पित कर देती हैं, उसको 'यमला हिक्का' के नाम से स्वीकार करना चाहिए। इसमें रोगी प्रलाप करता है तथा उसको वमन होता है और उसे अतिसार हो जाता है, कमजोरी से उसके नेत्र बैठ जाते हैं, और जम्भाई आती है। ऐसी अवस्था वाली हिक्का को वेगवती परिणाम देने वाली 'यमला हिक्का कहते हैं।

जिस हिक्का रोग के वेग से रोगी की भौंह और कनपटियों में कष्ट होने लगता है, कान तथा नेत्र बंद हो जाते हैं, कानों से सुनाई नहीं देता है, और आँखों से दिखायी नहीं पड़ता है। रोगी के शरीर, वाणी और स्मरण की शक्ति को शिथिल करती हुई जो हिक्का अन्त में उसे संज्ञाशून्य कर देती है, तथा अन्य इन्द्रियों को दुःखित करती हुई उसके मर्मस्थल में

1. सु0उ051, अ0हृ0नि0अ04,गरूड पुराण अ0· 150
2. अ0हृ0नि0अ0 5

पीड़ा पहुँचाती है तथा रोगी को पीठ भाग से झुका देती है एवं शरीर को शुष्क कर देती है, उस हिक्का को 'महती हिक्का' कहा जाता है। यह महामूला, महाशब्दा, महावेगा और महाबला होती है।

गम्भीरा नाम की हिक्का पक्वाशय, मलाशय अथवा नाभिभाग से अपने पूर्वस्वभाव के अनुसार शरीर में प्रकट होती है तो उस रोगी को जम्हाई लेने के लिए विवश कर देती है। उसके हाथ पैर आदि सभी अंग फैलने लगते हैं। उस हिक्का के कुप्रभाव से रोगी का सम्पूर्ण शरीर शिथिल पड़ जाता है। इसमें गम्भीर शब्द होता है इसलिए इसका नाम 'गम्भीरा-हिक्का' है।

प्रारम्भ[1] में बतायी गयी भक्तोद्भवा (अन्नजा) तथा क्षुद्रा नाम जो दो हिक्का के प्रकार बताये गये हैं, वे साध्य होती है। उन दोनों को छोड़कर शेष अन्य जो यमलादिक तीन हिक्काएँ हैं, वे असाध्य होती हैं। किन्तु चिरकाल (पुरानी) हिचकी, वृद्ध मनुष्य की हिचकी, अतिस्त्री, सेवा की हिचकी, व्याधि द्वारा क्षीण देह वाले की हिचकी, अन्न के अभाव से कृश मनुष्य की हिचकी ये सब असाध्य होती है। सभी रोग शरीर में प्राणियों का विनाश करने के लिए ही आते हैं। किन्तु वे वैसी शीघ्रता नहीं करते हैं, जैसी शीघ्रता इस हिक्का के यमलादिक भेद करते हैं। हिक्का और श्वास-ये दोनों रोग जैसे हैं- वैसे अन्य कोई रोग नहीं है। वे दोनों तो मृत्युकाल-स्वरूप प्राणी के शरीर में ही अपना डेरा डाल लेते हैं।

राजयक्ष्मा-निदान :-

राज्यक्षमा[2] रोग से पूर्व प्राणी के शरीर में अनेक रोग रहते हैं और बाद में अनेक रोग हो जाते हैं। इस रोग को राजयक्ष्मा, क्षय, शोष तथा रोगराज भी कहा जाता है। प्राचीनकाल में नक्षत्र और द्विजों के राजा चन्द्रमा को यह रोग हुआ था। एक तो यह रोगों का राजा है और दूसरे इसका नाम यक्ष्मा है इसलिए इसे 'राजयक्ष्मा' कहा गया है। यह देह और औषधियों दोनों का क्षय कर देता है तथा शरीर और औषधि का विनाश करने वाले रोग के रूप में यह उत्पन्न होता है, इसलिए इसका नाम क्षय दिया गया है।

यह रसादि धातुओं का शोषण करने के कारण शोष नाम से भी जाना जाता है। राजा के समान रोगों का राजा है जिसके कारण रोगराज के नाम से जाना जाता है।

साहस के कार्य मल-मूत्रादि के वेग का बलात् अवरोध शुक्रौज, शारीरिक स्निग्धता का विनाश तथा संयमित आहार-व्यवहार का परित्याग- ये चार इस यक्ष्मारोग की उत्पत्ति के कारण हैं। शरीर में उन्हीं कारणों से कुपित हुआ वायु पित्त एवं कफ को व्यर्थ में ही कुपित

1. अ0हृ0नि0अ04, च0चि0अ0 21, गरुड पुराण अ0 151

2. सु0उ0तं0 अ0 41, च0चि0अ06, अ0हृ0नि0अ0 5

कर देता है। तदनन्तर वह शरीर के संधिस्थानों में प्रवेश करके उनकी शिराओं को पीड़ित करता हुआ रक्त, अन्न, रसवाही आदि सभी स्रोतों के मुखों को बन्द करता है, अथवा उसी प्रकार उन सभी को छोड़कर हृदय भाग में जा पहुँचता है और उसको मध्य, ऊपर, नीचे तथा तिरछे रूप में व्यथित करता है।

इस रोग के उत्पन्न होने से पूर्व रोगी को प्रतिश्याय ज्वर, लार, प्रवाह, मुखमाधुर्य अग्निमन्दता तथा शारीरिक शिथिलता का दोष होता है। अन्न और पेय पदार्थ के प्रति अनिच्छा तथा पवित्रता में अपवित्रता की प्रतीति रोगी को होती है। प्रायः उसको भोज्य एवं पेय पदार्थों में मक्खी, तृण और बाल गिरने का भान होता है। रोगी का हृदय कफादि से संश्लिष्ट हो जाता है, उसको वमन होता है। आहार-विहार के प्रति उसकी रूचि नहीं रह जाती है। भोजन करने पर भी वह अपने को शक्तिहीन समझता है। उसके हाथ,पैर, जंघा, वक्षःस्थल, मुख, नेत्र तथा कुक्षिभाग सूख जाते हैं। रक्त की कमी के कारण उसका रंग श्वेत हो जाता है। उसकी भुजाओं में विशेष प्रकार की पीड़ा होती है। इसकी जिह्वा में भी ज्वरादि के कारण उत्पन्न हुए छालों से कष्ट रहता है, उसको शरीर के प्रति स्वयं घृणा होती है। उसमें स्त्री संसर्ग मद्य और मांस के प्रति प्रेम तथा घृणा दोनों होने लगते हैं। उसके सिर में चक्कर आता है। इस रोग के होने पर रोगी के नाखून, केश तथा अणि अपेक्षाकृत पहले से अधिक बढ़ते हैं। वह स्वप्न में पराजय देखता है।

पतंग, कृकल (गिरगिट), साही, बन्दर, कुत्ता तथा पक्षियो से भयार्त होकर अपने को पराजित या गिरता हुआ देखता है। स्वप्न में अपने शरीर के बाल तथा अस्थि भाग को भस्म होते हुए देखकर वह भयभीत होता है। वह स्वप्न में ही वृक्ष पर चढ़ता है। उसे स्वप्न में निर्जन ग्राम और देश का दर्शन होता है। जलरहित भूभाग को देखने के कारण उसे स्वप्न में भय लगता है।

उसको आकाश में प्रकाशपुंज तथा दावाग्नि से जलते हुए वृक्ष दिखायी देते हैं। जिससे उस रोगी का मन भय से व्याकुल हो उठता है। ये सब लक्षण रोग प्रभाव के कारण ही होते हैं। अतः इसे पूर्वरूप कहते हैं।

इस राज्ययक्ष्मा रोग[1] के कोष्ठगत होने पर रोगी को पीनस, श्वास, कास, स्वरभंग, सिरपीड़ा, अरूचि, ऊर्ध्वनिःश्वास, शारीरिक शुष्कता, बधजन्य, कष्ट तथा वमन होता है। उसके पार्श्वभाग तथा संधि स्थान में पीड़ा होती है। उसका शरीर ज्वर से संतप्त रहता है। इस प्रकार इस राजयक्ष्मा के उक्त ग्यारह लक्षण रोगी के शरीर में पाये जाते हैं। उनके उपद्रव से

1.सु0उ0 41, अ0हृ0नि0 अ0 5, गुरूण पुराध अं0 152

रोगी के कण्ठ में ऐसी पीड़ा होती है जैसे श्वासमार्ग में विकृति एवं हृदय वेदना होने पर होती है। उसे जम्हाई आती है, प्रत्येक अंग में दर्द होता है, मुख से बार-बार थूक निकलता है, मन्दाग्नि हो जाती है, तब मुख से दुर्गन्ध आने लगती है।

इस राजयक्ष्मा के रोग में वायु प्रकोप के कारण रोगी के शिरोभाग तथा दोनों पार्श्वों में शूल उठता है, जिसके कारण असह्य पीड़ा होती है। दर्द से रोगी का अंग-अंग टूटता रहता है, कण्ठावरोध और स्वरभंग हो जाता है। पित्तदोष होने से रोगी को स्कन्ध-प्रदेश हाथ तथा पैर के दाह अतिसार रक्तसंश्रित वमन, मुखदुर्गन्ध, ज्वर और एक प्रकार का मद रहता है। कफजन्य दोष के कारण रोगी को अरूचि, वमन, खाँसी, आधे शरीर का भारीपन, लार बाहुल्य, पीनस, श्वास, स्वरभेद, और अग्निमान्द्य का प्रकोप होता है। इसी अग्निमन्दता एवं शरीर में शोभ को उत्पन्न करने वाले प्रदूषित कफजन्य दोषों से रोगी को रक्तवाही आदि स्रोतों के मुखों का अवरोध तथा धातुओं के क्षीण हो जाने पर हृदय में दाह और अन्य उपद्रव होते हैं।

शरीर के अन्दर पक्वाशय - भाग में उक्त दोषों के कारण प्रायः अन्न आम्लिक रस के कारण पकता है, जिसके कारण वह सिद्ध नहीं होता और न तो शारीरिक पुष्टता में सहयोग करने की क्षमता ही अर्जित कर पाता है। रोगी के शरीर का ऐसा आमलिक रस रक्त और मांस को पुष्ट करने में अक्षम होता है। सप्तधातुओं का पोषण न होने पर रोगी केवल मल के भरोसे जीता है।

रोगी में इन लक्षणों के कम होने पर भी अत्यन्त क्षीणता आ सकती है। इस रोग में छः प्रकार का क्षय होता है। अतः उन सभी प्रकारों के क्षय होने पर रोगी के शरीर में होने वाले उपद्रवों[1] को यथोपचार रोककर यथासम्भव इस रोग को समूल दूर करने का प्रयास करना चाहिए अन्यथा इस रोग से प्राणी की मृत्यु ही निश्चित होती है।

इस रोग के दोष पृथक्-पृथक् या समूहवत् शरीर पर प्रकट होते ही रोगी के मेद का क्षय हो जाता है, जिसके कारण उसके स्वरों में भेद, क्षीणता, रूक्षता अैर चंचलता आ जाती है। वात-प्रकोप होने से रोगी का कण्ठ सफेद रंग का हो जाता है। उसके शरीर की स्निग्धता तथा उष्णता समाप्त हो जाती है। पित्तदोष के कारण रोगी के तालु और कण्ठ में दाह होता है और निरन्तर वह सूखता जाता है। रोगी का मुँह और कण्ठ कफ से संलिप्त रहता है। उसके गले से घुरघुराती हुई ध्वनि निकलती है। उस काल में रोगी स्वयं में सभी विरूद्ध आचरणों से प्रभावित हो उठता है। अतः वह उसकी ओर उन्मुख हो जाता है, जिससे अन्य सभी लक्षणों 1

1. च0चि0अ0 16, अ0हृ0नि0अ05

की उत्पत्ति हो जाती है। इससे रोगी मृत्यु को ही प्राप्त होता है। वैसी स्थिति में रोगी को सब ओर धुएँ के समान ही दिखायी देता है और सभी कफ जन्य लक्षण उसमें प्रकट हो उठते हैं।

इस क्षयरोग से बचना बड़ा ही कष्टसाध्य है। यदि सभी लक्षणों से युक्त होकर यह प्राणी पर आक्रमण करता है तो रोगी की जीवन रक्षा असम्भव हो जाती है। अतः अल्प लक्षणों के दिखायी देते ही इस रोग को शरीर से दूर करने हेतु विधिवत् चिकित्सा करनी चाहिए।

अरोचक, वमन आदि रोगों का निदान :-

जब वात, पित्त तथा कफजन्य दोष जिह्वा और हृदय या मन का आश्रय लेते हैं, तब प्राणी के शरीर में आरोचकरोग[1] उत्पन्न होता है।

यह रोग वातजन्य, पित्तजन्य तथा कफजन्य इन तीन रूपों के अतिरिक्त सन्निपातजन्य और मनःसंतापजन्य भी होता है। इस रोग के पांच प्रकार हैं। यथा- वातज, पित्तज, कफज, सन्निपातज और मनः संतापज वात आदि दोषों से होने वाली अरूचि में रोगी का मुख क्रमशः वायु में कसैला, पित्त में तिक्त, कफ में मीठा या माधुर्ययुक्त, सन्निपात में विकृतरस तथा शोक दुःखादि में दोषानुसार स्वादवाला[2] हो जाता है। इस रोग में रोगी को किसी द्रव्य विशेष का आस्वाद नहीं प्राप्त होता है। शोक, क्रोध आदि में मन की जैसी स्थिति होती है, उसी प्रकार उसकी भोजन आदि ग्रहण करने की अभिरूचि होती है। जब मन शोकादि के कारण खिन्न रहता है तो भोजन के प्रति अरूचि के कारण उसे अन्नादि ग्रहण करने की अनिच्छा हो जाती है। इस रोग में अग्निदुष्ट ही प्रधान कारण है।

छर्दि[3] अर्थात् वमन रोग पांच प्रकार का होता है- वातज, पित्तज, कफज, त्रिदोषज तथा अनभिप्रेत (इच्छा के विपरीत) दुष्ट पदार्थो के ग्रहण करने से पाँचवी छर्दि होती है। सम्पूर्ण प्रकार के वमन रोग में उदान वायु प्रकुपित होकर सभी प्रकार के अधिकृत दोषों को उद्दीप्त करता है, जिसके फलस्वरूप क्रमशः शीघ्रातिशीघ्र रोगी को कष्ट होता है, मुख लवणयुक्त रहता है तथा उससे पानी छूटता है और धीरे-धीरे आहार-व्यवहार के प्रति अरूचि हो जाती है। इस रोग में रोगी की नाभि तथा पृष्ठ प्रदेश में वेदना होने लगती है। रोगी के पार्श्व भाग में पीड़ा होती है जिसके कारण पेट में अवस्थित अन्न ऊपर की ओर पक्वाशय से निकलने लगता है। अर्थात् रोगी की वमन इच्छा होती है। अन्ततोगत्वा रोगी के मुह से कषाय और फेनयुक्त

1. च0चि0अ0 8, सु0उ0सं0अ0 47
2. अ0हृ0नि0अ0 5, च0चि0 अ0 26
3. च0चि0अ0 23, सु0उ0तं0 अ0 49, गरुड पुराण अ0 153

थोड़ा-थोड़ा करके वमन होता है।

इस वातजन्य वमन रोग में अत्यन्त कष्टसाध्य पीड़ा के साथ रोगी के तेज दर्द होने के कारण चिल्लाना पड़ता है। उसको खाँसी आती है, उसके मुख में शोथ होता है और उसकी वाणी में स्वरभंग होने लगता है। पित्तजन्य वमन रोग होने पर रोगी को क्षार से युक्त जल के समान धूम्र, रहित, या पित्त वर्ण वाले पित्त का वमन होता है अथवा रस से युक्त अम्ल, कटु, तिक्त पित्त उसके मुँह से निकलता है। उसके शरीर में तृष्णा, मूर्च्छा, संताप तथा अग्नि के समान दाह का प्रकोप होता है।

कफजन्य वमन रोग के होने से रोगी में स्निग्ध, घनीभूत, पीत तथा मधु (शहद) के समान मधुर श्लेष्मा (कफ) का उदय होता है। यह कफ लवण रूप से भी युक्त हो जाता है। इस कफ दोष के कारण उत्पन्न वमन के कष्ट से रोगी को भयवश रोमांच हो जाता है इस रोग में रोगी के मुख में शोथ हो जाता है। उसके मुख में मिठास भरी रहती है, उसके नेत्रों में तन्द्रा छायी रहती है, उसके हृदय में कष्ट होता है और उसे खाँसी आती है।

सन्निपातिक वमन रोग में सभी दोषों के लक्षण दिखायी देते हैं। ऐसी अवस्था में उसकी चिकित्सा नहीं करनी चाहिए। ऐसे रोगी को देखना सुनना आदि कुछ अच्छा नहीं लगता है।

वातादि[1] के प्रकुपित होने पर ही उदर भाग में कृमिजन्य और अन्नजन्य वमन रोग भी उत्पन्न होता है। कृमिजन्य छर्दि रोग में शरीर में शूल, कम्पन, मिचली तथा हृल्लास (हृदय की धड़कन) के उपद्रव की उत्पत्ति विशेष रूप से हो जाती है।

हृदय[2] को सामान्यतः सभी रोगों से रूग्ण बनाने वाले प्रतीक दोष वात, पित्त, कफ तथा सन्निपात के साथ कृमि दोष भी हैं। जिसके कारण हृदय में वातज, पित्तज, कफज, सन्निपातज, और कृमिज ये पाँच प्रकार के रोग माने गये हैं।

वातदोष के कारण वातज हृदयरोगी को अपने हृदय में तीव्र शूल का अनुभव होता है, सुई के चुभने और फटने की सी पीड़ा होती है। दोष के कुप्रभाव से हृदय में उठी हुई असह्य वेदना से व्यथित होकर रोगी रोता रहता है। यह वातज दोष हृदय को विदीर्ण कर देता है। उसके दुष्प्रभाव से शरीर पर शुष्कता छायी रहती है। रोगी दुःख-सुख की अनुभूति में स्तब्ध (अवाक) बना रहता है। स्वयं में उसे शून्यता की अनुभूति होती है। मन में भ्रम की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। अकस्मात् उसमें दीनता, शोक, भय, शब्द श्रवण में असहिष्णुता, कम्पन मोह, श्वासरोध तथा अल्पनिद्रा के लक्षण भी उत्पन्न हो जाते हैं।

---

1. च0चि0अ0 20, अ0हृ0नि0अ0 5

2. च0चि0अ0 26, सु0उ0 43, च0चि0अ0 43

पित्तदोष[1] से हृदयरोग को तृष्णा, थकान, दाह, स्वेद, अम्ल, उद्गार, क्लम (थकान), अम्लपित्तात्मक, वमन, धूम्रदर्शन और ज्वर होता है। कफजन्य होने से हृदय में स्तब्धता तथा हृदय के अन्दर पत्थर के समान भारीपन हो जाता है। इन दोषों के अतिरिक्त ऐसे रोगी को खाँसी, अस्थि, पीड़ा, थूक, निद्रा, आलस्य, अरूचि और ज्वर् का भी उपद्रव होता है।

हृदय रोग में जब उपर्युक्त तीनों दोषों के लक्षण शरीर में प्रकट हो उठते हैं तो वह सन्निपातज हृदय रोग हो जाता है। कृमिजन्य हृदयरोग में रोगी के नेत्रों का वर्ण काला हो जाता है। उसके नेत्रों के सामने अन्धकार छाया रहता है। उसको हृल्लास, शोथ, खुजलाहट तथा मुँह से कफ आता है। इस रोग में रोगी का हृदय ऐसा असह्य पीड़ा से व्यथित होता है जैसा वह आरे से चीरा जा रहा हो। यह रोग बड़ा भयंकर एवं शीघ्र प्राणघातक होता है, इसलिए इस रोग की शीघ्र चिकित्सा करनी चाहिए।

वात, पित्त, कफ, सन्निपात, रसक्षय तथा बल की अल्पता और उपसर्ग – इस प्रकार तृषा (तृष्णा या तृषारोग) छः प्रकार का होता है (उनके नाम हैं – वातज, पित्तज, कफज, सन्निपातज, बल (रस), – क्षयज तथा उपसर्गज) इस प्रकार के सब तृषारोगों के द्वारा रोगी के शरीर की धातु (शक्ति) का शोषण होने से चक्कर, कम्पन, ताप, हृदाह, मोह तथा मूर्च्छा का उपद्रव होता है। इस रोग में जिह्वा के मूल भाग कण्ठ और तालु में संचार करने वाली जलवाही शिराओं को शुष्क बनाकर तृष्णा (प्यास) उत्पन्न होती है।

इस तृषा रोग में मुखशोष, जल से अतृप्त, अन्न के प्रति घृणा, स्वरभंग तथा कण्ठ–ओष्ठ, तालु की कर्कशता के कारण जिह्वा निकालने में रोगी को कष्ट होता है। वह असह्य वेदना के कारण प्रलाप करता है, उसका चित्त स्थिर नहीं रहता तथा मन में अनेक प्रकार के उद्गार उठते हैं। वायु प्रकोप के कारण उत्पन्न तृषा से शरीर में कृशता और दीनता आ जाती है। सिर में शंखोद्भेद असह्य पीड़ा और भ्रम उत्पन्न होता है। पित्रदोष के कारण तृषा रोगी मन्द–ज्ञान की क्षमता से रहित, श्रवण शक्ति से निर्बल निद्राहीन तथा अन्य शारीरिक क्षमताओं के ह्रासोन्मुख होने से बलहीन हो जाता है। उसको शीतलता का अनुभव होता है और मुख में अम्लयुक्त फेन निकला करता है।

पित्तज तृषारोग में रोगी के मुख में तिक्तता बनी रहती है और मूर्च्छा का भी प्रकोप होता है। रोगी के नेत्र रक्तवर्ण के हो जाते है, उसके मुख में निरन्तर शुष्कता बनी रहती है। शरीर में दाह रहता है और मुँह से अत्यन्त धूमासित वायु छूटती है।

कफज तृषारोग में वायु प्रकुपित हो उठती है। उसके कुप्रभाव से अन्तःस्थ स्रोत कफ मुक्त हो जाता है और उसके बाद वह उसमें पंकवत् सूख जाता है। उसका कण्ठभाग कांटो से

1. च०चि० अ० 26, सु०उ०अ० 43

चुभते हुए के समान व्यथित होता है। रोगी में निद्रा छायी रहती है और उसका मुख सदैव मधुर (मीठा) बना रहता है। ऐसा रोगी पेट फूलने, सिर पीड़ा, जड़ता शुष्कता, वमन, अरूचि, आलस्य तथा अग्निमान्द्य के दोष से युक्त होता है।

जिस तृषा[1] रोग में तीनों दोषों के मिले हुए लक्षण पाये जाते हैं। वह त्रिदोष से उत्पन्न होती है। इस रोग में आँव की उत्पत्ति के कारण रक्तवाही स्रोत का अवरोध होता है। जिसके कुप्रभाव से वात-पित्त दोष शरीर में उत्पन्न हो जाता है। उससे रोगी के शरीर में उष्णता बढ़ जाती है जिसके कारण शीतल जल प्राप्त करने की अभिलाषिणी तृष्णा का प्रादुर्भाव होता है अर्थात् रोगी इस काल में प्यास से बेचैन हो उठता है। उसी उष्णता के कारण शरीर में प्रविष्ट हुआ जल जब ऊपरी कोष्ठ में जाता है, तब उसे पित्तजा नामक तृष्णा की उत्पत्ति होती है। अत्यधिक जल पीने से जो तृष्णा शान्त नहीं होती, अपितु तीव्रगति से बढ़ती ही जाती है, वह शरीर के स्निग्ध अंश को जला देने वाली होती है। उसको स्नेह पाकजा, अथवा पित्तजा नाम की तृष्णा कहा गया है।

स्निग्ध, कटु अम्ल तथा लवण रस संश्लिष्ट भोजन करने से कफोद्भव तृष्णा का जन्म होता है। जब तृष्णा शरीर के रस को विनष्ट करने वाले उपर्युक्त लक्षण से समन्वित हो जाती है, तब वह क्षयात्मिका तृष्णा कहलाती है। जो शोष-मोह-ज्वर आदि अन्य दीर्घकाल तक रहने वाले रोगों के कारण शरीर में तीव्र तृष्णा उत्पन्न होती है, उसे उपसर्गात्मिका तृष्णा के नाम से स्वीकार किया गया है।

मदात्यय निदान :-

मद्य, तीक्ष्ण, उष्ण, रूक्ष, सूक्ष्म, अम्ल, व्यवायी, आशुकारी, लघु, विकाशी तथा विशद होता है। ओज इसके विपरीत होता है अर्थात् ओज मन्द, शीत, मधुर, सान्द्र, स्निग्ध, स्थूल, चिरकारी, गुरू और पिच्छल होता है। तीक्ष्णादि दस गुण मद्य में होता है और यही गुण विष में भी होते हैं, जो प्राणियों के चित्त में हलचल मचाने वाले तथा प्राणघातक होते हैं। प्रथम मद में मद्य अपने तीक्ष्णादि दस गुणों के ओज से मन्दादि दस गुणों को संक्षुभित करके चित्त में विकार उत्पन्न कर देता है। दूसरा मद प्रमाद का स्थान है।1 इसमें दुष्ट विकल्पों से उपहृत मनुष्य कर्त्तव्याकर्त्तव्य से अज्ञान होकर मद्य के द्वितीय वेग को अधिक सुखकर मानता है। रजोगुणी या तमोगुणी मनुष्य मध्यम और उत्तम की संधि अर्थात् द्वितीय और तृतीय मद की मध्यावस्था में पहुँचकर अंकुशरहित मदोन्मत निरंकुश हाथी की तरह कुछ भी नहीं करता। यह मद्यावस्था निन्दनीय मनुष्यों तथा दुःशीलों को भूमि अर्थात् एकमात्र मदिरा ही अनेक मुखवाली दुर्गति के आचार्य हैं। मद की तीसरी अवस्था में पहुंचकर मनुष्य निश्चेष्ट होता हुआ मौन

1. च0चि0अ022, सु0उ0सं0अ0 48, अ0हृ0जि0अ0 5, गरुड पुराण अ0 154

रहकर सोया रहता है। वह पापात्मा मरने से भी अधिक बुरी दशा में पहुँच जाता है। मद्य में आसक्त मनुष्य धर्म-अधर्म, सुख-दुःख, मान-अपमान, हित-अहित, शोक-मोह की अनुभूति से रहित हो जाता है। वह शोक मोह आदि से समन्वित रहता है। ऐसा प्राणी आनन्द, भ्रम और मूर्च्छा में सदैव विद्यमान होता है और अन्ततोगत्वा मिर्गी के रोगी के समान भूमि में गिरकर छटपटाता रहता है। जो व्यक्ति बलवान है, समुचित भोजन करते हैं, या यथाशक्ति प्रचुर मात्रा में भोजन करके पचा जाते हैं, उनमें मद नहीं होता है। यह मदात्ययरोग वात-पित्त तथा कफ के प्रकुपित होने के कारण उत्पन्न हुए अन्य सभी दोषों से होता है।

इस प्रकार वातिक, पैत्तिक, श्लैष्मिक और सन्निपातिक नाम से यह मदात्यय चार प्रकार का होता है। मोह, हृदयवेदना, पुरीषभेद, निरन्तर, तृषा, कफ, पित्तज्वर, अरूचि, हृदय में बिबन्धता, अन्धकार, खाँसी, श्वास, निद्रा न आना, पसीना, विष्टम्भता, सूजन, चित्तविभ्रम, स्वप्नदर्शन से घबड़ाहट, मना करने पर बोलते रहना आदि - ये सब मदात्यय के सामान्य लक्षण हैं।

पित्तदोष के कारण महाशय होने पर प्राणी, दाह-ज्वर, स्वेद, मोह प्यास, अतिसा और विभ्रम के कारण उपद्रव से ग्रस्त होता है। श्लेष्मज मदात्य रोग में रोगी, वमन, हल्लास (धड़कन), निद्रा तथा अग्निमान्ध के कारण उदर की गुरूता के दोष से संत्रस्त रहता है। सन्निपातिक दोष वाले मदात्यय मे पूर्वकथित सभी लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। यह सब जानकर जिस प्राणी की अभिरूचि सहसा मद्यपान में हो जाती है तो उसमें ध्वंसक और शोषक- ये वातज, व्याधियाँ हो जाती हैं। ये कष्ट साध्य होती हैं और विशेषकर दुर्बल मनुष्य को होती हैं।

ध्वंसक में कफ की प्रवृत्ति, कष्टशोष, अतिनिद्रा, शब्द का न सहना होते हैं, विक्षय (शोषक) - रोग में चित्त विक्षेप, अंग में पीड़ा, हृदय तथा कण्ठ में रोग, सम्मोह, खाँसी, तृष्णा, वमन तथा ज्वर होते हैं। अतः जो व्यक्ति जितेन्द्रिय हो, वह इन सभी बातों पर विधिवत् पहले विचार करे। तदनन्तर वह मद्य के दोष से अपने को पूरा कर ले। इसी में उसका कल्याण है। मद्य से दूर रहने वाला शारीरिक तथा उन्माद आदि मानसिक विकारों से कभी नष्ट नहीं पाता है।

रजोगुण, तमोगुण की प्रधानता वाले मोहजन्य दोष तथा असंयमित आहार करने वाले प्राणी को मद, मूर्च्छा और सन्यास नामक तीन प्रकार के रोग होते हैं। यथा- शरीर में इनका प्रयोग होने पर ये तीनों रोग रस, रक्त और चेतना के ही स्रोतों के निरोध हो जाने से होते हैं। इनमें मद से मूर्च्छा और मूर्च्छा से सन्यास उत्तरोत्तर बलवान् होते हैं।

मदात्यय रोग मद, वात, पित्त, कफ तथा सन्निपात के दोषों से तो होता ही है, किन्तु रक्त मद्य और विष के कारण भी यह शरीर में उत्पन्न हो जाता है। शरीर में शक्ति की अनन्तता न होने के कारण भी यह शरीर में उत्पन्न हो जाता है। शरीर में शक्ति की अनन्तता न होने के कारण जब शक्ति क्षीण हो जाती है तो प्राणी अपनी शक्ति का आभास मात्र करता है। उसकी चित्तवृत्तियाँ चञ्चल हो उठती हैं। वह छल, कपट के व्यवहार से घिरा रहता है।

वातज मद्य से मनुष्य का शरीर रूक्ष-श्याम और अरूण-वर्ण का हो जाता है। पित्तज मद्य से प्राणी क्रोधी हो उठता है। उसके शरीर का वर्ण लाल और पीला हो जाता है। वह कलह में अभिरूचि लेता है। कफोत्पादक मदात्यय में जब रोगी सोता है तो उसे स्वप्न दिखाई देते हैं। स्वप्न में असम्बद्ध अनर्गल प्रलाप करता है। उसकी चित्तवृत्तियाँ किसी विशेष ध्यान में एकाग्र होकर अनुरक्त रहती हैं। सभी दोषों के कारण उत्पन्न होने वाले सन्निपातजनित मद में प्राणी का वर्ण रक्त हो जाता है और उसके शरीर में स्तम्भन होने लगता है, जिसके कारण उसके अंग-अंग शिथिल हो जाते हैं।

इस मदात्यय रोग में तो प्राणी के शरीर में पित्तदोष सर्वप्रथम ही प्रकट हो जाता है। उसकी समस्त शारीरिक चेष्टाएँ विकृत हो जाती हैं। उसे तृष्णा, स्वरभंग तथा अज्ञान की अवस्था प्राप्त होती है। उसके सद्-ज्ञान नहीं रह जाता है। विषज मद में शरीर में कम्पन होता है। वह गहन निद्रा में सोता है और उसको इस मदात्यय रोग में अत्यधिक थकान की अनुभूति होती है।

मनुष्य[1] को शरीर के अन्दर विद्यमान रक्त, मज्जादि में उभरे हुए वात-पित्त तथा कफजनित दोषों के लक्षणों को देखकर यथापेक्षित वातज, पित्तज, कफज या सन्निपातज मदात्यय का निर्धारण करना चाहिए और उसी रोग के अनुसार चिकित्सा भी करनी चाहिए। यथा- वातज, मदात्यय (मूर्च्छा) होने पर सामान्यतः रोगी आकाश को लाल-नीला, अथवा काला रंग देखता हुआ अपने को अन्धकार में पहुँचा हुआ मूर्च्छित मानता है। शीघ्र मूर्च्छा टूटने पर वह हृदय की पीड़ा-कम्पन तथा भ्रम से संतप्त रहता है।

जो व्यक्ति वातिक मदात्ययदोष से ग्रस्त होता है उसे खाँसी आती है और कान्ति पीली एवं लाल रंग की हो जाती है। वह अधिकतर मूर्च्छा में ही रहता है। पित्तात्मक दोष में सामान्यतः परिणति में रोगी को आकाश रक्त अथवा पीत वर्ण का प्रतीत होता है और अन्त में उसे अन्धकार-ही-अन्धकार दिखायी देता है। उस समय उसको विशेष प्रकार का ज्ञान प्राप्त होता है। उसके शरीर से पसीना निकलता है। वह शरीर में उत्पन्न हुए दाह, तृष्णा तथा ताप

1. अ0हृ0नि0अ0 6, गरूण पुराण अ0 155

से पीड़ित हो उठता है। कफ से संश्लिष्ट होने पर रोगी को एक छिन्न-भिन्न होती हुई नीली-पीली आभा दिखायी देती है। उसके लाल, पीले और नीले नेत्रों में व्याकुलता छायी रहती है। कफज मूर्च्छा में रोगी आकाश को मेघों से आच्छन्न देखता हुआ मूर्च्छित हो जाता है। उसे गहन निद्रा आती है, इसलिए उसकी नींद बहुत देर के बाद टूटती है। होश में आने पर उसके हृदय में धड़कन होती है और प्राण सूखते हुए प्रतीत होते हैं। उक्त दोष के कारण उत्पन्न हुए भारीपन और आलस्य के वशीभूत हुए अंगों से उसको ऐसी अनुभूति होती है, जैसे शरीर राजधर्म से अनुप्राणित पुरूषों (सिपाहियों) के द्वारा प्रताड़ित किया गया है। उन सभी दोषों का प्रभाव जब एक साथ शरीर पर पड़ता है तो सन्निपात की अवस्था आ जाती है। उस काल के मदात्यय में प्राणी का सम्पूर्ण शरीर (अपस्मार) मिर्गी[1] के रोग से ग्रस्त हुए के समान पृथ्वी पर गिर पड़ता है। अपस्मार में रोगी की चेष्टा वीभत्स हो जाती है और इसमें नहीं होती है।

वातादि दोषों के वेग समाप्त होने के कारण उत्पन्न मदात्यय की मूर्च्छा और अन्य उपद्रवों से ग्रस्त प्राणियों के कष्टों का शमन बिना औषधिक उपचार के ही संयमित रहने से स्वयमेव हो जाता है।

परन्तु सन्यास का रोग औषध के बिना शान्त नहीं होता। इस मदात्यकाल में वाचिक, शारीरिक तथ मानसिक चेष्टाओं के दबाव में निर्बल प्राणी स्वयं प्राणाघात ही करते हैं। जिससे वे मरे हुए के समान काष्ठवत् हो जाते हैं यदि उनकी चिकित्सा शीघ्र नहीं की जाती है तो वे अविलम्ब ही मर जाते हैं।

ग्राहादिक हिंसक जलचरों से भरे हुए अथाह जल राशि वाले समुद्र के समान इस सन्यास मदात्यरोग के सागर में डूब रहे प्राणी की शीघ्र ही रक्षा करनी चाहिए। उसमें मद, मान, दोष, संतोष आदि विभिन्न प्रवृत्तियाँ होती हैं। उन्हीं प्रवृत्तियों के द्वारा वह यहाँ-वहाँ से उचित और अनुचित का विचार करके यथापेक्षित कार्य में सामान्य विधि का प्रयोग करता है, किन्तु अयुक्तिपूर्वक मद्यपान से प्रभवित दशा में ऐसा सम्भव नहीं है। उसे कर्त्तव्याकर्त्तव्य का ज्ञान नष्ट हो जाता है।

अर्श (बवासीर)-निदान :-

प्राणियों के मांस में जो कीलक सदा उत्पन्न होते हैं, वे कीलक गुदा के द्वार का अवरोध करते हैं, इसलिए उन्हें अर्श कहा जाता है। वात-पित्त तथा कफजन्य दोष शरीर में स्थित त्वक्, मांस और मेदा को दूषित करके अपानवायु के मार्ग में अनेक आकृतियों वाले मांसाकुरों को जन्म देता है, उन अंकुरों को अर्श माना गया है। जो अर्श शरीर के साथ ही

1. सु0उ0स0अ0 46, अ0हृ0नि0 अ0 6

उत्पन्न होता है, उसे 'सहज' जो जन्म लेने के बाद उत्पन्न होता है, उसे 'जन्मान्तरोत्थान' कहते हैं। इस दृष्टि से अर्श के दो भेद हुए। प्रकारान्तर से इसके दो भेद और हैं - एक शुष्क (बादी बवासीर) और दूसरा है स्रावी (खूनी बवासीर) गुदा नामक स्थान का आश्रय लेकर अवस्थित रहने वाली शुष्क अग्रभाग से युक्त परस्पर भिन्न नाड़ियों का स्थान है। गुदा भाग का परिमाण साढ़े पाँच अंगुल[1] का होता है। उसी में नीचे की ओर साढ़े तीन अंगुल के भाग में ये रोग स्थित रहते हैं। उनमें एक नाड़ी वालों को जन्म देने वाली शक्ति का संचार करती है और एक नाड़ी आंत के मध्यभाग से होकर नीचे की ओर आती है। यही आमाशय से निकलने वाले मल को लाकर गुदामार्ग से बाहर करती है। उसी विसर्जन कार्य के कारण उसे विसर्जनी नाड़ी के नाम से अभिहित किया गया है। उस विसर्जनी नाड़ी के वाह्यभाग अर्थात् गुदा के मुख द्वार के बाह्य भाग में एक अंगुल का जो स्थान, उसी में इन मांसाकुरो का जन्म होता है। उसके बाद डेढ़ अंगुल के परिमाण भाग में गुदौष्ठ के परे रोमवती त्वचा है, जिस पर रोग नहीं उत्पन्न होत हैं वहीं पर सहोत्थ अर्श[2] का कारण विद्यमान रहता है, जो बाल्यकाल में उपतप्त अर्थात् सहोत्थ दोष को उत्पन्न करने की सामर्थ्य से युक्त हो जाता है।

प्राणियों में इस अर्श रोग का बीज तो माता-पिता के कुपथ्य से उत्पन्न होता है। देवताओं के प्रकुपित होने पर तो यही दूसरे रूप से सन्निपातिक दोष का भी बीज बन जाता है। प्राणियों में इस प्रकार के जो कुल (वंश)- क्रमागम रोग होते हैं, वे सभी असाध्य माने गये हैं। सहजोत्थ अर्श तो विशेष रूप से देखने में दुस्साध्य अन्तर्मुखी, पाण्डुवर्ण, सन्निहित और भयंकर उपद्रव मचाने में समर्थ होते हैं। शरीर के वात, पित्त तथा सन्निपात दोष के अनुसार इनको वातिक, पैत्तिक, श्लेष्मिक, संसर्गज, त्रिदोषज तथा रक्तज रूप में नियोजित किया जा सकता है। अर्थात् इन सहजोत्थ अर्श दोष के यही छः प्रकार हैं।

इनमें से शुष्क अर्श वात और कफ से होते हैं और आर्द्र अर्श रक्त एवं पित्त से होते हैं। उसके दोष के प्रकोप का कारण तो पहले ही कहा जा चुका है। इसके अतिरिक्त उदरस्थ तथा असामयिक जलपान, देश कालादि के विपरीत कठिन और अल्पाहार ग्रहण करने के कारण भी यह उत्पन्न होता है। वस्ति, नेत्र, गले और ओष्ठादि के भागों में घट्ट-रगड़ (घेठा) अधिक शीतल जल के संस्पर्श तथा बैठकर लगाम आदि से साधे जाने वाले वाहन (अश्वादि) की सवारी करने से भी इस रोग की उत्पत्ति होती है। यह रोग हठात् मल-मूत्रादि के वेग को धारण करने और निकालने से भी हो सकता है। ज्वर गुल्म, अतिसार, ग्रहणी रोग, शोथ तथा पाण्डु रोग के प्रभाव एवं दौर्बल्यकार आहार आदि के सेवन से अन्य उपद्रव और विषम

1. प्रवाहिणी, संवरणी और विसर्जनी
2. च0चि0अ0 14, सु0नि0अ02, अ0हृ0नि0अ07

चेष्टाओं से भी इसका जन्म होता है। स्त्रियों में अपक्व गर्भपात, गर्भवृद्धि तथा तज्जन्य पीड़ा के कारण इस उपद्रव की उत्पत्ति होती है।

इन्हीं सब कारणों से अपानवायु मलस्थान के भाग में कुपित हो जाता है। तदनन्तर वह गुदा भाग का शुद्ध कार्य करने वाली वलियों में अपना कुप्रभाव छोड़ता हुआ अर्श के उन कीलकों के रूपों में जन्म लेता है।

इस रोग का पूर्व लक्षण अग्निमान्द्य, विष्टम्भ, पैरों में पीड़ा, पिण्डुलिका कष्ट, भ्रम शरीर में शिथिलता, नेत्र शोथ, मलभेद तथा मलग्रह है। इस रोग में शरीर के अग्रभाग से निश्चेष्ट वायु नाभिभाग से नीचे की ओर संचरण करता हुआ पीड़ितकर रक्तसंश्रित होकर बड़ी कठिनाई से बाहर निकलता है। इस रोग में आंत भाग से अव्यक्त गुड़गुड़ शब्द होता है। क्षार सहित उद्गार अतिशय मूत्र, अल्पविष्ठा (मल), घृणा, धूमायित डकार, सिर-पीठ वक्षः स्थल में पीड़ा, आलस्य तथा धातुक्षरण का उपद्रव होता है।

इसमें इन्द्रिय-सुख की चञ्चलता एवं दुःख होने के कारण रोगी में क्रोधी की मात्रा बढ़ जाती है। इस रोग के प्रभाव से रोगी में विष्ठा-त्याग की आशंका बनी रहती है। उसके पेट में संग्रहणी, शोथ, पाण्डु तथा गुल्म नामक रोगों का भी उपद्रव होता है।

इतना ही नहीं अर्श रोग के होने से प्राणियों में ये रोग भली प्रकार से बढ़ते ही जाते हैं। उन अर्श कीलकों से गुदामार्ग अवरूद्ध होने के कारण अपानवायु भी क्रुद्ध हो उठता है, जिसके फलस्वरूप वह शरीर की समस्त इन्द्रियों में स्थित अन्य समानादिक भेदवाले वायु-प्रभेदों को क्षुब्ध एवं विचलित कर देता है। वह वायु, मूत्र, मल, पित्त तथा कफ, रस रक्तादि को संक्षुब्ध करता हुआ जठराग्नि को मन्द बना देता है। उससे प्रायः सभी प्रकार के अर्श रोग[1] उत्पन्न हो जाते हैं।

शरीर में इन सभी अर्श भेदों का प्रकोप होने पर रोगी के शरीर में अत्यन्त दुर्बलता, उत्साहहीनता, दैन्य तथा कान्तिहीनता आ जाती है। वह रोगी सार रहित वृक्ष के समान सारहीन और छायारहित हो जाता है मर्मस्थल को पीड़ित करने वाले अत्यन्त कष्टसाध्य रक्त रोगों का उपद्रव हो जाने से रोगी एक दिन यक्ष्मा के रोग से भी ग्रस्त हो उठता है। उसके शरीर में कास, पिपासा, मुखविकृति, श्वास, पीनस, स्वेद, अंग-भंग, वमन, हिचकी, शोथ, ज्वर नपुंसकता, बधिरता, स्तब्धता तथा शर्करा एवं पथरी रोग हो जाते हैं। वह क्षीणकाय, स्वरभंग, चिन्तातुर, अरुचि, बारम्बार थूकने वाला और अनिच्छित स्वभाव का हो जाता है। उसके सभी पर्व तथा अस्थिभाग में पीड़ा होती है। उसका हृदय, नाभि, वायु और वंक्षण भाग शूल से ग्रस्त हो उठता है। उसके गुदामार्ग से चावल के धोवन के समान द्रव निकलता है। जो वर्ण में

1. च0चि0अ0 8, अ0हृ0नि0अ07

बगुले के उदर भाग के समान होता है। यह मल कभी-कभी सूखा हुआ, मोती के अग्रभाग की कान्ति से सम्पन्न, पके हुए आम के समान पीत, ह़रा, लाल, पाण्डु, हल्दिया पिच्छिल वर्ण का होता है।

वात-प्रकोप के कारण रोगी के गुदाभग में जो मांसांकुर निकलते हैं, उनके बीच भागों से अपानवायु अधिक मात्रा में निकलता है, वे सूखे हुए होते हैं, उनमें चिमचिमाहट या चुनचुनाहट होती है, उनका रंग गाढ़े अंगार के समान लाल होता है। वे पीड़ा के कारण रोगी को स्तब्ध बना देते हैं। उन सभी अंकुरों में विषमता होती है और उनका स्वभाव बड़ा ही कठोर होता है। इतना ही नहीं, उनमें विशेष समानता भी प्राप्त होती है। वे वक्र और तीक्ष्ण तथा फटे हुए मुख वाले होते हैं।

वातजन्य अर्श के सभी मांसांकुरों की आकृतियाँ बिम्ब, खजूर, बेर तथा कपास के फलों की भांति होती है। कुछ अंकुर कदम्ब-पुष्प और कुछ सरसों के फूल के समान आभा वाले होते हैं।

इस रोग के होने पर रोगी के सिर, पार्श्व, स्कन्ध, जंघा, अरू और वंक्षण भाग में अधिक पीड़ा होती है। रोगी को हिचकी, उद्‌गार, विष्टम्भ, हृदय में पीड़ा तथा अनिच्छा का प्रकोप होता है। उसको खांसी आती है, श्वास फूलती है और अग्निमन्दता बढ़ जाती है। उसके कानों में ध्वनि गुञ्जरित होती रहती है। उसको सदैव भ्रम बना रहता है।

इस रोग में गाँठदार प्रवाहिका के लक्षणों से युक्त झागदार, पिच्छिलताविशिष्ट बहुत सा विष्ठा थोड़ा थोड़ा शब्द कर निकलता है। मलत्याग के समय अत्यन्त वेदना और शब्द होता है। रोगी की त्वचा काली पड़ जाती है। उसके मल-मूत्र में अवरोध बना रहता है। उसके नेत्र और मुख पर रोग का प्रभाव छाया रहता है। उसको गुल्म, प्लीहा, उदर अष्ठीला-सम्बन्धित विकारों के सहित हृल्लास (दिल में धड़कन) का भी रोग होता है।

जो पित्त प्रकोप के बाद अर्श सम्बन्धी अंकुर निकलते हैं, वे नीलवर्ण के समान मुख वाले तथा लाल-पीली और काली आभा से युक्त होते हैं। इन मांसाकुरों के अग्रभाग से पतला रक्तस्राव होता है। इनका आकार लम्बा कोमल और आर्द्र रहता है। इनकी लम्बी आकृतियाँ प्रायः शुक्रजिह्वा, यकृतखण्ड तथा जोंक के मुख की तरह होती है। इस अर्श रोग में रोगी के शरीर में दाह, शुष्कता, ज्वर, स्वेद, तृष्णा, मूर्च्छा, अरुचि एवं मोह का मल पड़ता है, जो प्रायः आंव और धातु से संलिष्ट रहता है। रोगी यव के समान कटि भाग वाला हो जाता है। उसके शरीर की त्वचा और नख आदि की कान्ति हरित, पीत तथा हल्दी की सी वर्ण वाली हो जाती है।

कफजनित विकार के कारण उत्पन्न होने वाले मांसाकुर पुष्ट मूलभाग से युक्त, सघन, मन्द वेदनाजन्य और श्वेतवर्ण के होते हैं। इनमें स्निग्धता, स्तब्धता और भारीपन होता है। ये मांसाकुर चिकने, नीले तथा कोमल होते हैं और इनमें खुजलाहट होती है। इन्हें छूने से सुख मालूम पड़ता है।

ये मांसाकुर बांस के निकले हुए अंकुर, कट्हल की गुठ्ली तथा गौ के स्तनों की आकृति में पाये जाते हैं। इस अर्श के ग्रस्त प्राणी के ऊरू भाग से ऊपर संधिस्थान, मलद्वार, वस्ति और नाभि प्रदेश में ऐसी पीड़ा होती है, जैसे इन स्थानों को कोई काट-काट्कर फेंक रहा हो।

रोगी, खाँसी, श्वास, हृल्लास, शुष्कता, अरूचि पीनस, मेहकृच्छ, सिरपीड़ा, जड़ता, वमन, शीत प्रकोप, क्षारोत्तेजन, नपुंसकता, अग्निमान्द्य तथा अतिसार आदि के विकारों से युक्त हो जाता है।

ऐसे रोगी को वसा के समान प्रतीत होने वाले कफ के साथ रक्त मिश्रित मल पड़ता है। किन्तु रक्त का स्राव नहीं होता और न कष्ट ही होता है। रोगी के चर्म आदि श्वेत तथा स्निग्ध हो जाते हैं।

जिन लोगों में इस रोग का त्रिदोषजन्य प्रकोप होता है, उनमें सभी संसृष्ट लक्षणों का उपद्रव होता है। रक्ताधिक्य अर्श होने से मासांकुर के लक्षण पित्तज अर्श के समान हो जाते हैं। इसमें रक्त से भरे हुए वट की वरोहक सदृश, लाल गुञ्जाफल और मूंगे के समान रक्त होते हैं। उन लाल अंकुरो पर जब गाढ़े मल का दबाव पड़ता है, तब वे अत्यधिक मात्रा में विकृत गाढ़े रक्त का प्रवाह करते हैं। इस समय रोगी को पीड़ा भी अधिक होती है। अधिक मात्रा में रक्त के गिर जाने से रोगी मेढ्क के समान पीला पड़ जाता है। उस दुर्बलता में उत्पन्न हुए अनेक कष्टों से पीड़ित रहता है। वह वर्ण, बल उत्साह और ओज सभी से रहित हो जाता है। उसकी इन्द्रियाँ, कलुषित हो जाती हैं। मूंग कोदो, जम्बीर (नीबू), ज्वार, करील और चना का आहार करने से उसके गुदा भाग में वायु कुपित हो उठ्ती है और बलपूर्वक वह अधोवर्ती विष्ठादि के स्रोतों को अवरूद्ध कर उनके मल-मूत्रादि को सुखाकर कष्टप्रद बना देती है। उसके कुप्रभाव से रोगी के कोख, पार्श्व, पीठ और हृदयभाग में भयंकर पीड़ा होती है। पेट में मल के रहने से हृदय में धड़कन होती है।, अधिक पीड़ा रहती है, वस्ति भाग में शूल होता है और गण्डस्थल में शोथ आ जाता है।

शरीर में जब वायु ऊर्ध्वगामी हो जाता है तो उसके कारण रोगी को वमन, अरूचि, ज्वर, हृदयरोग, संग्रहणी, मूत्रदोष, बहरापन, सिरपीड़ा, श्वास, चक्कर, खाँसी, पीनस, मनोविकार, तृष्णा, श्वास (कास), पित्त, गुल्म तथा उदरादि के रोग होते है, वे सभी वातज,

रोग हैं। इनका स्वभाव अत्यन्त कठोर और कष्टकारी होता है। वातदोष का यह प्रकोप ही दुर्नामा, मृत्यु तथा उदावर्त अर्थात् वायुगोला के नाम से स्वीकार किया गया है। इस वातदोष से पीड़ित कोष्ठ-भागों में ये रोग पूर्वोक्त कारणों के बिना भी उत्पन्न हो जाता है। सहज अर्श, जन्म धारण के पीछे त्रिदोष से उत्पन्न हुए अर्श और भीतर वाली बलि में उत्पन्न अर्श असाध्य होता है। परन्तु यदि अग्निबल और आयु शेष हो तथा सम्यक् चिकित्सा हो तो असाध्य रोग भी कष्टसाध्य हो जाते हैं।

गुदाभाग[1] की दूसरी बलि में जो अर्शांकुरों का समूह होता है, वह द्वन्द्वज अर्शांकुरों का समूह माना जाता है। इसकी तत्काल वर्ष भीतर ही चिकित्सा अपेक्षित होती है अन्यथा यह भी कष्टसाध्य हो जाता है। गुदाभाग की बाहरी बलि में त्रिदोषजन्य जो अर्शांकुर होते हैं, उनको सामान्य औषधि के उपचार से दूर किया जा सकता है, किन्तु अधिक समय बीत जाने पर वे भी कष्टसाध्य हो जाते हैं। ऐसा ही नाभि दोष के कारण उत्पन्न हुए अर्शांकुरों का स्वभाव माना गया है। जो अर्शांकुर गण्डस्थल (गुदा के भीतर) में होते हैं, उनका रूप पिच्छिल (फिसलाहट से युक्त) तथा कोमल होता है। व्यानवायु कफ को आभ्यान्तर भाग से निकलकर त्वचा के बाह्य प्रदेश पर अर्श के रूप में परिवर्तित कर देता है। वह कील के समान स्थिर तथा खर होता है। उसको विद्वानों ने चर्मकील (या मस्सा) के नाम से स्वीकार किया है। वातज दोष के कारण उत्पन्न चर्मकील (मस्सा) अत्यन्त कठोर सुई की नोक के समान तीक्ष्ण वेदनावाला और खुरदुरापनयुक्त होता है। पित्रदोष से उत्पन्न हुआ कीलक कृष्ण, लाल मुख भाग वाला माना गया है और जो कफजनित होता है, उसमें स्निग्धता, ग्रथिता तथा त्वचा वर्णता होती है।

बुद्धिमान[2] व्यक्ति के अर्शरोग होने पर यथाशीघ्र उसके उपशमन का प्रयत्नपूर्वक प्रयास करना चाहिए। क्योंकि वे शान्त नहीं होने पर शीघ्रातिशीघ्र शरीर के गुह्य प्रदेश तथा उदरभाग में बद्धगुदोदर आदि अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न कर देते हैं।

अतिसार-ग्रहणी-निदान :-

वात-पित्त-कफ और सन्निपात दोष के कुपित होने से ही इन रोगों की उत्पत्ति होती है। भय तथा शोक के कारण भी ये प्राणियों के शरीर में उत्पन्न हो सकते हैं। अतः वातज, पित्तज, कफज, सन्निपातज, भयज तथा शोकज के रूप में इनके छः भेद होते हैं।

अतिसाररोग[3] अधिक जल पीने से होता है, इसके अतिरिक्त सूखे अंकुरित एवं कच्चे

1. सु0चि0अ046, अ0हृ0नि0अ07, गरूड पुराण अ0 156
2. च0चि0अ0 15, सु0नि0अ0 2, अ0हृ0निं0 अ0 7
3. च0चि0अ019, अ0हृ0नि0अ08, सु0उ0तं0 अ0 40

अन्न, तेल पदार्थ, वसा (चर्बी) और तिलकुट को अधिक खाने से भी यह उत्पन्न हो जाता है। मद्यपान, रूक्षाहार अधिकतम मात्रा में रस और तेल का सेवन तथा उदर जन्य कृमियों के प्रकोप से एवं वेगारोध से शरीर की वायु प्रकुपित हो उठती है। तदनन्तर वह अपानवायु के रूप में शरीर के अधोभाग में जाकर उस दोष का विस्तार कर जठराग्नि-शक्ति को ह्रासोन्मुखी बना देता है।

उस अग्नि की मन्दता के कारण शरीर में गया हुआ अंन्न-पिण्ड और पहले से स्थित पुरीष (मल) भस्म अथवा सूखने की अपेक्षा द्रवतादि के दोष में बदलकर अतिसार रोग के लक्षण को प्रकट करता है। उस रोग से प्रभावित होने वाले रोगी के हृदय, गुह्यभाग तथा आमाशयादि में पीड़ा होती है, शरीर में अवसाद होता है एवं पुरीष का निरोध और अपच होता है। शरीर पसीने से युक्त हो जाता है और कष्ट की उत्पत्ति होती है। वात दोष के कारण शरीर शिथिल पड़ जाता है, पाचनशक्ति सुचारू रूप से कार्य नहीं करती है तथा शरीर में विशेष प्रकार का ज्वर रहता है। उस दोष के कारण उदर में कुछ गुड़गुड़ाहट भी बनी रहती है। गुह्य भाग से बार-बार सूखा हुआ फेन से युक्त स्वच्छ ग्रथित, जलाइन्ध और पिच्छिल (कचड़ाहानि) मल के कष्ट के साथ होता है। इस रोग में मलद्वार शुष्क एवं विकृत होकर बाहर निंकल जाता है, मल निकलने में कष्ट होता है। उस कष्ट के कारण रोगी लम्बी श्वासें छोड़ता हुआ काँखता रहता है।

पित्त[1] दोष से रोगी को पीत-कृष्ण हल्दी तथा नवांकुर तृण वर्ण रक्त के सहित अत्यन्त दुर्गन्धयुक्त दस्त होता है। उसको तृष्णा, मूर्च्छा, स्वेद और दाह का प्रकोप भी होता है। कफजनित अतिसार रोग के होने पर गुहाभाग में दाहपाक शूल उठता है और संतापजनित कष्ट होता है। इस रोग में मन, द्रवयुक्त न होकर कठोर, भारी एवं घनीभूत रूप में गुदाभाग से बाहर निकलता है, वह पिच्छिल (कचड़ाहीन) रहता है। उसी के अनुसार वह बहुत ही कम या अधिक मात्रा में उदर के अन्दर विद्यमान मलस्रोत में पाया जाता है। मल निस्सारण के समय कष्ट के कारण रोगी को रोमांच, हर्ष, मिचली और क्लेश की अनुभूति होती है। शरीर के अन्दर भारीपन बना रहता है। ऐसे रोगी को दस्त होने के उपरान्त भी दस्त की अनुभूति बनी रहती है। जब वह वात-पित्त तथा कफ जन्य सभी दोषपूर्ण लक्षणों से युक्त हो जाता है अर्थात् रोगी के शरीर में सन्निपातजन्य अतिसार का प्रकोप जन्म ग्रहण कर लेता है तो रोगी उस समय उक्त समस्त वातादिक त्रिदोषों के लक्षण से समन्वित बन जाता है। भयवश चित्त के विक्षुब्ध होने पर स्थान-विशेष में पड़े हुए रोगी के उदर भाग का मल द्रवीभूत हो उठता है। तदन्तर उस द्रवपूर्ण मल को यथाशीघ्र वायु गुह्यमार्ग से बाहर निकाल देता है अर्थात्

1. सु0उ0अ04, अ0हृ0नि0अ08

भयवशात् रोगी में मलोत्सर्ग की इच्छा बलवती हो उठती है और अन्ततोगत्वा उसे पानी के समान मल होता है। वात तथा पित्तदोष से होने वाले अतिसार रोग के एक समान ही लक्षण बताये गये हैं, वैसे ही लक्षण शोकज अतिसार में उत्पन्न होते हैं।

संक्षिप्ततः अतिसार रोग के दो प्रकार हैं। उनमें प्रथम साम है और द्वितीय निराम है। साम अतिसार रोग में मल आँव के सहित होता है, किन्तु निराम तिसार में आँव दोषरहित मल निकलता है, उनमें एक सरक्त होता है और दूसरा बिना रक्त का होता है। साम अतिसार में मल बड़ा दुर्गन्धित होता है और जल में डालने से डूब जाता है। रोगी के पेट में गुड़गुड़ाहट, विष्टम्भ वेदना और मुख प्रसेक होता है। निराम के लक्षण साम से विपरीत होते हैं, कफजन्य होने के कारण पक्व होने पर भी मल जल में नहीं डूबता है। जो अतिसार में सावधानी नहीं करता उसे ग्रहणी रोग हो जाता है।

अग्निमान्द्यता को बढ़ाने वाले अत्यधिक मात्रा में किये गये दोषपूर्ण आहार-विहार के सेवन से अतिसार रोग का प्रादुर्भाव होता है। जब रोगी के शरीर से साम या निराम मल अत्यधिक निकलता है तो उसे अतिसार कहते हैं। मलोत्सर्ग अधिक होने के कारण इसकी अतिसार संज्ञा है। यह स्वाभविक आशुकारी है। यही अतिसार जीर्ण होने पर संग्रहणी रोग बन जाता है। ग्रहणी रोग में भुक्त अन्न के अजीर्ण होने पर कभी आमसहित और कभी सान्नमल निकलता है। अन्न के जीर्ण होने पर कभी पक्व मल निकलता है, कभी कुछ नहीं निकलता और कभी बार-बार बंधा या ढ़ीला दस्त होता है। यह रोग चिरकारी होता है, इसलिए इसे संग्रहणी कहते हैं। संग्रहणी चिरकारी तथा अतिसार आशुकारी होता है।

इस रोग[1] में एकाएक मल की प्रकृति का बारम्बार संघात होता है अथवा वह एकाएक रुक-रुककर बाहर निकलता है। ऐसा यह संग्रहणी रोग वात-पित्त तथ कफजन्य दोष से तो तीन प्रकार का है ही, किन्तु सन्निपातिक दोष के कारण भी उत्पन्न होता है। इस प्रकार यह चार प्रकार का हो जाता है। रोगी के शरीर में शिथिलता, अग्निमान्द्य, खट्टी डकार, मुख से लालास्राव, धूमनिर्गमवत्, प्रतीति, तमक, ज्वर, मूर्च्छा अरुचि, तृष्णा, थकान, भ्रम, अपच, वमन, कान में भनभनाहट और अन्त्रकूजन - ये गृहणी के पूर्वरूप हैं। वातज, ग्रहणी रोग में तालुशोथ, तिमिर रोग, दोनों कानों में शब्द, पसली, अरू, वंक्षण और ग्रीवा में दर्द, बार-बार विसूचिका, सब कुछ भोजन की इच्छा, क्षुधा, तृषा, कैंची से कतरने की पीड़ा, अफरा, कुछ भोजन करने से स्वस्थता, फेन सहित मल- ये सब लक्षण उपस्थित होते हैं। रोगी वातज, हृद्रोग, गुल्म, अर्श प्लीहा और पाण्डुरोग की शंका करने लगता है। देर में कष्ट के साथ पतला या गाढ़ा थोड़ा कच्चा एवं फेनयुक्त बार-बार मल आता है। गुदा में दर्द और

1. च0चि0अ015, अ0हृ0नि0अ08

श्वास-खांसी भी उठने लगती है।

पित्तज[1] ग्रहणी रोग में रोगी पीला पड़ जाता है। उसे पीला, नीला और पतला दस्त होता है। वह दुर्गन्धित खट्टी डकार, हृदय और कण्ठ में दाह, अरुचि और तृषा से पीड़ित रहता है।

पित्तज ग्रहणी के हीन होने पर रोगी का मल द्रवरूप हो जाता है और कफजन्य ग्रहणी रोग होने पर रोगी को अन्न कठिनता से पचता है। उसको छरछराहट भरा वमन होता है। उसे भोजन में अरुचि होने लगती है। उसके मुख में दाह होता है। उसको कफयुक्त खाँसी आती है। उसके हृदय से उबकाई छूटती है और जुकाम हो जाता है। रोगी को समान या कुछ कम-अधिक मात्रा में कफ से युक्त मल होता है, जो भारी तथा अम्लता के दोष से संश्लिष्ट रहता है। उस रूप में प्रायः मैथुन अशक्ति एवं रोगी की शक्ति का अधिक ह्रास होता है। इस रोग में बलवान् व्यक्ति भी दुर्बल हो जाता है और उसमें रोग के सभी लक्षण दिखायी देने लगते हैं।

विषम, तीक्ष्ण और मन्द नामक तीन पित्ताग्नियाँ कही गयी हैं। वे भी ग्रहणी दोष ही हैं। केवल समाग्नि उत्तम स्वास्थ्य की हेतु है। इस रोग में भी प्राणी को प्यास लगती है, अधिक मल निकलने के कारण भूख लगती है, हर क्षण शिथिल होते हुए शरीर के कारण उसके मन में विकृत चिन्ताएँ बढ़ जाती हैं। समस्त रोगों का यही-मल ही कारण है। इसी मल के शरीर में रहने पर प्राणी में वातव्याधि (बाई), अश्मरी (पथरी), कुष्ठ (कोढ़), मेह, जलोदर, भगंदर, बवासीन और ग्रहणी रोग होता है - ये आठो रोग महारोग माने गये हैं। इनका निदान अत्यन्त कठिन है और ये कष्टसाध्य हैं।

मूत्राघात-निदान :-

वस्ति[2] (पेडू अर्थात् नाभि प्रदेश से नीचे और मूत्र प्रवाहिका के ऊपर का भाग) वस्तिशिर (मूत्र प्रवाही नली) मेद्र (जननेन्द्रिय अर्थात् लिंग), कूल्हे के भाग के गढ्ढे। वृषण और पायु (गुदा) नामक शरीर के ये छः अंग विशेष हैं। जो परस्पर एक-दूसरे से सम्बद्ध और एक ही जगह ग्रथित हैं। इन सभी का आश्रय गुदाभाग में रहने वाले अस्थि विशेष के छिद्र से सम्बद्ध रहता है। पेडू (वस्ति) अधोमुखी है। इसमें चारो ओर से सूक्ष्म शिराओं के मुखभाग से होकर रिसाव होता रहता है, इससे वस्ति मूत्र से भरी होती है।

इन्हीं शिराओं से वात-पित्तादि दोष भी वस्ति में प्रविष्ट हो जाते हैं। जिससे मूत्राशय में बीस प्रकार के रोग उत्पन्न हो जाते हैं। मर्माश्रित होने के कारण से प्रमेहादि रोग अत्यन्त

1. च0चि0अ0 15, सु0उ0तं0अ0 40, गरुड पुराण अ0 157

2. सु0नि0अ03, मा0नि0पृ0 505, सु0उ0त0 48

कष्ट साध्य हैं, अर्थात् इन रोगों के होने से रोगी को मर्माहत करने वाली पीड़ा होती है। रोगी के पेड़ू, वंक्षण और लिंगभाग में भी कष्ट होता है। उस कष्ट से गुप्तांगों के द्वारा होता हुआ मूत्र अल्पमात्रा में बार-बार निकलता है। वातरोग में प्राणी को मूत्र कष्ट के साथ होता है। पित्तज मूत्राघात होने पर मूत्र पीला, लाल तथा दाह से युक्त हो जाता है और उसके मूत्राशय में रूके रहने पर अत्यन्त पीड़ा होती है जब यह रोग कफज होता है तो उसके पेडू और लिंग में भारीपन तथा शोथ आ जाती है। मूत्र पिच्छल और रूक-रूककर होता है। रोगी पर सर्व दोषजन्य मूत्राघात होने से सभी लक्षण पाये जाते हैं। जब वायु वस्ति के मुख को आच्छादित कर कफ, मूत्र और, वीर्य को शुष्क कर देता है, उस समय रोगी के शरीर में अश्मरी (पथरी) नामक रोग उत्पन्न हो जाता है। यह रोग बड़ा भयंकर होता है। वैसे गाय का पित्त सूखकर गोरोचन बन जाता है वैसे ही यह अश्मरी होता है। प्रायः सभी प्रकार की पथरियाँ कफाश्रित ही होती हैं। इस रोग का पूर्वलक्षण इस प्रकार है -

इस रोग के होने से वस्ति भाग में अवरोध होता है, अथवा सन्निकट अन्य किसी भाग में भी हो सकता है। जिस भाग में होता है उस भाग के चारो ओर अवयवों में अत्यधिक पीड़ा होती है। वस्तिभाग में मूत्र का अवरोध तथा उसकी कृच्छता बनी रहती है। रोगी के मूत्र में अजामूत्र के समान गन्ध, ज्वर और अरूचि होती है। इस रोग का सामान्य लक्षण तो यह है कि रोगी के नाभि लिंगमणि और वस्ति के शिरोभाग में कष्ट रहता है। अश्मरी द्वारा मार्गावरोध के कारण वहाँ उस समय पर्याप्त मूत्र निकलने पर रोगी को सुखानुभूति होती है उस मूत्र का वर्ण गोभेद या गोमूत्र के समान झलकता रहता है।

मूत्र निर्गमन[1] ऐसा प्रकोप हो जाने पर रक्त, मांस तथा धातु, प्रवाह के मार्ग में कष्ट होता है। वातरोग से व्यथित रोगी अपने दाँतो को किटकिटाता हुआ काँपता है। मूत्र भरे हुए नाभि से नीचे स्थित वस्तिभाग को पकड़कर दबाता हुआ वह कराह करता है। अपान वायु के सहित मलपिण्ड उसके गुह्यभाग से निकलता है और बूँद-बूँद करके मूत्र टपका करता है। वातज दोष के कारण शरीर में उत्पन्न हुई अश्मरी का वर्ण श्याम है। उसमें रूक्षता रहती है। देखने में वह काँटों से बिधी हुई सी प्रतीत होती है।

पित्तज दोष के कारण उत्पन्न इस अश्मरी रोग में वस्तिभाग जलने लगता है। उसमें ऐसा प्रतीत होता है, जैसे अन्दर ही अन्दर कुछ पक रहा हो। इस पित्त दोष जन्य अश्मरी का स्वरूप भल्लातक (भिलावे के बीज) के समान होता है। इसका वर्ण लाल, पीला अथवा काला होता है।

कफजन्य अश्मरी होने से वस्तिभाग में पीड़ा होती है। उस स्थान में भारीपन तथा

1. वा0नि09, अ0हृ0नि0अ0 9

शीतलता का अनुभव होता है। इस रोग में उत्पन्न हुई आकार में बड़ा, चिकना, मधु (शहद) अथवा श्वेतवर्ण होती है। तीनों अश्मरी प्रायः बालकों में हुआ करती हैं। आश्रय, मृदुता और उपचय की अल्पता के कारण बालकों की अश्मरी ग्रहण करके सुखपूर्वक निकाली जा सकती है।

शुक्र के वेग को रोकने से प्राणी के शरीर में शुक्राश्मरी नामक भयंकर रोग की उत्पत्ति होती है। जब धातु प्रवाहिका नाड़ी से गिरा हुआ अथवा कुपित वीर्य दोनों अण्डकोषों के बीच रूक जाता है और लिंग मार्ग से वह बाहर नहीं निकलता, वहाँ स्थित विकृत वायु विक्षुब्ध होकर उसको सुखा देता है, उसी दोष से इस शुक्राश्मरी का जन्म होता है। इस रोग में भी वस्तिभाग में पीड़ा होती है। रोगी को मूत्र[1] निर्गत करने में कष्ट होता है। इसका भी वर्ण श्वेत माना गया है। इसके कारण मूत्रावरोध होने से तत्सम्बन्धी स्थानों में सूजन आ जाती है। अण्डकोष और उपस्थि-इन्द्रिय के बीच में हाथ से दबाया जाय तो वह विलीन हो जाती है। इस रोग के हो जाने पर रोगी को पीड़ा होती है उसके दुष्प्रभाव से ज्वर हो जाता है, रोगी को खाँसी आने लगती है। इस अश्मरी रोग के कारण रोगी के शरीर में शर्करा रोग का विकार भी उत्पन्न हो जाता है। यदि इसकी अनुलोम गीति होती है तो यह मूत्र के साथ बाहर निकल जाती है अथवा मूत्र के साथ प्रतिलोम अवस्था में अन्दर ही रूक जाती है। क्रुद्ध हुआ वायु वस्ति भाग के मुख को रोककर आमाशय को जलस्रोत से नीचे आने वाले उस मलिन जल को एकत्र कर देता है। इस मूत्र के संचित होने से वस्ति भाग में विकार की उत्पत्ति होती है, रोगी को कष्ट होता है और उस भाग में खुजलाहट होने लगती है।

रोगी के शरीर में विक्षुब्ध वह वायु वस्ति भाग के मुख को विधिवत्, ढ़ककर मूत्रावरोध उत्पन्न करता है तथा वस्ति को अपने स्थान से हटाता हुआ उल्टा या इधर-उधर करके वस्ति भाग में विकृति उत्पन्न कर गर्भ-जैसा स्थूल (मोटा) बना देता है एवं उस स्थान को पीड़ित करता है। वहाँ उसके कारण जलन होती है। उसमें निष्पन्दन होने लगता है और कूल्हों में भी पीड़ा प्रारम्भ हो जाती है।

रोगी का मूत्र बिन्दुवत टपकता है, वह अपने सही वेग से नहीं निकलता। वस्ति भाग में पीड़ा बनी रहती है। दबाने पर मूत्रधारा-रूप में निकलता है। वायुजन्य इस रोग को वातवस्ति के नाम से स्वीकार किया गया है।

वातवस्ति[2] के दो भेद हैं – पहला वस्ति के मुख को रोकने वाला दुस्तर कहलाता है और दूसरा दुस्तरतर। वस्ति के मुख को ऊपर करने वाला अत्यन्त कृच्छ्रसाध्य है, क्योंकि इसमें

1. सु0नि0अ03, अ0हृ0नि0अ09

2. मा0नि0मूत्राघात प्र0 4

वायु का विशेष प्रकोप होता है। मलमार्ग तथा वस्तिभाग के बीच स्थित वायु अष्ठीलाकृति अर्थात्, गोलककड़ी या अंगुली के समान घनीभूत शक्तिशाली, मजबूत ग्रन्थि (गाँठ) उत्पन्न करता है जिसके कारण इसको वाताष्ठीला नाम से अभिहित किया गया है। इस रोग में वायुरोगी के अपानवायु तथा मल-मूत्र को अवरूद्ध कर देता है। वस्तिभाग में विद्यमान कुपित वायु कुण्डली मारकर तीव्र पीड़ा को जन्म देता है। वहाँ मूत्र को रोककर वह उसमें अत्यधिक स्तम्भन का दोष उत्पन्न करता है। ऐसी अवस्था में रोगी को बहुत ही अल्प मात्रा में बार-बार मूत्र होता है तथा ऐसी अवस्था में रोगी मूत्र को अधिक देर तक रोकने में असमर्थ रहता है। ऐसे रोग को वात कुण्डलिका[1] कहते हैं। जब रोगी रूके हुए मूत्र को निकालने में पीड़ा का अनुभव करता है तो वह निरूद्धमूत्र कृच्छ्र रोग है अथवा मूत्र को अधिक काल तक रोकने के पश्चात् यदि उसका वेग नहीं आता है या रूक-रूक कर आता है और कुछ कष्ट होता है तो उसका मूत्रातीत कहा जाता है।

मूत्र के वेग को रोकने से प्रतिहत हुआ मूत्र अथवा वायु से पीछे को घुमाया हुआ मूत्र जब नाभि के नीचे उदर में भर जाता है, तब वह तीव्र वेदना और आध्यमान पैदा करता है और मल का संग्रह करता है। इसे मूत्रजठर कहते हैं। मूत्र के दोष से अथवा कुपित वायु के द्वारा आक्षिप्त हुआ थोड़ा सा मूत्र वस्ति, नाल, उपस्थि की मणि में स्थित होकर थोड़ा-थोड़ा दर्द करता हुआ अथवा बिना दर्द के ही निकलता है, इसे मूत्रोत्सर्ग या मूत्र जठर कहते हैं।

अबाधगति[2] से मूत्रोत्सर्ग होना प्राणी के श्रेष्ठ अण्डकोषों, पर निर्भर होता है। एकाएक रूका हुआ मूत्र निकलजाने पर अन्तःकरण और मुख शुष्क हो जाता है। अधिकाधिक या अल्पमात्रा में प्राणी को प्यास लगने लगती है। वस्ति के आभ्यन्तर भाग में मूत्रावरोध के कारण अश्मरी के सदृश एक ग्रन्थि पड़ जाती है, जिसको मूत्रग्रन्थि कहते हैं। मूत्ररोग[3] ग्रसित रोगी का जब स्त्री के साथ सहवास होता है तो उस समय वायु के द्वारा ही स्त्री के गर्भाशय में शुक्र पहुँच जाता है किन्तु स्थान विशेष से निकला हुआ वह शुक्र मूत्र-क्षरण होने से पहले अथवा बाद में लिंग से बाहर आता है।

इसका स्वरूप भस्ममिश्रित जल के समान होता है। उसको वैद्यक में मूत्र शुक्र के नाम से जाना जाता है।

---

1. मा0नि0मूत्राघात प्र0 2,3 श्लोक 7,8
2. सु0उ0अ0 85, अ0हृ0नि0अ09
3. सु0उ0अ0 48

जब रूक्षता और दुर्बलता के कारण वातजन्य दोष से उदारवत उपद्रव होता है अर्थात् शरीर के अन्दर विद्यमान अपानवायु व्यानवायु से घिर जाता है अर्थात् मलावरोध हो उठता है तो उस काल में वह मल मूत्र स्रोत की संसृष्टि से संयुक्त हो जाता है। इसमें मूत्र बूँद-बूँद ही होता है और इस टपकने वाले मूत्र-बिन्दुओं में एक दुर्गन्ध सी रहती है। ऐसे रोग को मूत्रविघात के नाम से स्वीकार किया जाता है।

पित्त[1], व्यायाम, तीक्ष्ण और अम्लाहार तथा आध्यमान (पेट फूलने) अथवा अन्य विकृतियों के द्वारा शरीर के आभ्यान्तरिक भाग में बढ़ा हुआ पित्त वायु विकार वस्तिभाग में दाह उत्पन्न कर देता है, जिसके कारण रक्तयुक्त मूत्र निकलता है अथवा उष्ण रक्त ही उसकी मूत्र-प्रवाहिका से बार-बार कष्टपूर्वक गिरता है। इस प्रकार के कष्ट को उत्पन्न करने के कारण लोगों ने उस रोग को उष्णवात की संज्ञा दी है।

रूक्षाक्षर[2] तथा परिश्रम करने से श्रान्त रोगी का पित्त और वायु कुपित हो उठता है। वह उसके वस्तिभाग में मूत्रावरोध पीड़ा, क्षय और जलन उत्पन्न कर देता है। उस लक्षण से युक्त मूत्राघात- कष्ट को मूत्रक्षय कहा गया है।

यदि कुपित वायु के द्वारा पित्त और कफ अथवा इन दोनों को संक्षुब्ध कर दिया जाता है तो उस समय प्राणी को जलन, कष्टसाध्य मूत्र-निर्गमन होता है। उसके मूत्र का वर्ण पीला, रक्त तथा श्वेत हो जाता है और उसमें गाढ़ापन भी आ जाता है। वस्तिभाग में दाहभरी जलन होती है जो मूत्र निकलता है, उसका वर्ण सूखे गोरोचन तथा शंखचूर्ण के समान होता है। इस रोग को कृच्छ्रमूत्रसाद कहते हैं। इस प्रकार विस्तारपूर्वक मूत्र में होने वाले रोगों को भी मैने बता दिया है।

प्रमेहरोग-निदान :-

प्रमेह[3] बीस प्रकार के होते हैं। उनमें दस प्रमेह, कफजन्य, छः प्रमेह पित्तजन्य और चार प्रमेह वातजन्य हैं। इन सभी में मेद, मूत्र और कफ की संसृष्टि होती है।

प्रमेह का सबसे पहला प्रकार हारिद्रमेह है। इस प्रमेह के होने पर रोगी, रोगी को कटु रसमिश्रित मूत्र हल्दी के समान मल-मूत्र होता है। इस प्रमेह का दूसरा प्रकार मंजिष्ठामेह है। मंजिष्ठामेह के होने पर मंजिष्ठ (मजीठ)- वर्ण के जल के सदृश होता है। इसका तीसरा प्रकार है रक्तमोह। इस रक्तमेह के होने पर रक्तवर्ण की आभा वाला कच्चे मांस की गन्ध से समन्वित उष्ण तथा लवण-तत्त्व मिश्रित मूत्र होता है।

1. सु0उ0अ0 57, गरूड पुराण 158
2. सु0अ085
3. च0चि0अ0 7, वा0नि0 10

वसामेह में चर्बी मिला हुआ मूत्र अथवा केवल चर्बी ही बाहर निकलती है। वसायुक्त मज्जामेही व्यक्ति वर्ग और गन्ध में समानता रखने वाले मज्जा तत्व से संश्लिष्टि मूत्रत्याग करता है।

जब प्राणी मतवाले हाथी के समान असंयमित वेग से अधिक समय तक मूत्र निकालता है, जिसके साथ एक चिपचिपा पदार्थ भी आता है और यह यदा-कदा बीच-बीच में रूक भी जाता है तो उस रोगी को हस्तमेदी मानना चाहिए। हस्तिमेह प्रायः वृद्धावस्था में होता है। जब व्यक्ति को मधु के समान मूत्र होता है अर्थात् उस मूत्र में शरीर के अन्दर विद्यमान मधुर रस का तत्व आने लगता है तो उसे मधुमेही कहा जाता है। यह दो प्रकार का माना गया है। एक तो धातु के क्षीण होने पर वायु के कुपित से तथा दूसरा पित्तादि दोष से वायु का मार्ग रूक जाने से।

इस प्रेमह[1] से घिरा हुआ रोगी प्रायः अन्य सभी दोषजन्य प्रमेहों के लक्षणों से संयुक्त हो जाता है। ऐसे रोगी में अन्य दोषों के लक्षणों का आगमन कोई कारण नहीं रखता। यह रोग तो अपनी प्रबलता के प्रभाव से उन्हें बिना निमित्त के ही रोगी के शरीर पर प्रकट कर देता है। यह ऐसा प्रमेह है कि क्षणमात्र में नष्ट हो सकता है और क्षणकाल में अपने पूर्ण बल के साथ उभर सकता है। अतः रोगी को चाहिए कि वह कष्ट उठाकर भी इस वर्ग भेद मधुमेह रोग का निदान कर ले। इसकी सामयिक उपेक्षा कर देने पर प्राणी के शरीर का सब कुछ मधुमेहता को ही प्राप्त कर लेता है अर्थात् शरीर के समस्त स्रोतों में इसका विकार पहुँच जाता है और एकदिन मधुमेह के अतिरिक्त कुछ शेष ही नहीं रह जाता तथा उसकी असामयिक मृत्यु हो जाती है। इसका विस्तार हो जाने पर सभी प्रकार के मेहरोगों में रोगी प्रायः मधु के समान ही गाढ़ा मूत्र नली से निकालता है। शरीर में जो मधुरता है, वह मधुरता इन सभी प्रमेहों में नष्ट होती है, इसलिए इन सभी प्रमेहों को मधुमेह ही कहा जाता है। इस प्रमेह रोगी में रोगी अपच, अरूचि, वमन, अनिद्रा, खाँसी और पीनस के उपद्रव से ग्रस्त हो जाता है।

कफजन्य प्रमेह में वस्ति तथा मूत्राशय - भाग में पीड़ा, हृष्ट-पुष्ट शरीर का क्षरण और ज्वर के उपद्रव जन्म लेते हैं। पित्त प्रमेह होने पर रोगी के शरीर में दाह, तृष्णा, खट्टी डकार, मूर्च्छा, अतिसार एवं मलभेद का विकार होता है। वातज प्रमेह में उदावर्त, कम्पन, हृदयवेदना, बेचैनी, शूल, अनिद्रा, शुष्कता, श्वास तथा खाँसी के विकार पैदा हो जाते हैं।

शराविका, कच्छपिका, ज्वालिनी, विनता, अलजी, मसूटिका, सर्षपिका, पुत्रिणी, सविदारिका और विद्रधि नाम दस प्रकार की फुँसियाँ प्रमेह रोगों की उपेक्षा कर देने पर उत्पन्न

1. वा0नि010, अ0हृ0नि0अ010

होती हैं।

प्रायः कफजन्य[1] दोष से संश्लिष्ट होने के कारण खाया हुआ अन्न प्रमेहरोग के रूप में परिणत हो जाता है। उसका रस मूत्र मार्ग से निकल जाता है। मधुर, अम्ल, लवण, स्निग्ध, भारी, चिकना और शीतल पेय, नया चावल, मदिरा, मिर्च, मसाला, मांस, इक्षुरस, गुड़ गोरस के सेवन एक स्थान और आसन पर शयन इस मधुमेह रोग के उत्पादक हैं। इस प्रमेह रोग के कफ वस्तिभाग में पहुँचकर उसको दूषित कर देता है। तदनन्तर वह स्वेद, मेदा वसा और मांस से युक्त शरीर को दूषित करके शिथिल बना देता है।

जब कफ पहले क्षीण हो जाता है तो वायु मूत्र के सहित पित्त, रक्त और धातु के वस्तिभाग में लाकर उसका वहीं पर विनाश करता है। साध्य-असाध्य प्रतीत होने वाले जो मेह हैं, वे सभी उसी वायु विकार से ही उत्पन्न होते हैं। जब वायु, पित्त और कफ की मात्रा निर्दुष्ट होकर समान रहती है, तब मेह भी समान-भाव से रहता है।

उक्त प्रमेह भेदों का सामान्य लक्षण तो प्रचुर मात्रा में विकृत मूत्र का होना है, किन्तु शरीर में उस विकार के संयुक्त होते ही विशेष परिस्थिति में भी पड़े हुए मनुष्य के लिए अपेक्षित है कि उस दोष का निवारण कर ले। मूत्र वे वर्णादिक लक्षणों के अनुसार इन प्रमेह रोगों के भेद की कल्पना की जाती है। यह मेहरोग दस प्रकार का है। सामान्यतः मूत्र स्वच्छ, अत्यन्त, श्वेद, शीतल, गन्धहीन तथा जल के समान होता है, किन्तु जो प्राणी उदकमेह से ग्रसित हैं, वह कुछ मटमैले और चिपचिपे मूत्र का क्षरण करता है। इक्षुमेह रोगी के शरीर से इक्षुरस के समान अत्यन्त मधुर मूत्र निकलता है। सान्द्रमेह से प्रभावित रोगी बासी रखे हुए जल के समान मूत्र छोड़ता है। सुरामेही रोग का मूत्रस्राव सुरा (मदिरा) के सदृश होता है, जो ऊपर से देखने में स्वच्छ तथा सान्द्र प्रतीत होता है, किन्तु अन्दर से गाढ़ा रहता है। वह ताण्डुलमिश्रित जल के समान अत्यन्त श्वेत मूत्र का परित्याग करता है जो शुक्रमेही है, उसको शुक्रमिश्रित अथवा शुक्र के समान वर्णवाला मूत्र गिरता है। सिकता अर्थात् रेतमेह से पीड़ित व्यक्ति को रेत के समान ही मूत्र तथा उसके सृदश मल अथवा विकार हो जाता है। शीतमेही रोगी को प्रायः अधिक मात्रा में मधुर और अत्यन्त शीतल मूत्र गिरता है।

जो रोगी शनैर्मेही विकार से संतप्त होता है, वह धीरे-धीरे बार-बार मन्द-मन्द गति से मूत्र-क्षरण किया करता है। लालमेही रोगी लालतन्तु अर्थात् लाल के समान तार बनाने वाले चिपचिपे मूत्र की धार छोड़ता है। क्षारमेह1 होने पर रोगी गन्ध, वर्ण, रस तथा स्पर्श में समान क्षारयुक्त मूत्र करता है। नीलमेही नीलवर्ण के समान और मसी अर्थात् स्याही के सदृश

1. मा0नि0प्र0 33/13,14

कृष्णवर्ग वाले मूत्र का परित्याग करता है।

संधिस्थान[1], मर्मस्थल, मांसलभाग तथा कोष्ठ प्रदेशों में जो प्रमेह-पिड़िका होती है, वह अन्त में उन्नत, मध्य में निम्न आर्द्रता से रहित और सहन करने वाली पीड़ा से समन्वित होती है।

जो पिड़िका (फुंसी) किनारों पर ऊँची बीच में नीची, श्यामवर्ण क्लेद और वेदना से युक्त होती है। तथा जिसकी शराब (मिट्टी का कसोरा) के समान स्थिति और आकृति होती है, उसे शराविका कहते हैं। जो पिड़िका कछुए के समान होती है और उसमें जलन रहती है, उस पिडिका को विद्वान लोग कच्छपिका नाम से स्वीकार करते हैं। बहुत बड़ी नील वर्ण के समान दिखायी देने वाली पिड़िका को विनता के नाम से माना गया है। शरीर में जिस पिडिका के उभर आने से त्वचा में जलन होती है और रोगी कष्ट का अनुभव करता है, उस पिडिका को ज्वालिनी कहा जाता है। रक्त, श्वेत तथा स्फोटका रूप धारण करने वाली कठोर पिड़िका का नाम अलजी है। जो पिण्डिकाएँ मसूर के समान आकृति वाली हैं, उन्हें मसूरिका के नाम से जानना चाहिए। जिह्वा में सरसो के समान छोटे-छोटे उभरे हुए दानों को सर्पषिका कहा जाता है, जो रोगी को अत्यधिक कष्ट देते हैं। पुत्रिणीनामक पिडिका बड़ी अथवा छोटी होती है। यह अत्यन्त सूक्ष्म भी हो सकती है। जो पिडिका विदारी कन्द के समान गोल तथा कठोर होती है, उसका नाम विदारिका है। विद्रधि के लक्षणों से युक्त अर्थात् पीप से युक्त पिडिका को विद्रधिका कहा जाता है।

पुत्रिणी और बिदारी नामक प्रमेह जनित पिडिकाए अत्यन्त कष्टकारी होती हैं। सद्यः पित्त के प्रकुपित होने से मेद की अल्पमात्रा में विकृत करने वाली अन्य पिडिकाएँ उत्पन्न होती हैं। प्रायः शरीर में जैसे-जैसे दोष की अभिवृद्धि होती है, वैसे ही वैसे उन सभी पिडिकाओं का अविर्भाव होता है। मेद को विकृत करने वाली इन पिडिकाओं का जन्म तो बिना प्रमेह के भी हो सकता है। जब तक पिडिका वर्णरहित होती है, तब तक उसके प्रधान लक्षण को निर्दिष्ट नहीं किया जा सकता। जो हल्दी के समान अथवा रक्तवर्ण या प्रारम्भिक स्वरूप का परित्याग करने वाले रक्तमूत्र का क्षरण करता है।

उसको प्रमेह रोग के बिना रक्तपित्त रोग जानना चाहिए। रक्तपित्त रोग के प्रभाव से ही मूत्र का रंग हरिद्रा एवं रक्तवर्ण का हो जाता है।

प्रमेहरोग[2] का पूर्वरूप में स्वेद, अंग-विशेष, में अप्रिय गन्ध और अंगों की शिथिलता,

1. वा0नि010, अ0हृ0नि0अ010, सु0नि06

2. वा0नि010, गरूड पुराण, अ0 159

शय्या, भोजन, निद्रा तथा सुख की आसक्ति, हृदय, नेत्र, जिह्वा, एवं कानों में असाधारण या साधारण भारीपन, जलन, बाल और नाखूनों में अभिवृद्धि, शीतल पदार्थों के प्रति प्रेम, कण्ठ तथा तालु में शोथ, मुख पर माधुर्य भाव और हांथ पैर में जलन के लक्षण दिखायी देते हैं। प्रायः इन सभी प्रमेह रोगों के रोगी के द्वारा किये गये मूत्र पर चीटियाँ दौड़ने लगती हैं।

प्रमेह रोग में तृष्णा, मधुरता तथा चिकनाहट का लक्षण तो सामान्य है, किन्तु मधुमेह होने पर अनेक प्रकारके विकारों का जन्म हो जाता है। शरीर में इस रोग के परित्याग होने पर इसकी उत्पत्ति का कारण कफजन्य मानना चाहिए अथवा सभी दोषों के क्षीण हो जाने पर यदि प्रमेह का कोई विकार दिखायी देता है तो वह वायुजन्य होता है। प्रमेह के वे सभी प्रकार तो कफ और पित्त से युक्त हैं, यथाक्रम जिनकी उत्पत्ति रति-प्रसंग की आसक्ति के कारण रोगी के मूत्र भाग में होती है, जो प्रमेह पित्त दोष के कारण उत्पन्न होते हैं, वे याप्य हैं। साध्य वही प्रमेय होता है, जो अपने सम्पूर्ण लक्षणों से समन्वित होकर रोगी के शरीर में दिखायी नहीं देता। यदि वह सभी लक्षणों से पूर्ण हो जाता है तो उसका निवारण असम्भव ही है।

विद्रधि एवं गुल्म निदान :-

वासी एवं अत्यन्त उष्ण, रूक्ष, शुष्क तथा विदाहकारी भोजन करने से टेढ़ी-मेढ़ी शय्या पर टेढ़ा-मेढ़ा शयन करने से तथा रक्त को दूषित करने वाले विरूद्ध आहार विहार से रक्त दूषित होकर चमड़ा (त्वक), मांस, मेदा, अस्थि, स्नायु एवं मज्जा को दूषित कर यह उदर का आश्रयण करता है। दुष्ट रक्त जब उदर का आश्रयण करता है तो अंग विशेष में (बाहर की ओर मुंहवाला अतिशय शूल के साथ और अतिशय पीड़ा से युक्त वृत्ताकार अथवा भीतर की ओर मुँह वाला आयताकार) जो शोथ उत्पन्न हो जाता है, आयुर्वेदवेत्ता वैद्यगण उसे विद्रधिरोग[1] कहते हैं।

दोषों के द्वारा (वायु, पित्त आदि के) भिन्न-भिन्न रूप में या मिश्रित रूप में रक्त एवं स्राव के तत्तत् अंग में अस्थि के आकार का विद्रधि रोग अतिशय दारूणा, गम्भीर और गुल्म के बढ़ाने वाला होता है। वह वल्मीक अर्थात् दीमक के घर, के समान सच्छिद्र होता है और सभी छिद्रों से सदा रक्त आदि बहता रहता है। इससे जठराग्नि मन्द हो जाती है।

नाभिवृत्ति, यकृत, प्लीहा क्लोम (वृक्क), कुक्षि, गुद एवं वक्षण आदि स्थानों में विद्रधि रोग उत्पन्न होने पर रोगी का हृदय कांपता रहता है और विद्रधि स्थान में तीव्र वेदना की अनुभूति होती है।

1. च0सू0अ0 17, सु0नि0अ0 9

विद्रधिका शोथ श्यामवर्ण अथवा रक्त वर्ण का होता है। इसका ऊपरी भाग उन्नत रहता है। कालान्तर में पाक हो जाने से यह विषम आकार का हो जाता है। विद्रधि रोग में संज्ञा-नाश, भ्रम, अनाह, रक्तस्राव और अत्यक्त शब्द होता है। पित्तज, विद्रधि रक्त (लाल), ताम्र अथवा कृष्णवर्ण का शीघ्रपाकी होता है। इसमें तृषा, दाह, मोह, ज्वर, बेहोशी, तथा जलन आदि उपद्रव होते हैं। कफज विद्रधि तेजी से उभरता है एवं शीघ्र पक जाता है, पीला हो जाता है और खुजलाहट से युक्त अरूचि, स्तम्भ रहता है। सन्निपातजन्य विद्रधि में अधिक क्लेश, शीत स्तम्भ (जकड़न), जृम्भण (जम्हाई), अरूचि, शरीर का भारीपन आदि सभी लक्षण व्यक्त होते हैं। सन्निपातिक (त्रिदोषजन्य) विद्रधि चिरकाल में उत्पन्न होता है और उसका पाक शीघ्र नहीं होता।

बाह्य और आभ्यन्तरिक विद्रधि में मल पतला होता है। सन्निपातिक विद्रधि कृष्णवर्ण, स्फोटाकृत और श्यामवर्ण का होता है। उसमें रोगी को दाह, विद्रधि स्थान को पीड़ा और तीव्र ज्वर हो जाता है।

बाह्य विद्रधि प्रायः पित्तज और रक्तज होती है। गर्भाशयगत रक्तज अन्तर विद्रधि केवल नारियों को ही होती है। शस्त्र आदि के अभिघात से अधिक रक्त बहने पर यह रोग उत्पन्न हो जाता है। किसी स्थान के कटने पर वायु के द्वारा परिचालित रक्त पित्त को प्रेरित करता है, जिससे रक्त पित्त लक्षण वाला विद्रधिरोग उत्पन्न होता है। यह अत्यन्त उपद्रवकारी होता है। स्थानभेद से उपद्रवों का भेद कहा जाता है। नाभि में विद्रधि रोग होने पर उसकी धौंकनी की तरह गति (हिचकी) होती है। वस्ति और मूत्राशय आदि में विद्रधि होने पर मूल-त्याग में दुर्गन्ध बहुत तथा क्लेश अधिक होता है। प्लीहा स्थान में विद्रधि होने पर श्वास-प्रश्वास का रोध हो जाता है और अत्यन्त प्यास लगती है। क्लेश स्थान में विद्रधि उत्पन्न होने पर गले का रोधतृषा होने लगती है। हृदय में विद्रधि होने पर सर्वांग में वेदना होती है। मोह, तमक, श्वास, कास के हृदय की शून्यता का बोध होता है। कुक्षि और पार्श्व के आभ्यान्तर में विद्रधि उत्पन्न होने पर कुक्षि में अनेक प्रकार के दोष उत्पन्न हो जाते हैं तथा ऊरू, संधि, धड़, वंक्षण, कटि, पीठ, बगल तथा नितम्ब इन स्थानों में विद्रधि के उत्पन्न होने पर पक जाने पर अथवा सूजन के आधार पर आगे की स्थिति का निर्देश करना चाहिए।

आन्तर विद्रधि यदि नाभि से ऊपर ऊर्ध्वमुख है तो मवाद एवं रक्त का स्राव मुख से होता है और नाभि के नीचे होने पर दोनों ओर से होता है। उच्च विद्रधि में दीप क्लेद के समान जानना चाहिए। सन्निपातज विद्रधि अपने स्थान में अनेक प्रकार के विवर्त को उत्पन्न कर देता है। नाभि और वस्ति ये स्थित विद्रधि अन्तर्गत या बाह्यगत या किसी भी प्रकार का

हो, वह निश्चित ही पककर फटता है, उसका परिपाक विद्रधि बढ़ने पर होता है, यह विद्रधि क्षीण होने पर भी अनेक प्रकार के उपद्रव को जन्म देती है। दुष्ट स्वभाव वाली एवं पापिनी स्त्री की गर्भगत संतान यदि नष्ट हो जाती है तो गर्भ में अधिक सूजन उत्पन्न होता है। स्त्रियों के स्तन में जो विद्रधि होती है, वह अतिशय दुःखप्रद होती है। यह बाह्य विद्रधि का लक्षण है। कन्याओं की नाडियाँ, अतिशय सूक्ष्म होने के कारण उन्हें स्तनविद्रधि रोग नहीं होता है। यह अपानवायु[1] की गतिरोध होने पर क्रुद्ध वायु लिंगमूल में शोथ उत्पन्न करता है तथा मुष्क एवं वंक्षणगत फलकोशतक जाने वाली फल्कोटकी शिराओं को पीड़ितकर उसमें वृद्धि करता है। इससे मेदा में दोष उत्पन्न होता है। यह वृद्धिरोग है, जो सात प्रकार का होता है- वातज, पित्तज, कफज, रक्तज, मेदज, मूत्रज और आन्त्रज। वातज वृद्धिरोग में मूल वातपूर्ण, कठोरस्पर्श वाला तथा बाह्य और आभ्यान्तरिक एवं रूक्ष वायु के कारण जलन पैदा करने वाला होता है। पित्तज वृद्धिरोग पके हुए गूलर के फल के समान दाह और ऊष्मा से युक्त होता है और पक जाता है। कफज वृद्धि कफजन्य होती है, वह तीव्र, गुरू स्निग्ध और कठोर तथा खुजली से युक्त रहती है। इसमें अल्प वेदना होती है। रक्तज वृद्धि, कृष्णवर्ण, स्फोट से युक्त पिण्ड के समान होती है और उसके वृद्धि का लक्षण पित्तज के समान होता है। मेदज वृद्धि मृदु और तालफल के समान होती है। इसके लक्षण कफज के समान होते हैं। जो मूत्र के वेग को धारण करते हैं, उनको मूत्रज वृद्धिरोग उत्पन्न होता है। इसमें मूत्रकृच्छ हो जाता है। मूत्रज वृद्धि में अण्डकोष मसक के समान हिलता है। यह वेदनायुक्त और मृदु होता है। इसमें मूत्रकृच्छ्र हो जाता है और अण्डकोष के नीचे भाग में कंकण जैसा आकार उत्पन्न हो जाता है। आन्त्रज वृद्धिरोग वायु को कुपित करने वाले आहार से और शीतल जल में स्नान करने तथा मल-मूत्र के वेग को रोकने से अंग की चेष्टाओं से क्षुब्ध किये जाने पर जब ओज शक्ति क्षुब्ध होकर शरीर को क्षीण कर देती है, तब वायु दूषित होकर रक्त को नीचे की ओर ले जाता है। इससे संधि स्थान में ग्रन्थि के समान शोथ हो जाता है।

वृद्धिरोग की उपेक्षा करने पर गुल्म-वृद्धि1, आन्त्र-वृद्धि, आध्मान आदि अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न हो जाते हैं। रोगी अत्यन्त पीड़ित हो जाता है। आभ्यन्तर में शब्द होने लगता है और वायु सिर प्रदेश में आध्मान हो जाता है। रक्तज गुल्म वृद्धि रोग असाध्य है और इसके लक्षण वातज वृद्धि रोग के समान होते हैं। गुल्म वृद्धिरोग काली-नीली शिराओं के जाल से उसी प्रकार व्याप्त हो जाता है, जैसे कोई झरोखा मकड़ी के जाल से आवृत हो जाता है। यह गुल्मरोग आठ प्रकार का होता है- वातिक, पैत्तिक, श्लेष्मिक, वातपैत्तिक, वातश्लेष्मिक,

1.च0नि0अ0 3, सु0उ0सं0अ042, अ0हृ0नि0अ0 11

पित्तकफ और (त्रिदोषज) सन्निपातिक। ऋतु सम्बन्धित रक्त के दूषित होने पर आठवाँ (आर्तवदोषज) गुल्म केवल स्त्रियों के गर्भाशय में होता है।

जो मनुष्य ज्वर, मूर्च्छा, अतिसार के द्वारा एवं वमन विरेचन आदि पंचकर्म के द्वारा दुर्बल हो तथा वातकारक अन्न का भोजन करे जो शीत से अथवा शूल से पीड़ित हो और भोजन से पूर्व खाली पेट अधिक जल पीये अथवा जल में तैरे एवं देह को क्षुब्ध करने वाला उपवास करे तथा वमन का वेग न होने पर भी वमन करने का प्रयास करे, स्नेहन, स्वेदन के बिना वमन, विरेचन आदि करे अथवा ठीक प्रकार शुद्धि कर्म के बिना वात-विदाहि अन्न का सेवन करे या कष्ट देने वाले सवारी पर चढ़े तो सम्पूर्ण वातादि दोष अलग-अलग या एक साथ मिलकर देहस्रोत (आमपक्वाशय) - में गमन करते हैं और ऊर्ध्व-अधोमार्ग को आच्छादित या निरोध करके वायुशूल उत्पन्न करते हैं। ऐसी दशा में छूने से अनुभव में आने वाला, गरम, ऊँचा, उठा हुआ तथा गाँठ जैसा गुल्मरोग उत्पन्न हो जाता है।

धातु के क्षीण हो जाने से कफ, विष्ठादि के द्वारा मार्ग अवरूद्ध हो जाने से वायु कोष्ठ में स्थित हो जाता है और रूक्षता के कारण कठोर हो जाता है। यह अपने आश्रय (पक्वाशय) में स्वतंत्र रूप से दुष्ट हो जाता है और पराश्रय (आमाशय) में परतंत्र भाव से (कफादि के अधीन) दुष्ट हो जाता है। इसे वातगुल्म कहते हैं। यह वस्ति, नाभि, हृदय और पसलियों में उत्पन्न होता है। वातज के समान पीड़ा- ये सभी उपद्रव होते हैं और बहुत कष्ट से मूत्र होता है। उक्त रोग वायुचालित होकर शरीर, मुख, पैर, शोथ, अग्निमान्द्य आदि उपद्रव को उत्पन्न करता है। विशेषतः शरीर में चमड़ा, रूक्ष और कृष्णवर्ण का हो जाता है। वायु के चंचल होने के कारण गुल्म रोग का कोई निर्दिष्ट एक स्थान नहीं है।

अतः यह अनेक प्रकार की व्यथाएँ उत्पन्न करता है। वातज गुल्मरोग में चीटीं के चढ़ने या काटने-जैसा स्फुरण होता है और चुभने की तरह व्यथा होती है।

पित्तज गुल्मरोग में दाह, अम्लोदगार, मूर्च्छा, मलभेद, पसीना, तृष्णा और ज्वर - ये सभी उपद्रव होते हैं। सम्पूर्ण शरीर हल्दी के वर्ण का हो जाता है। इस रोग में शोथ भी हो जाता है और श्लेष्मा घटता बढ़ता रहता है। गुल्म के स्थान में जलन सी प्रतीत होती है।

कफज गुल्म रोग में स्तैमित्य, अरूचि, सिर में वेदना और अंगों में शिथिलता, शीतज्वर, पीनस, आलस्य, हृल्लास, चमड़े का सफेद या काला, होना आदि लक्षण होते हैं। कफज, गुल्म, गम्भीर, कठिन और गर्भस्थ बालक के समान भारी होता है। अपने स्थान में स्थित रहने तथा वहाँ से न चलने के कारण यह मृत्युकारक होता है।

त्रिदोषजन्य गुल्म रोग में प्रायः एक दूसरे के लक्षण घुले-मिले रहते हैं। इसमें तीव्र वेदना और अतिशय दाह होता है। यह अतिशय उन्नत और सघन होकर शीघ्र ही पक जाता है तथा असाध्य है।

रक्तगुल्म[1] स्त्रियों को ही होता है। जिस स्त्री को ऋतुकाल में अतिशय वेदना या किसी प्रकार का योनिरोग रहता है अथवा वायुकारक पदार्थों को सेवन करने से वायु कुपित होकर प्रतिमाह व्यवस्थित ऋतुस्राव को योनि में ही रोक देता है तो वह रूका हुआ रक्त कुक्षि में जाकर गर्भ के चित्रों को प्रकट करता है। इस रोग में हृल्लास गर्भिणी जैसी इच्छा, स्तन में दुग्ध दर्शन, कामचारिता आदि लक्षण प्रकाशित होने लगते हैं। क्रमशः वायु के संसर्ग से पित्त योनि में रक्त का संचय करता है। शोणित जब गर्भावस्था का आश्रय करता है, तब वात-पित्तज, गुल्म के विकार उत्पन्न हो जाते हैं। यह दुष्ट रक्त का आश्रय लेकर गर्भाशय में अत्यन्त शूल उत्पन्न करता है। योनि में स्राव, दुर्गन्ध, कभी-कभी स्पन्दन और वेदना होती है। कभी-कभी यह गुल्म गर्भ-जैसा हो जाता है।

दुष्ट रक्त एवं दुष्ट आश्रय के कारण यह विद्रधि गुल्म कभी देर में पकता है, कभी नहीं पकता है और कभी जल्दी पक जाता है। अतः शीघ्र दाह पैदा करने वाला होने के कारण यह विद्रधि गुल्म कहा जाता है। अन्तराश्रय गुल्म में वस्ति कुक्षि हृदय और प्लीहा में वेदना होती है। जठराग्नि और बल का नाश हो जाता है। मल-मूत्रादि का वेग रूद्ध हो जाता है। बहिराश्रय गुल्म में इसका उल्टा होता है अर्थात् वस्ति, कुक्षि आदि में वेदना अधिक नहीं होती, वेग का प्रवर्तन होता है।

गुल्म स्थान में विवर्णता और बाहर के भाग में अधिक ऊँचापन आदि लक्षण उपस्थित होते हैं। ऊपर नीचे वायुरोध के कारण तीव्र वेदना और उदर में आध्यमान होता है। इसे अनाहरोग कहते हैं। जो ग्रन्थि के ऊपर उठी होती है तथा कठोर अष्ठीला की तरह होती है, उसको अष्ठीला विद्रधि कहते हैं। उसकी आकृति यदि समस्त चिह्नों से युक्त एवं तिरछी हो तो उसे प्रत्यष्ठीला कहते हैं। पक्वाशय में उत्पन्न होने वाला वायु तीव्र वेदना से युक्त होकर डकारों की अधिकता, शौच, का विवन्ध भोजन की अनिच्छा, आँतो का सूजन, आरोप आध्यमान, अग्निमान्द्य ये सब उत्पन्न होने वाले गुल्म के पूर्व संकेत हैं।[2]

---

1. सु0उ0सं0अ042, अ0हृ0नि0अ012, गरूड पुराणअ0160

2. सु0नि0अ061, च0नि0अ03, च0चि0अ050, अ0हृ0नि0अ011, वाग्वट्ट नि0 11

उदर रोग निदान :-

मन्दाग्नि होने पर सभी प्रकार के रोग उत्पन्न होते हैं और उदर रोग विशेषकर मन्दाग्नि से ही होते हैं।

उदर में मल संचित होने पर अजीर्ण आदि भिन्न-भिन्न रोग, ऊर्ध्व और अधोगति वायु के अवरोध होने से सभी प्रवाहिणी नाडियाँ अकर्मण्य हो जाती हैं। प्राणवायु अपानादि वायु को दूषित कर उनको मांससंधि में प्रविष्ट कर देती है। इससे कुक्षि स्थान अवरूद्ध होकर उदररोग उत्पन्न होता है। उदररोग आठ प्रकार के होते हैं - वातज, पित्तज, कफज, सन्निपातज, सलिलजन्य, प्लीहाजन्य, बद्धोदर - वृद्धि और क्षतजन्य। उदररोग होने पर हाथ-पैर तथा पेट में सूजन आ जाती है। शारीरिक चेष्टा, बल और आहार कम हो जाता है। शरीर दुर्बल हो जाता है और अफरा हो जाता है। इस रोग से ग्रस्त व्यक्ति का आकार प्रेत के समान विकृत हो जाता है।

उदररोग का पूर्व लक्षण भूख-नाश, अरूचि पाक के समय दाह आदि होता है। ऐसा रोगी अपथ्य का सेवन करता है। उदररोग से बल क्षय हो जाता है। अतः रोगी के थोड़ा कार्य करने पर श्वास-प्रश्वास की वृद्धि हो जाती है। किसी भी विषय में उसकी वृद्धि प्रवेश नहीं कर पाती और शोक एवं शोथ आदि हो जाते हैं। उदर रोगी थोड़ा खाने पर भी वस्तिसंधि में निरन्तर पीड़ा का अनुभव करता है। सभी प्रकार के उदररोग में रोगी वृद्धावस्था के समान जीर्ण हो जाता है और बलहीन हो जाता है। तन्द्रा, आलस्य, मलवेग, मन्दाग्नि दाह सूजन और आध्यमान- ये सभी जलोदर के लक्षण हैं। सब प्रकार का जलोदर रोग मृत्युकारक है। इसलिए उसके लिए शोक करना व्यर्थ है। उदर रोग में रोगी का उदर गवाक्ष की तरह शिरोजल से व्याप्त हो जाता है और सदा गुड़गुड़ शब्द होने लगता है।

उदररोग[1] में वायु नाभि और आँत में विष्टब्धता उत्पन्न करके नष्ट हो जाता है। वायुजन्य उदररोग में हृदय नाभि, कटि, वायु, वंक्षण- इन सभी स्थानों में पीड़ा करके स्वयं वायु शान्त हो जाता है। शब्द के साथ वायु निकलने लगता है एवं अल्प परिमाण में ही मूत्र होता है। उसकी किसी भी विषय में चंचलता नहीं रहती और मुख सदा उदास रहता है। वातोदर में हाथ-पैर, मुख और कुक्षि में शोथ हो जाता है। उदर पार्श्व तथा कटि और पृष्ठ आदि स्थान में पीड़ा का अनुभव होता है और जोड़ों में दर्द रहता है। शुष्क, कास, शरीर में पीड़ा, अधोभाग में गुरूता, मलसंग्रह शरीर में श्यामवर्णता या अरूणवर्णता आ जाती है एवं मुंह में बार-बार पानी आता है। पेट में नीली और काली शिराएँ उभर आती हैं। उदर में

1. च0चि0अ0 13

वेदना के साथ सशब्द वायु चारों तरफ घूमती है। पित्त जनित उदर रोग में ज्वर, मूर्च्छा, दाह, प्यास, मुख में कटुता, अतिसार, त्वचा, नख, आदि पर पीलापन, उदरपर हरापन एवं पीली और ताम्रवर्ण की शिराएँ अधिकता से दीखती हैं तथा ऊष्मा और दाह बना रहता है।

कफजनित उदररोग में शरीर में अवसाद, शोथ, भारीपन, निद्राधिक्य, अरूचि, श्वास, कास, त्वचा आदि में श्वेतता, श्वेत शिराओं आदि से व्याप्त उदर बड़ा एवं धीरे से वृद्धि को प्राप्त करता है। त्रिदोष को कुपित करने वाले आहार-विहार से अधिक भोजन करने से शरीर को क्षुब्ध करने से गाड़ी आदि पर यात्रा करने से, दौड़ने, कूदने, मैथुन करने, भार उठाने, चलाने तथा ज्वरादि से दुर्बल व्यक्तियों के वामपार्श्व में स्थित प्लीहा अपने स्थान से च्युत होकर वृद्धि को प्राप्त होने लगता है।

प्लीहा पहले कठोर तथा पुनः उन्नत या उठा हुआ होकर उदररोग उत्पन्न करता है और श्वास-कास, मुख विरसता, अफरा शूल, पाण्डु, वमन, मूर्च्छा, शरीरवेदना, दाह, विभ्रम, आदि अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न हो जाते हैं। उदर का रंग काला, लाल, विकृत, नीला एवं पीला हो जाता है। प्लीहोदर में भी वात, पित्त और कफ का सम्बन्ध रहता है। प्लीहा के समान ही उदर के दक्षिण भाग में स्थित यकृत विकृत होकर भी उदररोग उत्पन्न करता है।

कुपित अपानवायु मल (पुरीष) पित्त एवं कफ को अवरूद्ध करके उदर में बद्ध गुदोदर नामक रोग उत्पन्न करता है और ज्वर, कास, श्वास एवं सिर, नाभि, पार्श्व और गुदा में पीड़ा उत्पन्न करता है। उदर स्थिर एवं अचल बना रहता है। उस पर नीली एवं लाल शिराओं का जाल देखता है और उदर के ऊपर का हिस्सा गाय की पूँछ के समान होकर मल संचय होता रहता है।

भोजन में हड्डी और पाषाण आदि उदर में जाने से तथा अत्यधिक खाने से आँतों के फटने पर पककर मवाद एवं मल के साथ जल निकलकर गुदामार्ग से जब बाहर आता है, वह पीला, लाल पुरीष गन्धयुक्त रहता है। अवशिष्ट भाग पेट में रूककर उदर-वृद्धि करके जलोदर रोग होकर बाद में वातादि दोषों से पुनः विकृत हो परिस्रावी छिद्रोदर रोग हो जाता है।

स्नेहपान, स्वेदन, वमन, विरेचन करते समय एकाएक ठंडा जल अधिक पान करने से मन्दाग्नि रहने पर या दुर्बलता से अधिक आम जल पीने पर वायु एवं कफ कुपित होकर जलवाही स्रोतों को अवरूद्ध कर उसे दूषित जल को बढ़ा देता है और क्लोम, नलिका से आकर अवरूद्ध होता हुआ उदर में वेदना होती रहती है। पुनः कास श्वास एवं अरूचि हो जाती है। उदर पर अनेक रंग की शिराएँ उभरं आती हैं। उदर जलपूर्णसा हो जाता है तथा उसमें कम्पन आदि अनेक उपद्रव प्रारम्भ हो जाते हैं, इस स्थिति में उसे ढ़कोदर, उद्वोदर या

जलोदर कहते हैं। उदर रोगों की उपेक्षा करने से वातादि दोष अपने स्थान से विमुख होकर जल को बढ़ाकर उस जल से शरीर के जोड़ों के स्रोतों के मुखों को गीला या आर्द्र कर देते हैं। अतः शरीर के[1] पसीने के रूकने पर भी सभी स्रोत अवरूद्ध हो जाते हैं। इससे उदर परिपूर्ण होकर उदररोग उत्पन्न होता है। किसी-किसी रोगी के उदर में अधिक जल के संचित हो जाने पर वह बर्तुलाकार हो जाता है, उसको ताड़न करने पर शब्द नहीं होता। इस रोग में रोगी क्रमशः दुर्बल हो जाता है। यह रोग भयंकर होता है और नाड़ी को दबाने पर जल आगे बढ़ जाता है। उदररोग में जल उदरमत शिराएँ अन्तर्हित हो जाती हैं, तब उस रोग को सभी लक्षणों से आक्रान्त कहा जाता है। वातोदर, पीतोदर, कफोदर, श्लेष्मोदर, प्लीहोदर, सन्निपातोदर और जलोदर- ये क्रमशः कष्टसाध्य होते जाते हैं। एक पक्ष के भीतर ही इस रोग में जल एकत्र होने लगता है। ये सभी उदररोग जन्म से ही कष्टसाध्य होते हैं।

पाण्डु-शोथ-निदान :-

पित्त प्रधान द्रव्यों से सम्पूर्ण वातादि दोष कुपित करने वाले हेतुओं से पित्त एवं मल कुपित होकर पाण्डु रोग उत्पन्न करते हैं। इन तीनों कुपित दोषों में से बलवान् वायु पित्त हृदयस्थ . दस धमनियों का आश्रय लेकर सम्पूर्ण शरीर में फैल जाता है। वह पित्त का आश्रयणकर श्लेष्मा, चर्म, रक्त, मांस आदि को दूषित कर देता है। इससे दूषित रक्त चमड़े और मांस के बीच में जाकर चमड़े को भिन्न-भिन्न रंग का कर देता है। इस रोग में चमड़ा हरिद्रादि अनेक रंग का हो जाता है, परन्तु इसमें पीले रंग की अधिकता रहती है। इसी से इसे पाण्डु रोग कहते हैं। इस रोग में धातु का गुरूत्व और स्पर्श में शिथिलता होती है। अम्लजन्य पाण्डुरोग में शरीर के सभी प्रकार के गुण नष्ट हो जाते हैं। इससे शरीर का रक्त क्रमशः कम हो जाता है, मेदा और अस्थि निस्सार हो जाते हैं। इस रोग में सभी अंग निर्बल हो जाते हैं, हृदय में द्रवता आ जाती है एवं नेत्रों में सूजन आ जाती है। मुँह में लालयुक्त लार की अधिकता हो जाती है। रोगी को प्यास कम लगती है, ठंडक अच्छी नहीं लगती रोमांच और मन्दाग्नि हो जाती है एवं शरीर की शक्ति घट जाती है तथा ज्वर, श्वास, कर्णशूल, चक्कर-ये सभी उपद्रव होने लगते हैं।

पाण्डुरोग[2] पाँच प्रकार के हैं - वातज, पित्तज, कफज, सन्निपातज एवं कृत्तिका - भक्षणजन्य। हृदय में स्पन्दन, चमड़े की रूक्षता, अरूचि, मूत्र की पीतवर्णता, पसीना और मूत्र

1. च0चि0अ0 13, सु0नि0अ07, अ0हृ0नि0अ013, गरूड पुराण अ0 161

2. च0चि0अ0 16, सु0उ0तं0अ043, अ0.हृ0सू0 2

का कम होना ये सभी पाण्डुरोग के पूर्वरूप हैं। वायुजन्य पाण्डुरोग में तीव्र वेदना शरीर में चिपचिपाहट आदि लक्षण दिखायी देते हैं।

इस रोग में शिरा, नख, विष्ठा, मूत्र और नेत्र कृष्ण वर्ण तथा अरूणवर्ण के हो जाते हैं। इससे शोथ, नासिका और मुख में विरसता, मलशोध, पार्श्व में वेदना- ये सभी उपद्रव होने लगते हैं। पित्तज पाण्डुरोग में शिराएँ आदि हरित पित्त जैसी हो जाती हैं एवं ज्वर, आँखों के आगे अँधेरा, प्यास, शोथ, मूर्च्छा, दुर्गन्ध, शैत्य सेवन की इच्छा, मुख में कड़वाहट - ये सभी लक्षण वक्त होने लगते हैं। कफज पाण्डुरोग में हृदय में आर्द्रता, मलभेद खट्टी डकार और दाह होता है। तन्द्रा मुख में लवण- रस का स्वाद, श्वास, रोमान्च, स्वरभंग, कास, वमन, दुःसहता - ये सभी लक्षण व्यक्त होने लगते हैं। त्रिदोषज होने पर इसके लक्षणों को पहचानना कठिन हो जाता है और अतिशय असह्य हो जाता है।

मिट्टी खाने से उत्पन्न पाण्डुरोग में कसैली मिट्टी वायु, खारी मिट्टी पित्त और मीठी मिट्टी वायु को दूषित करके तथा रस आदि को सुख्र करके शिराओं को रक्त से भर देती है तथा उसे वहीं रोक देती है और पाण्डुरोग पैदा हो जाता है। पाण्डुरोग के बढ़ जाने पर नाभि, पैर, मुख और मूत्रमार्ग में शोथ हो जाता है। कृमियुक्त तथा रक्त मिश्रित और कफसमन्वित मल निकलने लगता है।

जो पाण्डुरोगी पित्त उत्पन्न करने वाले पदार्थो का सेवन करता है, उसका पित्त-रक्त और मांस का दाह करके कोष्ठ शाखा में मिलकर कामलारोग उत्पन्न करता है। कामला रोग में रोगी का मूत्र, नेत्र, त्वक, मुख और विष्ठा हल्दी के रंग का हो जाता है। रोगी दाह, अविपाक, और तृषा से पीड़ित होकर मेढ़क के समान पीला और दुर्बल हो जाता है। पाण्डुरोगी को पित्तज शोथ होने लगता है। इसकी उपेक्षा करने पर जो अतिशय शोथ बढ़ जाता है, वह बहुत क्लेशप्रद होता है। इस रोग को कुम्भकामला कहा जाता है। पित्त यदि हरित और श्यामवर्ण का है तो उससे पाण्डुरोग होता है, उस स्थिति में वात पित्त के प्रभाव से चक्कर आना, तृष्णा, स्त्रियों के प्रति अरूचि, थोड़ा थोड़ा ज्वर, तन्द्रा, अग्निमान्द्य और अतिशय आलस्य - ये सभी रोग के लक्षण व्यक्त हो जाते हैं। इस रोग को हलीमक1 नाम से जाना जाता है।

पाण्डुरोग से उत्पन्न सभी उपद्रवों में शोथ प्रधान है, इसलिए शोथ का वर्णन किया जाता है। वायु कुपित होकर रक्त, पित्त और कफ को दूषित करने के कारण वह त्वक् शिरा और मांस का आश्रय लेकर, ऊँचाई पैदा करता है। सभी शोथ त्रिदोषज होते हैं, क्योंकि सूजन, वात, पित्त और कफ - इन तीनों से होती है। इसलिए जैसे वातिक, पैत्तिक,

श्लेष्मिक कारण भेद से शोथ नौ प्रकार का होता है- वातपैत्तिक, वातश्लेष्मिक, पित्त कफज, सन्निपातिक, अविघातक, विषज और एकांगज। निज और आगन्तुक भेद से ये दो प्रकार का होता है- सर्वांगज और एकांगज। विस्तृत उन्नत अग्रभाग गाँठदार होने से इसके अवान्तर तीन भेद हैं।

पित्तज शोथ पीतवर्ण, कृष्णवर्ण या रक्तवर्ण का होता है एवं यह शोषणकारी होता है। यह बहुत जल्दी शान्त नहीं होता। इस शोथ के उत्पन्न होने से पूर्व शरीर में दाह उत्पन्न होता है।

तृष्णा, दाह, ज्वर, पसीना, भ्रम, क्लेद मद- ये सभी उपद्रव इसमें होने लगते हैं। इस रोग में रोगी को शीत वस्तु की इच्छा होती है, मलभेद हो जाता है, दुर्गन्ध होती है, स्पर्श नहीं सहा जाता और कोमलता होती है। कफज शोथ में खुजली होती है। रोम और चमड़े में पीलापन, कठोरता, शीतलता, गुरूता, स्निग्धता, कोमलता, स्थिरता और पीड़ा होती है। इस रोग में निद्रा, मन्दाग्नि, वमन ये सभी उपद्रव हो जाते हैं।

आघात अस्त्र-शस्त्रादिकृत छेदन-भेदन से क्षत होने पर अभिघातज शोथ होता है। शीतल वायु तथा समुद्री वायु और भल्लातक-रस के लग जाने एवं केवाच इत्यादि के लग जाने से जो सूजन होती है, वह फैल जाती है। यह अत्यन्त गरम लाल रंग का और पित्तज शोथ के लक्षणों से युक्त होती है।

विषधर[1] प्राणी के किसी अंग के ऊपर से चलने पर अथवा किसी अंग में मूत्र करने पर और विषहीन प्राणी के भी दाढ़, दाँत एवं नख के द्वारा घात करने पर उस स्थान में जो शोथ उत्पन्न होता है, वही विषज शोथ है। इसके अतिरिक्त विषधर प्राणी के विष्ठा, मूत्र, शुक्र आदि से सने हुए वस्तु शरीर पर मलने से विषशोथरोग उत्पन्न होता है। विषज शोथ कोमल, गतिशील अवलम्बी शीघ्र दाह और शूल को उत्पन्न करने वाला होता है नये और उपद्रव रहित शोथ सहज होते हैं और पहले कहे हुए असाध्य होते हैं।

विसर्प रोग का निदान :-

वात, पित्त, कफ एवं अभिघात नामक दोषों से तथा पित्त रक्त एवं कफ के दूषित होने से शोथ सदृश विसर्प रोग होता है। बाह्य, अन्तः, उभय- ये उसके तीन अधिष्ठान हैं। इनमें अपने-अपने प्रकोपक तथा विदाहकारी कारणों से शरीर में शीघ्र विसर्पण कर बाहर एवं

1. च0चि0अ012, च0सू0अ018, सु0चि0अ023, गरूड पुराण अ. 172

अन्दर विकृत करके विसर्परोग शरीर के बाहर तथा अन्दर उत्पन्न करते हैं।

आन्तरिक विसर्प से हृदय आदि में उपताप होने के कारण अत्यन्त मोह तथा कर्ण-नासा आदि में विघटन होता है। प्यास की अधिकता और मल मूत्रादि में विषमता होती है। कफजन्य[1] विसर्प रोग में अत्यधिक खुजलाहट होती है। उसमें स्निग्धता बनी रहती है और कफजन्य ज्वर के समान इस रोग में भी रोगी को कष्ट भोगना पड़ता है।

सन्निपातज विसर्प होने पर रक्त वातादि सभी दोषों के लक्षण प्रकट हो जाते हैं। इन सभी प्रकार के विसर्प-भेदों की उपेक्षा कर देने पर ये यथाक्रम अपने-अपने दोषों के लक्षणों से समन्वित होकर फुंसियों के रूप में उभर आते हैं। ये जब पककर फूट जाते हैं तब अपने-अपने लक्षणों में उक्त व्रण का रूप धारण कर लेते हैं।

वात-पित्तज विसर्परोग में रोगी को ज्वर, वमन, मूर्च्छा, अतिसार, प्यास, भ्रम, हड्डी टूटना, अग्निमान्द्य, तमक, श्वास और अरूचि का उपद्रव ग्रस्त कर लेता है। यह रोग प्रज्जवलित अग्नि के अंगार के समान रोगी के सम्पूर्ण अंग को संतप्त कर देता है। यह विसर्प शरीर के जिन-जिन स्थानों पर फैलता है, वे स्थान बुझे हुए अंगार के समान काले, नीले तथा रक्तवर्ण के हो जाते हैं। अपने स्फुटित व्रणों के द्वारा यथाशीघ्र ही अग्नि से दग्ध हुए स्थान के सदृश विस्तृत क्षेत्र में फैल जाता है। शीघ्रगामी होने के कारण विसर्प मर्मस्थल तक पहुँच जाता है। इस रोग में वायु प्रबल हो जाता है और वह प्रकुपित होकर सम्पूर्ण अंगो को पीड़ित करता है तथा रोगी को चेतना शून्य कर देता है। उसके प्रभाव से रोगी की निद्रा भी समाप्त हो जाती है। उसकी श्वसन क्रिया में विकार आ जाता है। ऐसे रोगी को हिचकी भी आने लगती है। इस प्रकार के रोगी में रोगी की ऐसी अवस्था हो जाती है कि वह पीड़ा से ग्रस्त हो उठता है तो उसको अत्यन्त व्याकुलता की अनुभूति होती है भूमि, शय्या तथा आसन आदि पर उठने-बैठने और लेटने से उसको तनिक भी शान्ति प्राप्त नहीं होती। इस रोग से ग्रस्त रोगी उससे विमुक्त होने के लिए विभिन्न प्रकार की चेष्टा करता है, किन्तु उस कष्ट से विमुक्त नहीं हो पाता। ऐसा रोगी मन और शरीर दोनों से शिथिल होकर ऐसी गम्भीर मूर्च्छा को प्राप्त कर लेता है, जिससे पुनः चेतना में उसको लौटना बड़ा ही दुःसाध्य होता है। इन लक्षणों से युक्त विसर्प को अग्नि विसर्प कहा जाता है।

कफ से अवरूद्ध वायु उस अवरोधक कफ का बहुत प्रकार से भेदन कर देती है, तब ग्रन्थिमाला तैयार हो जाती है, अथवा जिस रोगी का रक्त बढ़ जाता है, उसके त्वचा, शिरा, स्नायु तथा मांसगत रक्त को दूषित करके वह वायु लम्बी, छल्लेदार, स्थूल और खरदरी

1. च0चि0अ021, सु0नि0अ010, अ0हृ0नि0अ013

ग्रन्थियों की रक्तभरी माला की सृष्टि करती है। इसके कारण रोगी को तीव्र पीड़ादायक ज्वर होता है। यह रोग होने पर रोगी श्वास, खाँसी, अतिसार, मुखशोथ, हिचकी, वमन, भ्रम, मोह, वर्णभेद, मूर्च्छा अंगभेद और अग्निमान्द्य के दोष से भी घिर जाता है। इस प्रकार कफ और वायु के संक्षोभ से उत्पन्न इस रोग को ग्रन्थिविसर्प कहते हैं।

कफ और पित्त के प्रकुपित होने से रोगी के ज्वर, स्तम्भन, निद्रा, तन्द्रा शिरोवेदना, विक्षेप, प्रलाप, अरूचि, भ्रम, मूर्च्छा, अग्निमान्द्य, अस्थिभेद, प्यास, इन्द्रियजनित, जड़ता, आँव निर्गमन तथा रसादिक स्रोतों का लेप- ये लक्षण दिखायी देते हैं। प्रायः यह दोष आमाशय के एक देश में होता है और धीरे-धीरे अन्य भागों में फैलता जाता है, परन्तु इसमें दर्द नहीं होता। यह अत्यन्त पीला, लोहित और पाण्डु रंग की पिण्डिकाओं से भर जाता है। इसके स्वरूप की कान्ति कृष्ण और मलिन मानी गयी है। यह रोग शोथ से युक्त और भारी होता है। यह स्पर्श करने में अधिक उष्मा से समन्वित अनुभूत होता है। इसमें पसीने जैसी चिपचिपाहट होती है। जब यह पककर फूटता है तो इसमें मांस गलगलकर नये रूप में निकलने लगता है। शरीर की स्नायु तथा शिराएँ स्पष्ट रूप से दिखायी देने लगती हैं। इस प्रकार सभी लक्षणों से युक्त हुआ यह विसर्प रोग अन्ततोगत्वा शरीर की त्वचा से सम्प्रक्त हो जाता है, जिसके कारण यह बाह्य भाग में दिखायी देने लगता है। इस रोग स्थान से शव के समान दुर्गन्ध निकलती है। विद्वानों ने इसको कर्दम विसर्प रोग के नाम से अभिहित किया है।

बाह्य आघात आदि के कारण क्षत हुए शरीर से क्रुद्धवायु[1] पित्त को समन्वित करता हुआ कुल्थी के दानों के समान स्फोटजनित विसर्प को जन्म देता है। इसमें शोथ ज्वर पीड़ा, दाहाधिक्य, श्याम और रक्तवर्ण का लक्षण भी दिखायी पड़ता है। पृथक-पृथक वात-पित्त आदि इन्द्रजनित दोष से समन्वित विसर्प यदि उपद्रव से रहित है तो वे सभी यथोपेक्षित चिकित्सा से दूर किये जा सकते हैं, किन्तु जो विसर्प समस्त दोषों से युक्त हों जाते है। और जिनका आक्रमण रोगी के मर्मस्थल[2] को आहत करने में सफल हो जाता है, जिसके दुष्प्रभाव से रोगी के शरीर का स्नायु, शिरा और मांस गल जाता है और जिनसे शव के समान दुर्गन्ध आने लगती है- वे विसर्प रोग असाध्य हो जाते हैं, उनकी चिकित्सा सम्भव नहीं है।

कुष्ठ रोग का निदान :-

मिथ्या एवं विरोधी आहार-विहार करने से तथा सज्जनों की निन्दा एवं अपमान और

1. सु0नि0अ010, च0चि0अ021
2. च0चि0अ023, अ0हृ0नि0अ0 14

वध या हत्या करने से, दूसरों के धन-सम्पत्ति के हरण एवं पाप कृत्य से पूर्वजन्मकृत पाप का उदय होने से वातादि दोष कुपित होकर शिराओं में जाकर त्वचा, लसीका, रक्त एवं मांस को दूषित और अंगों की क्रिया-हानि करके वे दोष बाहर आकर त्वचा पर विविध प्रकार के कुष्ठ[1] को उत्पन्न करते हैं।

सामयिक उपेक्षा करने पर यह रोग आभ्यन्तरिक समस्त कोष्ठकों के सहित शरीर में व्याप्त होकर बाहर और भीतर रहने वाली सभी धातुओं को गलाकर अपना अधिकार कर लेता है। इस रोग में पसीने के जलबिन्दुओं से युक्त प्राणी के शरीर पर कुछ आर्द्रता होती है। इसमें अत्यन्त कष्टदायक बहुत ही छोटे-छोटे कीड़े होते हैं। इन सभी लक्षणों से युक्त यह रोग क्रमशः रोगी के रोम, त्वचा, स्नायु तथा धमनियों पर आक्रमण करता है।

बाह्यभाग में फैला हुआ कुष्ठ रोग प्राणी के उस आक्रान्तित शरीर को भस्म से आच्छादित हुए के समान रूक्ष बना देता है। वात, पित्त, श्लेष्म, वातपित्त, वातश्लेष्म, पित्तश्लेष्म और सन्निपात दोषजन्य प्रभाव से यह रोग सात प्रकार का होता है। इन सभी प्रकार के कुष्ठ-भेदों में वात-पित्त तथा कफज दोष के अन्तर्गत प्राप्त होने वाली विकृति अधिक रहती है।

वात दोष से कापाल, पित्त दोष से उदुम्बर, कफ दोष से मण्डल तथा विवर्चिका नामक कुष्ठ उत्पन्न होता है। वात पित्तज दोष से ऋक्ष, वातश्लेष्मजन्य दोष से चर्म, एककुष्ठ, किटिम, सिंघ्म, अलसक तथा विपादिका नामक कुष्ठ होते हैं। श्लेष्मपित्तजन्य दोष से दद्रु, शतारूपी, पुण्डरीक, विस्फोट, पामा और चर्मदल नामक कुष्ठों की उत्पत्ति होती है। इन सभी दोषों की सन्निपात अवस्था आने पर 18 प्रकार के कुष्ठ रोग उत्पन्न होते हैं।

कापाल, उदुम्बर तथा मण्डल- ये तीन और दद्रु, काकण, पुण्डरीक तथा अरिजिह्वा नामक इन सात कुष्ठों को महाकुष्ठ माना गया है। शेष ग्यारह क्षुद्र कुष्ठ कहलाते हैं।

कुष्ठरोग[2] होने के पूर्व रोगी की त्वचा में अत्यन्त चिकनाहट, रूक्षता, स्पर्शता, स्वेद, अस्वेद, वर्णभेद, दाह, खुजली, स्पर्शानुभूति की कमी, सुई चुभाने से होने वाली पीड़ा के समान कष्ट पित्ती का उछलना और अनायास श्रम की अनुभूति रोगी के घावों में अत्यधिक पीड़ा, व्रणों का यथाशीघ्र उद्भव, अधिक समय तक इन व्रणों का रहना, व्रण भराव के समय रूक्षता,

1. सु0नि0अ0 5

2. सु0नि0अ05, च0चि0अ05,7, अ0हृ0नि0अ0 14, वा0नि0 7

सामान्य तथा थोड़े से कारण पर रोगी को अत्यधिक क्रोध, रोमांच तथा रक्त का काला होना– ये दोषपूर्ण कुलक्षण दिखायी देते हैं।

कापाल कुष्ठ का वर्ण काला और लाल होता है अथवा आँवे में पकाये गये मिट्टी के खप्पर के सदृश वह देखने में लगता है। उसमें रूक्षता और कठोरता होती है। इस कुष्ठरोग की आकृति शरीर के अधिक भाग में फैली रहती है।

उन स्थानों में रहने वाले रोम समूह भी दूषित हो जाते हैं। उन दूषित स्थानों पर सूचिका भेदन से होने वाली पीड़ा के समान अत्यधिक पीड़ा भी होती है। वह कुष्ठ विषम अर्थात् दुःसाध्य माना गया है।

जो कुष्ठरोग उदुम्बर अर्थात् गूलर फल के समान दिखायी देता हो, उसको औदुम्बर कुष्ठरोग कहना चाहिए। इसकी आकृति वर्तुलाकार होती है। इसमें अत्यधिक गीलापन, दाह और पीड़ा होती है। जिस प्रकार बिना छानी गयी मदिरा का वर्ण होता है, जिसमें छोटे–छोटे कीड़े भरे रहते हैं; वैसे ही सामान्य पके हुए उदुम्बर का फल पीत और लाल होता है; उसी रूप में इस कुष्ठरोग का वर्ण स्वीकार करना चाहिए। इसमें रोगजन्य कृमि रहते हैं, जिसके कारण उस व्रण में खुजली भी होती है।

जो कुष्ठ स्थिर, गोल, भारी, चिक्कण, श्वेत या रक्त वर्ण वाला और मलसमन्वित हो, उसके वर्ण परस्पर मिले हों, उसमें अत्यधिक खुजलाहट उत्पन्न करने वाले कृमि हों, उनसे पीव निकलता रहे तथा वह चिकने, पीत वर्ण की आभा से युक्त मण्डल के समान दिखायी देता हो तो उसको मण्डल कुष्ठरोग कहा गया है।

खुजलाहट से भरी हुई फुँसियों वाले धूसर वर्ण से युक्त और स्राव समन्वित कुष्ठ का नाम विचर्चिका कुष्ठ है। जो कुष्ठ कर्कश होता है, जिसके किनारे पर लाल वर्ण और बीच में काला वर्ण विद्यमान रहता है, जिसकी आकृति ऊँची और रीक्ष अर्थात् भालू की जिह्वा के समान होती है, जिसमें बहुत से कृमि भी होते हैं; उसको आयुर्वेद में ऋष्यजिह्वा या ऋक्षजिह्वा कुष्ठ के नाम से अभिहित किया गया है।

हाथी के चमड़े के समान रोगी का खरखराहट भरा चमड़ा होने पर गजचर्मकुष्ठ कहा जाता है। जो कुष्ठ पसीने से रहित मछली के शल्क (अभ्रकवत्–चर्म) के सदृश होता है, उसे एककुष्ठ कहते हैं। जो कुष्ठ रूखा, अग्नि के समान वर्ण वाला या काला, स्पर्श करने में कष्टकारी, खुजलाहट से युक्त तथा कठोर होता है वह किटिम कुष्ठ माना गया है। सिध्म कुष्ठ अर्न्तभाग से रूक्ष और बाह्यरूप में स्निग्ध होता है। इसके आभ्यान्तरिक भाग को रगड़ने से बालू के कण के समान रज गिरता है। इस रोग के होने पर शरीर का स्पर्श करने से

चिकनाहट का अनुभव होता है। इसमें स्वच्छता होती है। इसकी वर्णाकृति काले पुष्प के समान दिखायी देती है, यह कुष्ठ प्रायः शरीर के ऊपरी भाग में होता है।

अलंशुका (अलसक) कुष्ठ में खुजली और लाल रंग की पीड़िका होती है। विपादिका कुष्ठ में हाथ और पाँव फट जाते हैं। अत्यन्त वेदना और खुजली होती है तथा लाल वर्ण की फुंसियां हो जाती हैं। जिस कुष्ठ में दद्रु या दाद दूर्वा के समान बहुत जगह में फैल जाता हो, तथा अलसी के फूल के सदृश कान्ति दिखायी देती हो और ऊँचे-ऊँचे गोल चकत्ते हों, ऐसा खुजलाहट से परित्याग कुष्ठ दद्रु या दाद कुष्ठ कहलाता है।

अपने मूल भाग में स्थूल, दाह और वेदना से समन्वित रक्त स्राव वाले प्रचुर व्रणों से युक्त कुष्ठरोग का नाम शतरूपी है। इस प्रकार के कुष्ठरोग में दाह, क्लेद और वेदना होती है। यह प्रायः अस्थि के जोड़ों में होता है। जिस कुष्ठ में कुष्ठ-स्थान का मण्डल रक्त से भरा हुआ तथा पाण्डु वर्ण का होता है, उसमें दाह और खुजलाहट - भरी पीड़ा भी होती है, खिले हुए रक्तवर्ण और जल से संसिक्त पुण्डरीक - दल अर्थात् श्वेत कमल की पंखुडियों के समान शरीर पर उभरा हुआ और व्रण के किनारे पद्मपत्र की जल बिन्दुओं से युक्त मांस वाले दिखायी देते हैं, उसे पुण्डरीक कुष्ठ कहते हैं। विस्फोटक कुष्ठ पतले-चमड़े से ढ़का होता है तथा सफेद और लाल फुंसियों से व्याप्त होता है।

पामा नामक कुष्ठ पककर फूटने वाली छोटी-छोटी असंख्य फुंसियों से भरा होता है। इसमें खुजली मलस्राव और वेदना होती है। प्रायः इसका वर्ण श्याम और लाल होता है। इसमें रूक्षता होती है। यह रोगी के कूल्हे, चूतड़ और हाँथ के रोम छिद्रों में होता है। चर्मदल नामक कुष्ठ फोड़ा, फुंसी के रूप में उभरकर फफोले पड़कर फूटता है, यह किये गये स्पर्श को सहन करने में समर्थ नहीं होता। इसमें खुजलाहट होती है, रक्तस्राव होता है, जलन भी होती है और मांस गलकर गिरता है।

काकण नामक कुष्ठ में अत्यन्त दाह और तीव्र वेदना होती है। मुंजाफल के समान यह पहले लाल और काले अनेक रंग का होता है। अपने-अपने कारणों से सब कुष्ठों के लक्षण इसमें पाये जाते हैं।

दोष[1] भेद के अनुसार त्रिदोषों में जो दोष कुष्ठ में अधिक विहित हों, उसी के लक्षण और कर्म के अनुसार त्रिदोषज कुष्ठ का स्वरूप समझना चाहिए। जो कुष्ठ भेद अपने ही दोष का अनुमान करता है अर्थात् वह द्वन्द्वज दोष या सन्निपातज दोष से संपृक्त नहीं होता तो उसकी चिकित्सा सम्भव है किन्तु जब वह सभी दोषों से परिव्याप्त हो जाता है तो उसकी

1. सु0सू0अ012, गरूण पुराण अ0 164

चिकित्सा नहीं करनी चाहिए, वह असाध्य हो जाता है।

उपर्युक्त जितने भी कुष्ठ हैं, उनमें से जो कुष्ठ अस्थि, मज्जा और शुक्राणुओं में प्रविष्ट हो गया है, वह कुष्ठ भी असाध्य है। जो कुष्ठ मेदागत है और जो स्नायु, अस्थि एवं मांस में पहुँच गया है वह अधिक कष्टसाध्य नहीं है। जिस कुष्ठ का जन्म कफ और वात के कारण त्वचा पर ही होता है, जिसमें विशेष दोष नहीं रहता, वह कष्टसाध्य नहीं होता। सामान्य चिकित्सा से ही उसकी शान्ति हो सकती है।

त्वचा भाग पर ऐसे कुष्ठ के उभर आने से शरीर का वर्ण बदल जाता है, उसमें रूक्षता आ जाती है। तदन्तर जब वह कुष्ठ रक्त और मांस में प्रविष्ट हो जाता है तो रोगी के शरीर में स्वेद, ताप तथा शोथ के लक्षण उभर आते हैं। रोगी के हांथ और पैर में फोड़े हो जाते हैं। शरीर के सन्धि भागों में अधिक पीड़ा होती है। दोषाधिक्य होने पर वह मेदा में पहुँच जाता है, जिसके कारण उसमें उपद्रव होने लगता है। रोगी की इन्द्रियों में संज्ञाशून्यता बढ़ जाती है अर्थात् वह चलने फिरने में अशक्त हो जाता है। रोगी के शरीर की मज्जा और अस्थि में जब वह कुष्ठ पहुँच जाता है तो उसके नेत्रों की ज्योति तथा वाणी के स्वरों में भेद उत्पन्न हो जाता है।

कुष्ठरोग के कृमियों के द्वारा रोगी के वीर्य में विकार उत्पन्न हो जाने पर वह दोष स्त्री और संतान के लिए बाधायुक्त हो जाता है। रस-रक्तादि धातुगत कुष्ठों में अपने-अपने लक्षणों के अतिरिक्त यथापूर्व धातुगत कुष्ठों के लक्षण भी हो जाते हैं।

शिवत्र और कुष्ठ इन दोनों रोगों की उत्पत्ति का कारण एक ही है और इनकी चिकित्सा भी एक ही है। इसी को किलास तथा दारूण भी कहते हैं। इनमें अन्तर यही है कि कुष्ठ सन्निपातिक है और शिवत्र अलग-अलग दोषों से उत्पन्न होता है। कुष्ठ स्रावी है और शिवत्र अपरिस्रावी। कुष्ठ रसादि सातों धातुओं पर आक्रमण करता है और शिवत्र रक्त मांस तथा मेद-इन तीन धातुओं का आश्रय ग्रहण करता है।

वातज और आभ्यान्तरिक रूक्षता के कारण उत्पन्न हुआ शिवत्र कुष्ठरोग अरूण वर्ण का होता है। जब वह पित्तज दोष के कारण जन्म लेता है तो उसका वर्ण पद्मपत्र के समान या ताम्रवत होता है। यह दाहयुक्त या रोग विनाशक होता है। कफज दोष के कारण उभरा हुआ शिवत्र श्वेतवर्ण, सघनभारी और खुजली से युक्त होता है।

ये शिवत्र क्रमशः रक्त, मांस और मेदा में पहुँचकर आश्रय ग्रहण करते हैं, अर्थात् वातज शिवत्र रक्त में, पित्तज शिवत्र मांस में तथा शिवत्र मेद में होता है।

अरूण आदि वर्ण के आधार पर ही स्वित्र के वातादिक दोष तथा रक्तादि आश्रय दोनों ही जाने जाते हैं। उत्तरोत्तर इनकी चिकित्सा कष्टसाध्य होती है अर्थात् यह श्वित्र रोग जब तक रक्ताश्रित होता है, तब तक इसकी चिकित्सा सम्भव है। मांसगत होते ही यह कष्ट साध्य हो जाता है, और उसके बाद तो जब यह मेदा में पहुँच जाता है, तब अत्यन्त कष्टसाध्य हो जाता है।

जो श्वित्र कृष्ण वाले रोमों से भरा हुआ होता है, उसके दाग एक दूसरे से संश्लिष्ट नहीं होते। वह अधिक समय का न होकर नया ही होता है और उसका जन्म अग्नि से जलने के कारण नहीं हो तो उसे चिकित्सा साध्य समझना चाहिए। इन लक्षणों के विपरीत होने पर इसका उपचार करना चिकित्सक के लिए त्याज्य है, क्योंकि यह असाध्य हो जाता है। रोगी के गुहाभाग, करतल और ओष्ठ प्रदेश में तो यथाशीघ्र भी उत्पन्न हुआ यह रोग असाध्य बन जाता है। यश प्राप्त करने के इच्छुक वैद्य को तो किलास नामक श्वित्र-भेद की चिकित्सा को सर्वथा त्याग देना चाहिए, क्योंकि उसका उपचार सम्भव नहीं है।

प्रायः सभी रोग संक्रामक होते हैं। रोगी का स्पर्श करने से उसके साथ बैठ्कर भोजन करने से, उसके साथ रहने से, एक शय्या और आसन पर उसके साथ सोने और बैठने से उस रोगी के द्वारा प्रयुक्त वस्त्र माला एवं अनुलेप-पदार्थ का प्रयोग करने से दूसरे प्राणी में रोगों का प्रादुर्भाव हो जाता है।

कृमि-निदान :-

बाह्य और आभ्यन्तर भेद के कारण कृमियों[1] के दो प्रकार हैं उनमें बाह्यगत जो कृमि (कीड़े) होते है।, उनका जन्म बाहरी मल, कफ, रक्त और विष्ठा से होता है। जन्मगत भेद के कारण उनके चार भेद हो जाते हैं, किन्तु नाम भेद से कृमियों के बीस प्रकार माने गये हैं। बाह्य कृमि बाह्य मल से उत्पन्न होते हैं। इनका परिमाण, आकार और वर्ण तिल के समान होता है। इनका निवास प्राणियों की केशराशि तथा उनके वस्त्रों में होता है। अनेक पैरों वाले उन कृमियों की आकृति सूक्ष्म होती है। नामतः उन्हें जूँ और लीख कहा जाता है इन दोनों प्रकार वाले कृमियों के द्वारा प्राणियों के बाह्य शरीर पर कोष्ठ (चकते), पीड़िका (फुंसी), कण्डू (खुजली) तथा गण्ड (गाँठ) नामक रोग कहे जाते हैं।

कुष्ठरोग का एकमात्र कारण शरीर के आभ्यन्तरिक भाग में उत्पन्न होने वाला श्लेष्मज कृमि है। यह प्राणी के बाह्य श्लेष्म में भी उत्पन्न हो सकता है।

1. वा0नि0अ014

मधुर अन्न, गुड, दूध, दही, मछली और नये चावल का भात खाने से प्राणी के आभ्यान्तरिक भाग में कफ उत्पन्न होता है, उसी कफ से उत्पन्न होकर कृमिवर्ग आमाशय में पहुँच जाता है। उसी में इस कृमि वर्ग की अभिवृद्धि होती है और उसी से निकलकर शरीर में यह सब ओर फैल जाता है। उनमें कुछ चमड़े की मोटी तांत के समान छोटे-बड़े और कुछ अणु की भाँति होते हैं। इनका वर्ण श्वेत तथा ताँबे जैसा होता है। नामतः इन कृमियों के सात प्रकार है - अन्त्राद, उदरावेष्ट, हृदयाद, महागुद, च्युरव, दर्भकुसुम और सुगन्ध।

इन कृमियों के उत्पन्न होने से प्राणी के हृल्लास, मुखस्राव (क्षार), अपच, अरुचि, मूर्च्छा, वमन, ज्वर, अनाह, कृशता, शोथ तथा पीनस नामक रोगो की उत्पत्ति होती है।

रक्तवाही शिराओं में स्थित रक्त से उत्पन्न होने वाले कृमि अणुरूप, पादविहीन, वृत्ताकार और ताम्रवर्ण के होते हैं। अपनी सूक्ष्मता के कारण उनमें से कुछ कृमि तो दृष्टिगोचर ही नहीं होते। इनके केशाद रोम विध्वंस, रोमद्वीप, उदुम्बर, सौरस तथा मातर में छः भेद हैं। इन सभी कृमियों का एकमात्र कार्य कुष्ठरोग उत्पन्न करना है।

पक्कवाशय[1] में गुदाभाग से बाहर निकलने वाले विष्ठाजन्य कृमियों का उद्भव होता है। वहीं पर बढ़कर जब ये आमाशय की ओर उन्मुख होते हैं, तब प्राणियों के डकार और श्वास में विष्ठा सदृश दुर्गन्ध आती है। वे कृमि लम्बे, गोल छोटे और मोटे होते हैं। उनका वर्ण श्याम, पीत श्वेत और कृष्ण होता है। उन कृमियों के ककेरूक, मकेरूक, सौसुराद, शूलाख्य तथा लेलिह-ये पाँच नामभेद हैं। जब ये प्रकुपित हो उठते हैं तो प्राणी के शरीर में मलभेद, शूल, विष्टम्भ, कृशता, कर्कशता, पाण्डुता, रोमांच, मन्दाग्नि और पाण्डु तथा गुदा में खुजलाहट का दोष उत्पन्न हो जाता है।

वातव्याधि निदान :-

शरीर में विशेष रूप से सर्वथा अनर्थ और विघ्नों का एकमात्र कारण न दिखायी देने वाला दुष्ट (प्रकुपित) पवन ही है। वह वायु से विश्वकर्मा, विश्वात्मा, विश्वरूप, प्रजापति, स्रष्टा, धाता, विभु, विष्णु, संहर्ता, मृत्यु और अन्तक रूप है। इसलिए उस वायु को सम रखने के लिए विशेष रूप से प्रयत्न करना चाहिए।

उस वातव्याधि शरीर से सम्बद्ध कहे गये दोष-विज्ञान में कर्म दो प्रकार का माना गया है। उनमें एक है प्राकृत-कर्म और दूसरा है वैकृत कर्म। संक्षेप में प्रतिपादित दोष-भेदों

1. सु0उ0सं0अ054, गरूड पुराण अ0 165

का विचार करके प्रत्येक कर्म के पाँच-पाँच दोष सिद्ध किये गये हैं। इनमें वैकृत कर्म दोष प्राकृत की अपेक्षा शक्तिशाली और गतिमान होता है।

शरीर की धातुओं को क्षीण करने वाले द्रव्य-पदार्थों के उपभोग तथा आचार-विचार से क्रुद्ध वायु अत्यधिक समरूप में प्रवाहमान नहीं रहता। वह रसादि के चारों स्रोतों से प्रभावित होकर पुनः उनमें तज्जनित दोषों को परिपूर्ण कर देता है। उसके बाद उन दोष पूर्ण स्रोतों से निकलकर वह संक्षुब्ध वायु उसके मुख को विधिवत् - आच्छादित करके रोगी के शरीर में शूल, आनाह, आन्त्रकूजन, मलावरोध को जन्म देता है। उसी के प्रभाव से रोगी के शरीर में अन्य ऐसे उपद्रवों का जन्म होता है जो कष्ट साध्य हैं।

आमाशय में वात-दोष होने पर वमन, श्वास, खाँसी, विषूचिका, कण्ठावरोध तथा नाभि के ऊपर भाग में अनेक व्याधियों का जन्म होता है। कुपित वायु नेत्र-कान आदि इन्द्रियों में विघ्न तथा त्वचा भाग में प्रविष्ट होकर पककर फूटने वाले फोड़े और रूक्षता का कारण बन जाती है। रक्त में वायु के प्रवेश होने से रोगी को अत्यन्त कष्टदायक पीड़ा होती है, श्वास तथा गले में जलन और स्वरभेद का रोग होता है। आँत के मध्य प्रदूषित वायु के पहुँचने पर विष्टम्भ, अरूचि, कृशता और भ्रम के रोगों की उत्पत्ति होती है। मांस और मेदा में प्रकुपित हुआ वायु शरीर में ग्रन्थि, कर्कशता, भारीपन, लाठी एवं मुष्ठि प्रहार से होने वाली पीड़ा के समान पीड़ा उत्पन्न कर रोगी को अत्यधिक कष्ट देता है। अस्थियों में प्रविष्ट हुए संक्षुब्ध वायु से सक्थि तथा संधि-स्थानों में रहने वाली अस्थियों के अन्तर्गत तीव्र शूल उठने से रोगी को कष्ट होता है।

मज्जागत कुपित वायुरोगी की अस्थियों में क्षरण एवं अनिद्रा उत्पन्न करता है, जिससे रोगी को पीड़ा होती है। शुक्रगत कुपित वायु वीर्य और गर्भ का शीघ्र पतन करता है अथवा वह विकृत हो जाता है। शिरागतवायु सिर में पीड़ा और रिक्तता का अनुभव कराता है। स्नायु स्थित क्रुद्ध वायु रोगी के शरीर में शोथ उत्पन्न कर देता है, जिसके कारण उसको अधिक कष्ट होता है।

शरीर के संधि स्थानों में प्रवाहमान प्रकुपित वायु के कारण रोगी जल से परिपूर्ण दृति (गलगण्ड), स्पर्श तथा शुष्कता के उपद्रव से ग्रस्त हो जाता है। शरीर के समस्त अंगों में कुपित वायु के प्रविष्ट हो जाने पर पीड़ा, टूटन और स्फुरण का दोष होता है। स्वप्नावस्था में विकार होने से वायु-स्तम्भन, आक्षेपण, संधिभंग तथा कम्पन का दोष प्राणी के शरीर में उत्पन्न कर देता है। जब क्रुद्ध वायु शरीर की सम्पूर्ण धमनियों में बार-बार प्रवाहित होने

लगता है तो उस समय शरीर के अंग-विक्षिप्त हो उठते हैं। इस व्याधि को आक्षेपण नाम से कहा गया है।

जब नीचे से ताडित वायु कुपित होकर ऊपर चढ़ता है और फिर ऊर्ध्वभाग की ओर प्रवाहित होने लगता है, तब वह रोगी के हृदय को पीड़ितकर सिर और मस्तक की अस्थि में पीड़ा उत्पन्न कर देता है। वह चारो ओर शरीर पर प्रहार करता है, जिससे शरीर विक्षिप्त हो उठता है। वह हनु और मुख की शक्ति को भी क्षीण करके रोगी को व्यथित करने का प्रयास करता है। रोगी बड़े ही कष्ट से श्वास लेता है ओर उसका परित्याग कर देता है। उसके दोनों नेत्र बन्द होने लगते हैं। कण्ठ से कबूतर के समान ध्वनि होने लगती है और रोगी ज्ञानशून्य होने लगता है। चिकित्सा क्षेत्र में इसका नाम उपतन्त्रक रोग है। हृदय में स्थित दोषपूर्ण वायु के द्वारा प्रेरित वह रोग जब रोगी की वाम नासिका के छिद्र में जाकर आश्रय लेता है, तब उसके कारण रोगी बार-बार स्वस्थता और बार-बार अस्वस्थता का अनुभव करता है।

अभिघातजन्य वातव्याधि (अपतानक रोग) अत्यन्त दुश्चिकित्स्य है। जब कुपित वायु ग्रीवा और पार्श्व में स्थित मन्या नामवाली दोनों शिराओं को जकड़कर और सम्पूर्ण धमनियों का आश्रय लेकर सम्पूर्ण शरीर में फैल जाती है, जिससे गर्दन तथा कक्ष की संधियाँ टेढ़ी पड़ जाती हैं और शरीर भीतर की ओर धनुष की तरह झुक जाता है, रोगी के नेत्र स्तम्भित हो जाते हैं, वह जम्हाई लेने लगता है, दाँतों को चबाने लगता है, कफयुक्त वमन करता है, दोनों पसलियों में वेदना होती है, वाणी रूक जाती है, तथा हनु पृष्ठ और मस्तक जकड़ जाते हैं, तब इसको अन्तरायाम वातरोग कहते हैं।

बहिरायाम रोग में शरीर बाहर की ओर धनुष के समान झुक जाता है। वक्षःस्थल ऊँचा हो जाता है और सिर तथा कंधा पीछे की ओर झुक जाते हैं। दाँतों तथा मुँह का रंग बदल जाता है, पसीना अधिक आता है, शरीर शिथिल हो जाता है। इस वातव्याधि को बाह्यायाम का धनुषस्तम्भ कहते हैं।

रोगी के मल, मूत्र और रक्त में प्रविष्ट हुआ वात-दोष सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त होकर शरीर में अनेक प्रकार के दोष उत्पन्न करता है। इस रोग को व्रणायाम कहते हैं। जिस व्रणायाम रोग में रोगी को अत्यन्त तृषा हो और उसका शरीर पीला पड़ गया हो, वह असाध्य होने से वर्जित है। सभी प्रकार के आक्षेपक रोगों में वायु का वेग शान्त हो जाने पर रोगी स्वस्थ हो जाता है।

जिह्वा को अत्यधिक रगड़ने और उष्ण भोजन करने से हनु अर्थात् ठोड़ी में स्थित वायु कुपित होकर हनुभाग में स्तम्भन दोष उत्पन्न करके मुख को खोल देता है अथवा बन्द कर

देता है। इसी को वातव्याधि में हनुस्तम्भ-व्याधि कहते हैं। इसके कारण रोगी को खाने चबाने तथा बोलने में अधिक कठिनाई होती है।

कुपित वायु वाग्वाहिनी शिरा में स्थित होकर जिह्वा को स्तम्भित कर देता है। यह जिह्वास्तम्भ नामक वातव्याधि का भेद माना गया है। इसके दुष्प्रभाव से रोगी के मुख में खाने-पीने तथा बोलने चालने की सामर्थ्य नहीं रह जाती। सिर के द्वारा भार ढ़ोने, अत्यन्त हँसने और बोलने, ऊबड़, खाबड़ स्थान पर सोने तथा कठोर पदार्थो के चबाने से वायु विकार युक्त होकर शरीर में बढ़ता है और ऊर्ध्वभाग में पहुँचकर आश्रित हो जाता है। इससे रोगी का मुख टेढ़ा हो जाता है। वह ऊँचे स्वर में अट्टहास करता है तथा किसी ओर अपने नेत्रों को एकटक लगाकर ध्यानमग्न होकर देखता है। उसके बाद उसी दोष से रोगी की वाक्शक्ति शिथिल पड़ जाती है, नेत्रों में स्तब्धता छा जाती है, दांत किटकिटाते हैं, स्वरभंग हो जाता है। इन दोषों के अतिरिक्त गन्ध की अज्ञानता, स्मृतिध्वंस, भय, श्वास, थूक, पार्श्वभेद, एकनेत्र की शक्ति का ह्रास, दाढ़ के ऊर्ध्वभाग में, शरीर के आधे भाग में प्रबल वेदना होती है। कुछ लोग इसे अर्दित और कुछ एकांगदोष कहते हैं।

जब प्रकुपित वायु रक्त का आश्रय लेकर मूर्धा में स्थित शिराओं को रूक्ष, शूलयुक्त और कृष्णवर्ण का कर देता है, तब उसे शिरोग्रह दोष कहते हैं और यह असाध्य है।

जब प्रकुपित वायु शरीर को अपने अधिकार में करके उसमें निहित शिराओं तथा स्नायु-तन्त्रिकाओं को अपने अधिकार में कर लेता है और उनमें अवरोध उत्पन्न करके वह रोगी के शरीर के एक पक्ष अथवा अन्य किसी विशेष भाग पर प्रहार करता है, जिससे वह चेतनाशून्य अथवा अकर्मण्य हो जाता है। तब उस दोष को लोग पक्षाघात कहते हैं।

कुछ लोगों ने तो उसको एकांग और अर्धांग रोग और कुछ अन्य लोगों ने सर्वांगरोध (सर्वांग पक्षाघात) और जकड़न नाम रोग होता है।

जो पक्षाघात रोग केवल वात के कारण होता है, वह अत्यन्त कष्टसाध्य है। जब वह वातरोग पित्तादि अन्य दोषों के संयोग से होता है, तब कष्ट-साध्य तथा जो वातरोग धातुओं के क्षय हो जाने से होता है, वह असाध्य होने से वर्ज्य है।

कफ से युक्त वात जब आमाशय में अवरूद्ध हो जाता है तब उस समय रोगी के शरीर को वह जकड़ लेता है। उसके कारण रोगी का शरीर डंडे के समान सीधा हो जाता है। इसीलिए इसको दण्डपतानक कहा जाता है। यह सम्पूर्ण दोषों से समन्वित होने पर निश्चित ही असाध्य बन जाता है।

स्कन्ध प्रदेश के मूलभाग से उठा हुआ प्रकुपित वायु उसकी शिराओं को संकुचित करके बाहुओं की स्पन्दन-शक्ति को नष्ट कर देता है, उसे अवबाहुक रोग कहते हैं। भुजाओं के पृष्ठभाग से होकर प्रत्येक अंगुली के तलप्रदेश तक जो एक मोटी नाड़ी जाती है, उसका नाम कण्डरा है। उसमें कुपित हुआ वात उसके कर्म-सामर्थ्य को समाप्त कर देता है, उसको विषूची कहा जाता है। रोगी के कटि प्रदेश में रहने वाला वायु जब जंघा प्रदेश तक जाता है, तो अपनी उस मोटी कण्डरा नाड़ी को अक्षिप्त कर देता है अर्थात् उसे जकड़ लेता है इससे रोगी खञ्ज (लगड़ा) हो जाता है। जब दोनों जंघाओं की नसों को जकड़कर दोनों पैरों की कण्डराएँ आक्षिप्त हो उठती हैं, तब उस रोग को पंगु कहा जाता है। जब रोगी चलने में कांपने लगता है और खञ्जन पक्षी की भाँति लंगड़ाते हुए चलता है, उसके सन्धि-बन्धन शिथिल पड़ जाते हैं तो उस दोष को कलायखञ्ज नामक रोग मानना चाहिए।

जीर्ण या अजीर्ण अवस्था में शीतल, उष्ण, द्रव-पदार्थ, शुष्क, गुरू, स्निग्ध, भोज्य पदार्थ का सेवन, अधिक परिश्रम, संक्षोभ, शैथिल्य तथा अधिक जागरण करने से वात-कफयुक्त मेद अत्यधिक मात्रा में संचित होकर पित्त का पराभव करके शरीर को परिव्याप्त कर लेता है।

अन्तःश्लेष्म के द्वारा जंघाप्रदेश की हड्डियों के दोष-समन्वित होने पर स्तम्भन-रोग उन्हें ग्रसित करता है। उस समय शीत-वात दोष के प्रभाव से जंघाओं की हड्डी शिथिल पड़ जाती है। उस दोष के प्रभाव के कारण रोगी का वह अंग श्यामवर्ण का हो जाता है। उसमें जड़ता आ जाती है। रोगी तन्द्रा, मूर्च्छा, अरूचि और ज्वर के उपद्रवों से ग्रस्त हो उठता है। इस रोग को उरू स्तम्भ कहते हैं। दूसरे लोग इसको वाह्यवात भी कहते हैं।

वायु और रक्त दोनों के कुपित होने से जानु में (घुटनों के मध्य) जो शोथ उत्पन्न होता है, वह महाभयंकर पीड़ादायक रोग है। इसमें शोथ सियार के सिर के समान स्थूल माना गया है, इसलिए इसको क्रोष्टुकशीर्ष के नाम से कहा जाता है। जब ऊँचे-नीचे पीड़ादायक विषमस्थान पर पैर रखने से अथवा अत्यन्त परिश्रम से वायु कुपित होकर गुल्म (टखने) में आश्रित हो जाता है, तो उसे वातकण्टक रोग कहा जाता है।

जब पार्ष्णि भाग के सम्मुख अंगुली की शिराओं को प्रकुपित वायु पीड़ा उत्पन्न करते हुए पाँवों की गमनशक्ति नष्ट कर देती है, तब उसे गृधसी रोग कहते हैं। कफ और वायु के प्रकुपित होने से जब दोनों पैर झुनझुनाने लगते हैं और सुन्न भी हो जाते हैं, तब इस दोष को पादहर्ष कहा गया है। पित्त तथा रक्त से संश्रित वात प्राणी के दोनों पैरों में दाह उत्पन्न कर देता है, विशेष रूप से वैसी अवस्था अधिक चलने से ही आती है। वात-दोष में इस दोषभेद को पाददाह के नाम से सम्बोधित किया गया है।

अरूचि एवं उसके सेवन से वृद्धि, स्तम्भन, कम्पन और इन्द्रिय शून्यता के दोष भी आ जाते हैं।

रक्ताधिक वातरक्त-रोग में शोथ अत्यन्त पीड़ा से युक्त होता है। इसमें सूचिका-भेदजन्य पीड़ा भी होती है। इसका वर्ण तांबे के समान होता है। यह चुनचुनाता भी रहता है। इसमें ललाई रहती है तथा खुजली और क्लेद होता है। स्निग्ध पदार्थ लगाने से या उसे रूक्ष रखने से शान्ति नहीं मिलती।

कफादिक वातरक्त में कठोरता, भारीपन, शून्यता, स्निग्धता, शीतलता, खुजली और मन्द पीड़ा होती है। द्वन्द्वज दोष में दो तथा त्रिदोषज में तीनों दोषों के लक्षण उभरते हैं। इनमें एक दोषजन्य रोग अपेक्षित चिकित्सा से साध्य है। द्वन्द्वज दोष नामक वातरक्त रोग अथक चिकित्सोपचार के द्वारा रोका जा सकता है। किन्तु जो रोग त्रिदोषजन्य है, उसे तो छोड़ देना चाहिए। उसकी शान्ति के लिए प्रयास करना व्यर्थ है, वह असाध्य होता है। प्रकुपित वायु रोगी के शरीरस्थ अंग-विशेष के रक्त को नष्ट करके उसके संधि स्थानों में प्रविष्ट हो जाता है। तदनन्तर परस्पर एवं दूसरे को भली प्रकार से अवरूद्ध करके तज्जनित वेदना से वह रोगी के प्राणों का अपहरण करता है।

प्राण, व्यान, समान, अपान और उदान - इस पञ्चात्मक वायु समूह के बीच प्राण वायु जब रूक्षता, चञ्चलता, लंघन, अतिशय आहार, अभिघात मलमूत्रादिक वेगावरोध तथा कृत्रिम वेग- संचालन के प्रयास से कुपित होकर नेत्रादिक इन्द्रियों में उपघात करता है तो उसके कारण पीनस, दाह, तृष्णा, खाँसी और श्वासादि के रोग उत्पन्न होते हैं।

कुपित उदानवायु जत्रु (ठोढ़ी) और मूर्च्छा में आश्रय लेकर कण्ठावरोध, मलभेद, वमन, अरूचि, पीनस तथा गलगण्डादिक दोषों का जन्म देता है।

अत्यधिक दूर की यात्रा, स्नान, अतिशय, क्रीड़ा, अत्यन्त विषय-भोग की चेष्टा स्वास्थ्य-विरूद्ध व्यवहार, रूक्षता, भय, हर्ष तथा विषाद कारण प्राणी के शरीर में स्थित व्यान नामक वायु दूषित हो उठता है। तदन्तर1 वह रोगी के पुंसत्व (पुरूषत्व) उत्साह और शक्ति का ह्रास कर देता है। उसके चित्त में शाक तथा विभ्रम की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। उसे ज्वर, सम्पूर्ण शरीर में सूचिका भेद के समान वेदना, रोमांच, स्पर्शशून्यता, कुष्ठ, विसर्प और सभी अंगों में पीड़ा होती है।

स्वास्थ्य विरूद्ध अजीर्णकर, शीतल तथा संकीर्ण दोष से पूर्ण भोजन असामयिक शयन और जागरण आदि से समान नामक वायु दूषित हो जाता है। इसके प्रकुपित होने से शूल गुल्म, ग्रहणी, आदि सामान्य यकृतजन्य तथा वामाश्रित रोगों की उत्पत्ति होती है।

अत्यन्त रूक्ष तथा भारी अन्न के सेवन मल-मूत्र का वेग रोकने, अतिशय भार ढ़ोने, वाहनवी अधिक सवारी करने, मदिरापान, अत्यधिक देर तक खड़े होने तथा अधिक घूमने फिरने से अपानवायु कुपित हो जाता है। वह प्रकुपित वायु प्राणी के शरीर में पक्वाशय से आश्रित समस्त रोगों को उत्पन्न करता है। इसके अतिरिक्त रोगी के शरीर में मूत्र, वीर्य, अर्श तथा मलावरोध आदि से सम्बन्धित बहुत से रोग प्रकट हो जाते हैं।

तन्द्रा, स्तिमिता, गुरुता, स्निग्धता, अरूचि, आलस्य, शैत्य, शोध, अग्निमान्द्य, कटु और रूक्ष पदार्थों की अभिलाषा आदि लक्षणों से युक्त वायु को साम अर्थात् आम सदृश कहते हैं। जिसमें तन्द्रा आदि के विपरीत लक्षण होते हैं, वह वायु निराम कहलाता है।

साम-निराम के लक्षण बताकर अब वायु के आवरण और भेदों का वर्णन किया जाता है। पित्तदोष से आवृत वात-विकार होने पर दाह, तृष्णा, शूल, भ्रम और आँखों के आगे अन्धकार छा जाता है। कटु, उष्ण, अम्ल तथा लवण के प्रयोग से रोगी में विदाह और शीत की अभिलाषा बढ़ जाती है। कफावृत वात-विकार में रोगी शीतल रूक्ष और उष्ण भोजन करने का इच्छुक होता है। उसको शीतलता भारीपन, शूल, लंघन, अग्निदाह, कटु, घृतयुक्तमुख तथा अधिक तृष्णा के दोष घेर लेते हैं। इस कफावृत रोग में अंग-दर्द, उबकाई अरूचि भी होती है।

रक्ताकृत वातरोग होने पर रोगी के चर्म तथा मांस में दाह और पीड़ा अधिक होती है। रोगी के शरीर में लाल वर्ण का शोथ हो जाता है और मण्डलाकार चकत्ते पड़ जाते हैं। वायु के मांसाश्रित होने पर शोथ बड़ा कठोर लगता है। उस रोगी को उबकाई आती है और शरीर में छोटी-छोटी फुंसियाँ निकलने लगती हैं। ऐसे शोथ में रोमांच भी होता है और शरीर चीटियों से व्याप्त हुए के समान प्रतीत होता है। भेद से आवृत्त वायु-विकार में यह शोथ शरीर में चलायमान मृदु तथा शीतल होता है और अरूचिकर भी होता है। मेदा से आवृत वात अन्य वातरोगों की अपेक्षा अत्यन्त कष्टसाध्य है। इसको आढ्यवत के समान समझना चाहिए। इस रोग के होने पर उत्पन्न हुआ शोथ स्पर्श तथा आच्छादन करने से उष्ण तथा आवरण हटा देने पर शीतल लगने लगता है।

वायु के मज्जावृत शोथ होने पर उक्त लक्षण के विपरीत लक्षण दिखायी देते हैं। उसमें फैलाव और कसाव होता है, शूलजनित पीड़ा होती है। तथा दोनों हाथों से मर्दन करने पर रोगी को सुख प्राप्त होता है।

शुकावृत वात-शोथ होने पर शुक्र में अधिक वेग नहीं रह जाता। वायु के अन्न से आवृत्त होने पर भोजन करने पर रोगी के कुक्षिभाग में पीड़ा होती है और भोजन के पच जाने पर पीड़ा शान्त हो जाती है। मूत्र से वायु के आवृत हो जाने पर मूत्र का निकलना बन्द

हो जाता है और वस्थि स्थान में वेदना होने लगती हैं। वायु के द्वारा पुरीष के आवृत्त होने पर गुह्य भाग में विशेष प्रकार का विवन्ध हो जाता है। आरे से काटने पर होने वाली पीड़ा के समान रोगी को पीड़ा होती है। ऐसे वातरक्त दोष के आवरण में रोग में ज्वर से पीड़ित रोगी यथाशीघ्र धराशायी होकर मूर्च्छित हो जाता है। विवन्ध द्वारा पीड़ित होकर सूखा हुआ बड़ी कठिनता से बहुत देर में निकलता है।

वायु द्वारा सभी धातुओं के आवृत्त होने पर रोगी के कटि प्रदेश, वंक्षण और पीठ में पीडा होती है। विलोम भाव को प्राप्त हुआ वायु रोगी के हृदय को पीड़ित करता है। पित्तज दोष से प्राणवायु से आवृत्त होने पर भ्रम, मूर्च्छा, पीड़ा तथा दाह का उपद्रव रोगी के शरीर में होता है।

पित्त से व्यानवायु के आक्रान्त होने पर पीड़ा तन्द्रा, स्वरभ्रंश और सम्पूर्ण शरीर में दाह की उत्पत्ति होती है। समानवायु के आवृत होने पर क्रमशः अंगचेष्टा, अंगभंग, वेदना सहित, संताप, तापविनाश, पसीना, रूक्षता और तृष्णा का उपद्रव होता है। अपानवायु के आवृत्त होने से रोगी के शरीर में दाह होता है और उसके मल का वर्ण हल्दी के समान पीला हो जाता है। स्त्रियों में रजवृद्धि (या रोगवृद्धि), ताप, आनाह, तथा प्रमेह नामक रोग भी उसके शरीर में जन्म ग्रहण कर लेते हैं।

श्लेष्म के द्वारा प्राणवायु के आवृत्त होने पर नादस्रोत में अवरोध, खखार, स्वेद, श्वास तथा निःश्वास, इनमें विविधता होती है। उदानवायु के कफ से आवृत्त होने पर शरीर में भारीपन, अरूचि, वाक्रोध, स्वरक्षय, बल और वर्ण का नाश होता है। व्यानवायु के कफ से आवृत होने पर पर्व और अस्थियों में जकड़न, सम्पूर्ण शरीर के भारीपन, अत्यधिक स्थूलता आ जाती है। समान वायु के कफ से आवृत होने पर कर्मेन्द्रियों में अज्ञानता, शरीर में पसीने की कमी, अग्निमान्दता तथा अपानवायु के कफ से आवृत होने पर मल-मूत्र की अधिक प्रवृत्ति होती है।

इस प्रकार वातरक्त रोग बाइस प्रकार का माना गया है। क्रमशः प्राणादि, वायु परस्पर आक्रान्त होने से बीस प्रकार के आवरण होते हैं। प्राणवायु, जब अपानवायु, को आवृत कर लेता है, तब उबकाई, श्वासरोध, प्रतिश्याय, शिरोग्रह, हृदयरोग और मुखशोष- ये उपद्रव होते हैं। उदानवायु के द्वारा प्राणवायु के आवृत होने पर रोगी की शक्ति का विनाश होता है। वैद्य को यथोचित विचार करके ही सभी प्रकार के वात-आवरणों के भेद को जानना चाहिए। सभी वात दोषों के स्थानों की विवेचना करके उसके दुष्ट कर्मो की वृद्धि और हानि पर चिन्तन करके ही आवरणों का विभाग समझना चाहिए।

प्राणादिक पाँचो वायु-समूहों के (पृथक्-पृथक) पित्तदोषजन्य आवरण होते हैं। वातमिश्रित, पित्तादि के दोषों के कारण वे भी अनेक प्रकार के आवरण रोग माने गये हैं। अतः विद्वान चिकित्सक सचेत होकर अपने लक्षण-ज्ञान के अनुसार उन दोषों का चिन्तन करें।

अध्याय पञ्चम्

सन्दर्भित पुराणों में पदार्थों का औषधीय शोध

अध्याय पञ्चम्
सन्दर्भित पुराणो में पदार्थो का औषधीय शोध

१. सन्दर्भित पुराणो में विभिन्न मानव रोगो की औषधियाँ :-

ज्वर अतिसार आदि रोगो का उपचार :-

वातज, पित्तज, कफज, वातपित्तज, वातकफज, पित्तकफज, सन्निपातज, और आगन्तुज, रुप में आठ प्रकार का(पित्तपापड़ा) उशीर (खस), चन्दन उदीत्यनागर (सोंठ) के सहित जल को पाकर तैयार किया गया शीतल क्वाथ ज्वर जनित प्यास की शान्ति के लिए देना चाहिए । नागर, देवदारू, धान्यक, बृहत्तीद्वय और कण्टकारी का क्वाथ ज्वर रोगो को सबसे पहले देना चाहिए। आरग्बध (अमलतास) अभया (पिप्पलीमूल) मुस्त (मोथा) अतितिक्ता (कुटकी) तथा ग्रन्थिक (हरीतकी) द्धारा जल मे पकाकर तैयार किया गया क्वाथ उद्वेग, शूल और ज्वर में हितकारी है। मधुकसार (मधु), सेधानमक, वच काली मिर्च और पिप्पली इन सभी को समान मात्रा जल के साथ महीन पीसकर कपड़छान कर लेना चाहिए।

इसका नस्य देने से ज्वर के प्रभाव से मूर्छित हुआ रोगी होश में आ जाता है। त्रिवृद्धिशाला (निसोत इन्द्रायण) त्रिफला कुटकी और अमलतास से बने हुए क्वाथ में सेधानमक डालकर उसको पीने से सभी प्रकार का ज्वर विनष्ट होता है। सोठ, मोथा, रक्तचन्दन, खस, तथा धान्यक (धनिया) से बने क्वाथ में शर्करा और मधु मिलाना चाहिए। इसका पान करने से तृतीयक (तिजरिया) ज्वर विनष्ट हो जाते है।

रविवार को अपामार्ग (चिचडे) की जड़ लाल सूत्र से बाँधकर कमर में सात बार घुमाकर बाँधने से निश्चित ही इस तिजरिया ज्वर का नाश होता है। गङ्गया उत्तरे कूले अपुत्रस्तापसो मृतः (गङ्गा के उत्तरी तट पर पुत्रविहीन तपस्वी ब्राह्मण की मृत्यु हो गयी है।) कहकर उसे तिलोंदक देना चाहिए। ऐसा करने से एक आह्निक ज्वर रोगी को छोड़ देता है।

गुडूची (गिलोय) का क्वाथ और कल्क द्राक्षा और बला (वरियारा) का क्वाथ और कल्क से सिद्ध घृत सभी प्रकार के ज्वरो का विनाशक है। आँवला हरीति की और पिप्पली चिता सभी प्रकार के ज्वरो को विनष्ट करने वाला है। पृश्निवर्णी (पिठवन लता) बला, बिल्व सोठ, कमल, धान्यक पाठा, इन्द्रयव, भूनिम्ब (चिरायता), मुस्त तथा पर्पटक से बना हुआ क्वाथ आमातिसार तथा ज्वर को विनष्ट करता है।नागर, अतिविषा (अतसी या अलसी) मुस्त, भूनिम्ब (चिरायता) और अमृतवत्सक से बना हुआ क्वाथ सभी ज्वर तथा सभी अतिसार रोगों का नाशक है। मुस्त पित्तपापडा और सोठ मिश्रित दूध भी अतिसार रोगो का विनाश करता है। शालपर्णी, पृश्निपर्णी, बृहती कण्टकार, बला, गोखंरू, बिल्व, पाठा, तथा धनिया का क्वाथ सभी प्रकार के रोगो में हितकारी होता है। बिल्व और आम की गुठली के क्वाथ का मिश्री तथा

मधु के साथ सेवन अतिसार नाशक है। अतिसार में कुटज वृक्ष का छाल भी हितकारी होता है। इन्द्रयव, अलसी सोंठ और पिप्पलीमूल का क्वाथ प्रयोग से आमशूल से युक्त खूनी अतिसार में लाभ होता है।

ग्रहणी जठराग्नि को विनष्ट कर देती है। चित्रक अर्थात् चित्ता के द्वारा बने हुए क्वाथ और कल्क के साथ पका हुआ घृत ग्रहणी रोग का विनाशक है । यह गुल्म, शोथ उदर, प्लीहा शूल तथा अर्श रोग को भी नष्ट कर देता है। इसके सेवन से पेट की अग्नि प्रदीप्त हो उठ्ती है। सौवर्च (काला नमक) सैन्धव (सेंधानमक) बिडंग (लवण विशेष) उद्भिद (रेह) और समुद्र फेन इन पाँचो लवणों के सामान भाग में मिश्रित चूर्ण का प्रयोग करने से लाभ होता है।

शस्त्र, क्षार तथा अग्नि इस विविध चिकित्सा के द्वारा अर्श रोग का विनाश होता है। यदि नया तैयार किया गया तक्र हो तो उसको भी अर्श विनाशक ही मानना चाहिए। घी में भूनी गुडूची पिप्पली और हरीतकी का चूर्ण अम्ल के साथ रसोत का चूर्ण खाने से भी यह रोग दूर हो ज़ाता है। तिल और ईख के रस का प्रयोग करने से अर्श तथा कुष्ठ रोग का विनाश होता है। पञ्चकोल (पिप्पली, चव्य, चीता तथा सोंठ) के साथ काली मिर्च और त्र्यूषण (सोंठ, पिंप्पली और काली मिर्च) का चूर्ण अग्निवर्धक है। सोंठ, गुड़ अथवा सेधानमक के साथ हरीतकी का चूर्ण निरन्तर खाना चाहिए। क्योंकि यह अग्निवर्धक होती है। त्रिफला, गिलोय, वासक, चिरायता, नीम की छाल और नीम की गिरी क्वाथ मधु के साथ पान करने से कामला तथा पाण्डु रोग समाप्त हो जाता है। त्रिवृत त्रिफला,श्यामा, पिप्पली शर्करा और मधु मिश्रित बना मोदक संनिपात ज्वर का विनाशक तथा रक्त - पित्तज ज्वर को भी नष्ट कर देता है। वासक (अडूसा)[1] का रस उदर भाग में पहुचने पर जीवन की आशा बनी रहती है। ऐसी स्थिति में रक्त और पित्त का क्षय होता है। तब खांसी के रोग से व्यथित प्राणी किस लिए दुखित होता है। (अर्थात वासक के रहते खासी के रोगो को जीवन से निराश नही होना चाहिए) शर्करा सें युक्त जंगली अडूसा और मृद्वीक[2] रस का बना क्वाथ पथ्य है। इसको मिश्री के साथ पान करने से कास, निःश्वास और रक्त पित्तज दोष विनष्ट हो जाता है। मिश्री अथवा मधु के साथ अडूसे का रस पान करने से रोगी रक्तज दोष पर सफलता प्राप्त कर लेता है। शल्लकी (सलाई) बेर, जामुन, प्रियाक, आम, अर्जुन, धव, नामक वृक्ष की छाल का क्वाथ, दूध और मधु के साथ पान करने से रक्त सम्बधित रोग नष्ट हो जाता है। अपने ही रस में भावित, मूल फल और पत्र सहित निर्गुण्डी का सिद्ध घृत नाप करके क्षय रोग से क्षीण हुआ

1. वासयां विद्यमानायामाशायां जीवितस्य च। रक्त पित्ती क्षयी कासी किमर्थमसीदति।

2. मुद्वीक - मुनक्का

रोगी व्याधिरहित होकर देवताओ के समान कान्तिमान हो उठता है। हरीतकी सोठ, पिप्पली, कालीमिर्च और गुड मिलाकर बनाये गये मोदक को कासनाशक कहा गया है। इसको खाने से तृष्णा एवं अरूचि का भी नाश होता है। कण्टकारी तथा गुडूची से पृथक - पृथक निकाले गये तीस- तीस पल रस में सिद्ध किया गया एक प्रस्थ घृत कासरोग का नाश और अग्नि का दीपन करता है। कृष्णा (काली पत्तियों वाली तुलसी) धात्री (आँवला) श्वेत सोंठ का चूर्ण मधु के साथ मिलाकर खाना हिक्का (हिचकी) रोग का विनाशक बन जाता है। जो प्राणी हिचकी और श्वास रोग का रोगी है, उनको विश्वा अर्थात सोंठ के साथ भार्गी (भारंगी) का रस गरम जल में पीना चाहिए। स्वरभेद होने पर मुख में तिल के तेल में सिद्ध खदिर (कत्थे) का रस रखना लाभप्रद होता है। अथवा सोंठ के साथ हरीतकी और पिप्पली का चूर्ण इस रोग में लाभकारी है। मधु के साथ विडंग तथा त्रिफला का चूर्ण बमन रोग को दूर करता है। आम और जामुन की छाल का क्वाथ मधु के साथ पान करने से सभी प्रकार के बमन नष्ट हो जाते है। यह तृष्णा को भी समाप्त कर देता है। अथवा इस रोग में मधु के साथ त्रिफला का चूर्ण ही सेवन करना चाहिए। यह औषधि तो भ्रम और मूर्च्छा को भी नष्ट दूर कर देती है। गाय के दूध, दही, घृत, मूत्र और गोमय से बना पञ्चगव्य हितकारी होता है। इसका अनुपान अपस्मार (मिरगी) और मलग्रहादि रोगो को नष्ट कर देता है। कूषमाण्ड (कुम्हडा) का रस ब्रह्मयष्टी तथा घृत के साथ पान करने से भी उक्त अपस्मार (मलग्रहादि) के रोग को दूर कर देता है। ब्रहमी, रस, वाचकुण्ड, और शंखपुष्पी के साथ प्रयुक्त पुराना धृत प्राणियो के लिए सेव्य है। क्योकि यह उन्माद, ग्रहणी और अपस्मार रोगो का विनाशक है।

अश्वगन्ध क्वाथ का कल्क बना कर उसमें चौगुना दूध डालकर पकाना चाहिए। तदनन्तर उस योग में घृतपाक तैयार करके उसका सेवन करें। यह घृत वातनशक बलमांस वर्धक और पुत्रोत्पादक होता है। नीली (नील) और मुंण्डी का चूर्ण मधु एवं घृत के साथ मिलाकर सेवन करने से अथवा छिन्ना (गिलोय) का क्वाथ पान करने से वह अत्यन्त असाध्य वात रक्त को दूर कर देता है। गुड के सहित हरीत की आदि पाँच औषधियो का सेवन कुष्ठ अर्श तथा वात रोगो का विनाशक है। गुडूची का रस कल्क चूर्ण अथवा क्वाथ वात रक्त रोग का हन्ता है। गुडूची लता के क्वाथ से बने कल्क का उपयोग करने से कुष्ठ और ब्रणरोग का उपशमन होता है। इस कल्क का प्रयोग गोघृत या गोदुग्ध के साथ करना चाहिए।

त्रिफला तथा गुग्गुल वात रक्त और मूर्च्छा का नाशक है। गोमूत्र के साथ प्रयुक्त गुग्गुल ऊरूस्तम्भ नामक रोग का शमन करता है। सोंठ और गोखरू का क्वाथ शूलरोग का विनाशक है। दशमूल[1] हरीतकी एरण्ड, रास्ना सोंठ और देवदारू नामक औषाधियो से बना हुआ

1. बिल्व, श्योणाक, गम्भारी, पाटला, गणकारिका, शालपर्णी, पृश्निपर्णी, ब्रह्तीद्वय, कण्टकारी तथा गोखरू इनद स वृक्षों के मल दशमूल कहलाते हैं।

क्वाथ कालीमिर्च एवं गुड के साथ सेवन करना महाशोथ को दूर करता है। कण्टकारी और गुडूची के पृथक –पृथक तीस तीस पल रस को निकालकर उसमे एक प्रस्थ सिद्ध किया गया घृत कासरोग विनाशक तथा जठराग्नि दीपक होता है। काली तुलसी, आँवला सफेद, सोठ काली मिर्च और सेधानमक से बना हुआ क्वाथ एरण्ड तकल के साथ पान करने पर वह आम दोष तथा प्रबल वायु विकार को दूर करता है। बला, पुनर्नवा, एरण्ड, बृहतीद्वय, कण्टकारी और गोखरू का क्वाथ हींग और सेधानमक मिलाकर पान करने से वातशूल विनष्ट हो जाता है। दाह और शूलरोग की शान्ति के लिए त्रिफला, निम्ब, मुलेठी, कटुकी, तथा अमलतास से बने क्वाथ को मधु मिलाकर पान करना चाहिए। जेठी मधु के साथ त्रिफला का क्वाथ पीने पर शूल से होने वाला दुःख दूर होता है। त्रिफला चूर्ण गोमूत्र और शुद्ध मण्डूर मधु तथा घृत के साथ चाटने पर त्रिदोषजन्य जल को विनष्ट करता है।

त्रिवृत काली तुलसी और हरीतकी चूर्ण को क्रमशः दो भाग, चार भाग तथा पाँच, भाग गुड समन्वित करके उसकी समान गोलियाँ बनाकर सेवन करने से मल काठिन्य दोष दूर हो जाता है। हरीतकी यवक्षार पिप्पली और त्रिवृत अर्थात निसोथ का चूर्ण घृत के साथ पान करने के योग्य है। क्योकि यह उदावर्त रोग का विनाश करता है। त्रिवृत हरीत की काली तुलसी की पत्ती को मिश्रित चूर्ण स्नुहीक्षीर अर्थात् सेहुंड के दूध से भावित करके उससे बनायी गयी वटी का गोमूत्र के साथ पान करने से अनाह रोग नष्ट हो जाता है। त्रूषण (सोठ पिप्पली और काली मिर्च) त्रिफला (हरीत की आँवला तथा बहेड़ा) धनिया विडंग चव्य (गज पिप्पली) तथा चित्रक (चित्ता) नामक औषधियों के चूर्ण को कल्क से सिद्ध घृत वातगुल्म रोग का विनाशक है।

दुग्ध में प्रयुक्त सोंठ के चूर्ण का अनुपान हृदयगत पीडा का नाश करता है। काला नमक तथा उसका आधा भाग हरीत की चूर्ण घृत में मिलाकर पान करने से भी यह रोग नष्ट हो जाता है। कणा (पिप्पली) पाषाण भेदी (पथर चट्टा) के रस में शिताजीत का चूर्ण मिलाकर उसको चावल के जल गुड के साथ पान करने से मूत्रकृच्छ्र रोगी रोग विमुक्त हो जाता है। गिलोय, सोंठ, आँवला अश्वगन्धा और त्रिकण्टक (गोखरू) का वातरोगी, शूलग्रस्त, तथा मूत्रकृच्छ्र के रोगी को करना चाहिए। शर्करा अथवा मिश्री के साथ समान भाग में प्रयुक्त यवक्षार सभी प्रकार के कृच्छ्ररोगो का विनाशक है। अथवा मधु के साथ निदिग्धिका (इलायची) का रस पान करने से भी सभी प्रकार के कृच्छ्ररोग विनष्ट हो जाते है।

त्रिफला कल्क के साथ प्रयोग में लाये गये सेधानमक को भी मूत्रघात का विनाशक माना गया है। मूत्र पर अवरोध होने पर कपूर का चूर्ण लिंग में प्रविष्ट करना चाहिए। मधु के साथ प्रयुक्त आँवले का रस सभी प्रकार के मेहरोगो को विनष्ट करने वाला है। त्रिफला,

देवदारू, दारूहल्दी और कमल का क्वाथ भी मधु के साथ पान करन से वह प्रमेह रोग को दूर करता है।

शरीर की पुष्टि चाहने वाले व्यक्ति को अनिद्रा, मैथुन, व्यायाम तथा चिंता का परित्याग कर देना चाहिए।ऐसा करने से शरीर धीरे- धीरे पुष्ट होने लगता है। यव और साँवा खाने वाला प्राणी स्थूल हो जाता है। मधु के साथ जल पीने से भी प्राणी के शरीर में स्थूलता आ जाती है। उष्ण अन्न अथवा माँडयुक्त चावल का भोजन करने से शरीर कृश हो जाता है। गजपिप्पली, जीरा, त्रिकटु, हींग तथा काला नमक तथा आँवला चूर्ण समन्वित सत्तू को मधु के साथ पान करने से मेदा विकार का नाश और और अग्नि का उद्वीपन होता है।

चौगुने जल और दोगुनो गोमूत्र में चित्रक नामक औषधि का कल्क पाक करके उसके द्वारा उदररोगी को एक प्रस्थ घृत सिद्ध करना चाहिए। तदनन्तर वह दूध के साथ उस घृत का पान करे। ऐसा करने से उसकी जठराग्नि उद्‌दीप्त हो उठ्ती है। अनुपान में दूध के साथ क्रमशः एक एक पिप्पली का अभिवृद्धि करते हुए रोगी उसका दस दिन तक सेवन करे पुनः उस क्रम में एक एक पिप्पली को घटाते हुए बीसवे दिन मात्र एक पिप्पली का सेवन करे तो उससे भी उस रोगी की जठराग्नि प्रबल हो जाती है। पुनर्नवा के क्वाथ एवं कल्क से सिद्ध किया गंया घृत श्वास रोग का विनाश करनें में समर्थ है। शोध रोगी को गोमूत्र या गोदुग्ध के साथ पिप्पली अथवा गुड के साथ समान भाग में हरीतकी या सोंठ का सेवन करना चाहिए।

मनुष्य बला नामक औषधि के रस में सिद्ध दूध के साथ एरण्ड तेल का पान करके आह्मान तथा शूलजनित पीडा से युक्त अन्त्रवृद्धि के रोग पर विजय प्राप्त कर सकता है। अग्नि शोधित अरूचक अर्थात एरण्ड तेल से सिद्ध पथ्या (हरीतकी) का कल्क काला नमक एवं सेधानमक से समन्वित होकर, अन्त्रवृद्धि रोग का विनाशक श्रेष्ठतम योग है।

निर्गुण्डी की जड़ का नस्य लेने से गण्डमाला का रोग नष्ट हो जाता है। स्नुही (सेहुंड) तथा गण्डारी (कचनार) वृक्ष की छाल का स्वेद अर्बुद रोग के सभी भेदो को नष्ट करने में समर्थ होता है। हस्तिकर्ण अर्थात एरण्ड तथा पलाशपत्र के रस का लेप करने से गलगण्ड रोग नष्ट हो जाता है। घतूर, एरण्ड, निर्गुण्डी, पुनर्नवा सहिजन तथा सरसों का मिश्रित लेप पुराने एवं अत्यन्त दुःखदायी श्लीपद (पील पाँव) रोगको दूर करता है। शोभा (हल्दी) अञ्जनक (सौंहजना) वृक्ष की छाल समुद्रफेन तथा हींग का योग विद्रधि नामक रोग का विनाशक है।

मधु के साथ शरपुंखा (शरफोंका) नामक औषधि सभी प्रकार के व्रणो में लेप करने के योग्य होती है। अथवा नीम की पत्ती का लेप भी शोथ तथा व्रणो को सुखा देता है। त्रिफला, खदिर, दारूहल्दी तथा वट्वृक्ष की छाल या फल के योग्य से बना लेप व्रणशोधक है। यष्टि,

मधु (मुलेठी) और घी को गरम कर मधु के साथ व्रण लेप करने से आगन्तु व्रण नष्ट हो जाता है।

प्राणी में पित्त रक्त दोषजन्य गरमी होने पर वैद्य को शीत क्रिया करनी चाहिए । शरीर के कोष्ठ में रक्त संचार बाधित होने पर बांस के अन्कुर की छाल, एरण्ड बीज तथा गोखरू का क्वाथ मधु, सेधानमक तथा हींग मिलाकर पान करने से ठीक हो जाता है। ऐसी विकृति होने पर उससे मुक्त होने के लिए यव काली मिर्च तथा कुलथी के रस का पान अथवा सेधानमक के साथ भूना हुआ अन्न या यवागू का पान करना चाहिए।

करञ्ज अरिष्ठ (रीठा) तथा निर्गुण्डी का रस ब्रणो के कीटाणुओ को नष्ट कर देता है। त्रिफला चूर्ण से युक्त गुग्गुलवटी विबन्ध रोग को दूर करती है। यह व्रणशोषक और शोधक है। दूर्वारस या कम्पिलक (कपीला) अथवा दारूहल्दी के कल्क से सिद्ध. तेल व्रण में लगाने के श्रेष्ठ औषधि है।

नाडीब्रण कुष्ठ आदि रोगों की चिकित्सा :-

नाडी (नाडी) को शस्त्र से भली भाँति काट्कर ब्रण चिकित्सा के समान उसकी चिकित्सा करनी चाहिए। गुग्गुल त्रिफला तथा त्रिकटु को समान भाग में लेकर सिद्ध किये गये घृत से नाडी में हुए विकृत ब्रण, शूल, और भगन्दर रोग पर विजय प्राप्त की जा सकती है। निर्गुण्डी के रस से सिद्ध तेल नाडी दोष तथा ब्रण को दूर करता है। पामा नामक रोग के उपभेदो में यह औषधि पाने वाले अञ्जन और नस्य विधि से प्रयोग में लाने पर गुणकारी होती है। तीन भाग गुग्गुल पाँच भाग त्रिफला तथा एक भाग काली तुलसी की पत्ती से बनायी गयी गुट्किाएँ शोथ गुल्म अर्श और भगन्दर रोग से ग्रसित रोगियो के लिए हितकारिणी होती है।

उपदंश रोग में शिश्न के मध्य में रक्त की शुद्धि हेतु शिरावेध करे तथा शिश्न नष्ट न होवे अतः उसे पकने से प्रयत्न पूर्वक रक्षा करे।गुग्गुल, खदिर, परवल नीम का फल और गिलोय का क्वाथ पीने से उपदंश दोष समाप्त हो जाता है। एक कडाहे में त्रिफला को जलाकर स्याही जैसे राख बना कर मधु से प्रयोग करने में लाभ होता है। त्रिफला, चिरायता, नीम, कंजा तथा खदिर आदि से बने कल्क अथवा क्वाथ के द्वारा सिद्ध किया गया घृतपाक उपदंश को दूर करता है।

प्राणी को (भग्न से) हताश हुआ जानकर सबसे पहले उसे शीतल जल से सिंचित करे। तदनन्तर पाक का लेपन तथा कुश की रस्सी से भग्न भाग पर बन्धन लगाये। ऐसे भग्न रोगी को उडद, मांस, मटर की दाल, उगा हुआ अन्न, घृत, दूध, तथा सूप देना चाहिये।

रसोन (लहसुन), मधुनासा, (अडूसा) तथा· घृत का कल्क बनाकर उसको स्थान से च्युत अथवा टूटी हड्डियो के जोड पर लगाने से बहुत ही शाध्र सफलता प्राप्त होती है। त्रिफला,

त्रिकटु, (सोठ पिप्पली और काली मिर्च) के समान भाग में पीसकर उनके साथ बराबर मात्रा में मिलाया गया गुग्गुल टूटे हुए हड्डी के संधि स्थान को भी जोड देता है।

सभी प्रकार के कुष्ठ रोगो में रोगी के लिए वमनरेचन तथा रक्त मोक्षण की क्रिया लाभकारी है। वच, अडूसा, परवल, नीम तथा बहेडे की छाल का क्वाथ मधु के साथ पीने से वात रोग नष्ट हो जाता है। इस रोग में निसोत, दन्तीफल (एरण्ड बीज) तथा त्रिफला के योग्य से विरेचन क्रिया भी करनी चाहिए।

काली मिर्च के साथ मनः शिल (मैन सिल) का सिद्ध तेल कुष्ठ रोग का विनाशक है। सभी प्रकार के कुष्ठ रोगो में इस तेल का लेप किया जा सकता है। इस रोग में पथ्याहार शिव (हरीत की) पंचाम्ल गुड और भात है। कंजा एल (सुगन्धित बालुका नामक लता) गज पिप्पली कुष्ठ पानी (कूट) के रस को गोमूत्र के साथ कुष्ठ रोग में प्रलेप करने से लाभ होता है। तेल मे करवीर (कनेर) के मूल का पाक सिद्ध उबटन भी कुष्ठनाशक है। हल्दी, चन्दन, रास्ना, गुडुची, एडगज, (तगर) अमलतास और करञ्ज का लेप कुष्ठविनाशक श्रेष्ठतम औषधि है। मैनसिल, विडंग, वागुजी (वाकुची) सरसों तथा कंजा को गोमूत्र में पीसकर तैयार किया गया लेप सूर्यदेव के समान कुष्ठरोग का विनाशी है।

विडंग, एडगज, वच, कुटकी निशा, (दारूहल्दी) समुद्रफेन और सरसों को गोमुत्र तथा अम्ल में पीसकर तैयार किया गया यह लेप दद्रु नामक कुष्ठ रोग को विनष्ट करता है। प्रपुन्नाड (चकवड़) का बीज आँवला सर्जरस (विरोजा या लाख) स्नुही और सौवीर (बेर) का पिसा हुआ लेप सभी प्रकार के दद्रुरोगो को दूर करने वाला श्रेष्ठ औषध है। कांजी के साथ अमलतास की पत्तियो का तैयार लेप दद्रु किट्टिम तथा सिध्म (सेहुवाँ) नामक कुष्ठो का विनाश करता है। वकुची का उष्ण क्वाथ सेवन करके दूध पीने से भी कुष्ठरोग पर विजय प्राप्त की जा सकती है। तिल, घृत, त्रिफला, क्षौद्र, व्योष (त्रिकटु) भिलावा शर्करा ये सभी सात औषधियाँ समान भाग में मिलाकर सेवन करने से पुरूषत्व में वृद्धि होती है। ये पवित्र और कुष्ठ रोग नाशक है।

मधु के साथ विडंग, त्रिफला और काली तुलसी के चूर्ण का अवलेह कुष्ठ, कृमि, मेह नाडी ब्रण, एवं भगन्दर नामक रोगो का विनाश करता है। जो मनुष्य कुष्ठ रोगी हो, उसे हरीत की नीम, कुटकी, आँवला तथा दारूहल्दी का सेवन करना चाहिए। औषधि लेने के बाद प्रायः एक मास पर्यन्त ऐसा व्यक्ति कुष्ठ रोग से विमुक्त हो जाता है। इसमें कोइ सन्देह नही। उष्ण मक्खन, कुम्भ (गुग्गुल) मूलक (अदरक) खदिर (कत्था) अक्ष (बहेडा) आँवला तथा चम्पा नामक योग से भी कुष्ठ का विनाश होता है। यह औषधियों एकरसायन है।आँवला, खदिर और वकुची के क्वाथ का पान करके मनुष्य शंख एवं चन्द्रमा के समान श्वेत श्वित्ररोग को शीघ्र

ही नष्ट कर देता है, इसमें सन्देह नहीं है। भल्ला तक (भिलावे) के सिद्ध तेल को एक मास पर्यन्त पान कर प्राणी इस कुष्ठ रोग पर विजय प्राप्त कर लेता है। जो खदिर मिश्रित जल का यथा विधि सेवन करता है उसे कुष्ठ रोग पर विजय प्राप्त हो जाती है। मलपू अर्थात कठूमर नामक वृक्ष की छाल से बने क्वाथ के द्वारा छौंके गये सोमराजी(वकुची) के फलों का चूर्ण प्रतिदिन एक वर्ष मात्र बहेड़े और अर्जुन नामक वृक्ष से बने क्वाथ के साथ लेना चाहिये। किन्तु नमक खाना इस काल में निषिद्ध है। इस औषधि के उचपार से श्वित्ररोग बिनष्ट हो जाता है। रोगी को इस औषधि का पान करते हुये शरीर पर स्थित सफेद चकत्तों पर अपराजिता (शेफालिका) की लता लेप लगाना चाहिये। अडूॅसा, गुडूची, त्रिफला, परवल, कंजा, नीम, अशन, तथा कुष्ठवर्णकी तथा वेत्रलता का क्वाथ एवं कल्क रुप में पका कार उससे जो घृतपाक सिद्ध होता है उसको (वज्रकघृत) कहते हैं। इस्के सेवन से रोगी रोग विमुक्त हो कर 100 वर्षो की आयु प्राप्त करता है।

दुर्वा के रस में उससे चौगुना तेल पकाकर औषधि रूप में उसको शरीर में लगाना चाहिये इसके मालिस से कच्छ्र,विवर्चिका और पामा नामक कुष्ठ रोग बिनष्ट हो जाते है। द्रुम(पारिजात) के छाल, मन्दार,कुष्ठ, लवण, गोमूत्र, गम्भारी (श्रीपर्णी) तथा चित्रक(एरण्ड) नामक औषधियों का सिद्ध तेल कुष्ठ रोग के व्रण विकारों को विनष्ट कर देता है।

आँवला, निमकौरी,गौमूत्र, अडूसा,गुडूची, पित्त पापड़ा, चिरायता, नीम, भृंगराज, त्रिफला, कुल्थी, और मधु का क्वाथ अम्लपित्त रोग का विनाशक है। त्रिफला, पटोल और कटुकी का क्वाथ शर्करा तथा जेठी मधु के साथ पान करने पर ज्वर, छर्दि एवं अम्ल पित्त जनित अन्य विकार नष्ट हो जाते हैं। वासाघृत, तिक्तघृत और पिप्पलीघृत का प्रयोग अम्ल पित्त विकार में करना चाहिये गुड़ और कुम्हड़ा खाने से भी लाभ होता है।

मधु के साथ पिप्पली अम्ल पित्त का विनाश करती है। हरीतकी पिप्पली तथा गुड़ का बना हुआ मोदक श्लेष्म एवं अग्निमन्दता के दोष को दूर करता है। जीरा और धनिया को समान भाग में पीसकर एक प्रस्थ घृत में उन दोनो का विपाक बनाना चाहिये। यह पाक, कफ, पित्त, अरुचि, मंदाग्नि तथा वमन नामक दोषो को दूर करता है। पिप्पली, गुडूची, चिरायता, अडूसा, कटुकी, पित्तपापड़ा, खैर और लहसुन से बना क्वाथ विस्फोट (फोड़ा, फुन्सी) तथा ज्वर रोग का विनाशक है। निसोत के साथ त्रिफला के रस मिश्रित घृत का अनुपान आँतो की सफाई और विसर्प नामक रोग को शान्त कर देता है। खदिर, त्रिफला (हरड़,आँवला, बहेड़ा) कटुकी परवल, गुडूची, और अडूसा के द्वारा बना क्वाथ अष्टक क्वाथ के नाम से प्रसिद्ध है। इसके सेवन से रोमान्तिक तथा मसूरिका का रोग दूर हो जाते हैं।

लहसुन के चूर्ण को घिसने से कुष्ठ, विसर्प, फोड़ा तथा खुजली आदि चर्म रोगों का विनाश होता है। इसके द्वारा घिसने से शरीर का मस्सा भी नष्ट हो जाता है। चर्मकोल पुराने एवं बढ़े हुये मस्से, तिल, तथा अनुपयुक्त बालों को शस्त्र से काटकर निकालने के पश्चात क्षार तथा अग्नि के द्वारा उक्त रोग के शरीरस्थ भाग को दग्ध कर देने का भी विधान है।

परवल और नील का लेप जलगर्दभ रोग को विनष्ट करता है। गुञ्जाफल तथा भृगंराज के रस से सिद्ध तेल के द्वारा कण्ठ विकार, खुजली अत्यन्त कष्टदायक कुष्ठ और वात रोगो का विनाश होता है। धतूर या आम की गुठली, त्रिफला, नीम तथा भृंगराज इन औषधियों के योग से सिद्ध कांजीयुक्त लौह चूर्ण प्राणियों के पकने वाले श्वेत बालों को काला करने में समर्थ है। क्षीरी(खिरनी) और शार्कपण (लोध्र) का रस दो दों प्रस्थ तथा मधु (मुलेठी) एक पल लेकर उसमें एक कुडव अर्थात् बारह पसर किया गया तेल का नस्य भी बालों को पकने नहीं देता है

मुख में रोग होने पर त्रिफला –चूर्ण का गण्डूष अर्थात्, कुल्ला करना चाहिए। घर का धुआँ, घृत या तिल आदि के तेल का दीपक जलाने से एकत्र धुएँ में यवक्षार, पाढ़ा व्योष(सोंठ, पिप्पली, काली मिर्च,) के रस को मिलाकर अंजन बनाने का विधान है। इस अंजन को नेत्रों में लगाने से नेत्र दोष नही होता ।यदि तेजोद, त्रिफला, लोध्र और चित्ता का चूर्ण मधु के साथ मुँह में रखा जाय तो कण्ठ, दाँत और मुँह का रोग ठीक हो जाता है। पटोल ,नीम, जामुन, मालती, मालती, तथा आम के नवीन पल्लवों का क्वाथ मुख धोने की श्रेष्ठतम् औषधि है।

लहसुन, अदरक, सहिजन,भृगंराज, मूली, रुदन्ती(महामांसी) का गुनगुना रस कर्ण रोग को दूर करने का उत्तम उचपार है। कान में अत्यन्त तीव्र पीड़ा, शब्द और मैल निकालने पर सेंधा नमक के सहित वस्त अर्थात् बकरे का मूत्र गरम करके उसमें डालना चाहिये। जाति पत्र अर्थात जावित्री के रस से सिद्ध तेल पाक पूतिक(दुर्गन्ध युक्त) कान में डालना चाहिये। सोंठ के चूर्ण से सिद्ध गुनगुना सरसों का तेल कान में उठने वाले शूल का विनाशक है।

पंचमूल सिद्ध दूध चिन्ता और हरीतकी, घृत, गुड़ एवं षडङ्ग जूस का योग पीनस रोग की शान्ति के लिये है। इस रोग में इन योगों में से किसी एक योग सिद्ध औषधि का प्रयोग करना चाहिये नेत्र दोष, कुक्षि विकार प्रतिश्याय (जुकाम या सर्दी) व्रण तथा ज्वर होने पर पाँच दिन तक लंघन करने का विधान है। ऐसा करने से पाँचो रोग शान्त हो जाते हैं। आँवले का रस नेत्र में डालने से विकार दूर हो जाता है। अथवा मधु और सेघा नमक के सहित शोभाञ्जन नामक सहिजन तथा दारुहल्दी का अंजन लगाने से भी लाभ होता है। हल्दी,

देवदारू, सेधानमक हरीतकी तथा गैरिक[1] पीस कर उसका लेप नेत्रों के बाह्य भाग में लगाना चाहिये। यह नेत्र रोग विनाशक है। घृत में भुनी हरीतकी, त्रिफला दूध के साथ लेप करने के पश्चात गुनगुनी एवं पिसी सोंठ, नीम की पत्ती थोड़ा सा सेंधा नमक दूध और त्रिफला चूर्ण को नेत्रों पर लगाना चाहिये। ऐसा करने से नेत्रों की सूजन, खुजलाहट, और पीड़ा समाप्त हो जाती है। हरीतकी, बहेड़ा, तथा गुडूची, नामक औषधि को क्रमशः मात्रा में एक भाग, दो भाग, चार भाग लेकर मधु एवं घृत के साथ सिद्ध किया गया लेह या क्वाथ सभी प्रकार के नेत्र रोगो का विनाशक है।

चन्दन, त्रिफला, सुपारी तथा पलाश की जड़ को जल में पीस कर बनायी गई बत्ती का प्रयोग आँखो के समस्त तिमिर रोगों को दूर करता है। दही के साथ अत्यधिक घिसी गयी कालीमिर्च का अन्जन रतौंधी नामक रोग को दूर करता है। त्रिफला के क्वाथ एवं कल्क से सिद्ध-घृत पाक को गुनगुने दूध के साथ सायंकाल पान करने से अन्धदर्शन तथा रतौंधी का विकार यथाशीघ्र विनष्ट हो जाता है। पिप्पली, त्रिफला, द्राक्षा,लौहचूर्ण और सेंधानमक कों भृगराज के रस में घिसकर बनाया गया घुटिकाअंजन अन्धता, त्रिदोष जन्य तिमिरता, धुँधलाहट तथा अन्य सभी प्रकार के नेत्र सम्बन्धित रोगों का विनाशक है।

त्रिकटु ,त्रिफला, सेंधानमक, मैनसिल, रुचक[2] शंखनाभि (कचूर) जातीपुष्प (मालती) नीम, रसान्जंन (रसौत) भृगंराज को घृत मधु तथा दुग्ध में पीसकर बनायी गई वटी समस्त नेत्रविकारो की विनाशकारिणी औषधि है। एरण्ड की जड को जलाकर कांजी के साथ सिर में लेप करने अथवा मुचुकुन्द पुष्प के प्रयोग से शीघ्र ही सिर पीड़ा दूर हो जाती है।

शतमूली, एरण्डमूल चक्रा (कुटकी) तथा व्याध्री (कण्टकारी) को एक पल एकत्र करकेउनसे सिद्ध क्वाथ, तेल पाक का नस्य वात और श्लेष्म जन्य तिमिर तथा ऊर्ध्व रोग का विनाश करता है।अथवा नमक गुड और सोंठ या पिप्पली एवं सेधानमक का योग भुजस्तम्भ आदि शरीर के ऊर्ध्व भाग वाले रोगो में लाभकारी होता है। सूर्यावर्त रोग मे नस्य कर्म का उपचार प्रशस्त माना गया है। ऐसे मे घृत एवं सेधानमक से युक्त दशमूल के क्वाथ का नस्य लेना चाहिए। यह अंगभेद, सूर्यावर्त तथा शिरोव्याधि के दुःखो को दूर करता है ।

वातरक्त दोष से पीडित स्त्री को दही एव मधु के साथ काला नमक जीरा महुआ और नीलकमल पान कराना चाहिए। पित्त विकार होने पर अडूसा अथवा गुडूची का रस लाभकारी है। मधु के साथ जल में पकाये गये आँवले के बीजो का कल्क अडूसा तथा श्वेत दूर्वा का

1. गैरिक (गेरू)
2. एरुच (बिजौरा नीबू)

रस अथवा आँवले के साथ मधु और कपास की जड का रस चावल के धोवन में पीने से पाण्डु एवं प्रदर रोग शान्त हो जाता है।

ताण्डुलीयक मूल अर्थात चौराई तथा रसौत को पीसकर मधु एवं चावल के धोवन में पीने से सभी प्रकार का रक्त प्रदर रोग विनष्ट हो जाता है। चावल के जल के साथ पान किया गया कुश का मूल भी रक्त प्रदर रोग का विनाश करता है।

स्त्रियों के रोगों की चिकित्सा ग्रहदोष के उपाय, ऋतुचर्या तथा पश्यकारक सर्वौषधियाँ :-

स्त्रियों के योनि भाग में होने वाले रोगों को दूर करने के लिए बहुत से कर्म है, किन्तु जो कर्म वात दोष नाशक हैं, उन्ही को प्रशस्त माना जाता है।

वच, उपकुञ्चिका (काला जीरा), जातीफल (जायफल) कृष्णा (काली तुलसी) वासक (अडूसा) सैन्धव (सेंधानमक) अजमोदा (अजवाइन) यवक्षार, चित्रक तथा शर्करा को पीसकर सभी को मिश्रित करके घी में भून कर जल या दूध के साथ सेवन किया जाये तो स्त्रियो के योनि के पार्श्वभाग में होने वाला शूल, हृदय रोग गुल्म और अर्श विकार दूर हो जाता है। बेर की पत्तियो को पीसकर योनिभाग में लेप करने से उसकी वेदना शान्त हो जाती है। लोध्र और लुम्बीफल का प्रलेप योनि को हृद एवं सकुचित बनाता है।

पीपल, वट, पाकड गूलर और आम इन पाँचो के पल्लव और मधुयष्टि तथा मालतीपुष्प का अग्नि और सूर्य की गर्मी में सिद्ध घृतपाक रक्तप्रदर एवं योनि दुर्गन्ध का विनाशक है। कांजी में जया पुष्प (अडहुल के फूल), ज्योतिष्मती- दल मालकंगनी की पत्ती (दूर्वा) और चित्रक को पीसकर शर्करा के साथ पान करने से भी योनि रोग दूर हो जाता है।

आँवला, रसौत तथा हरीत का चूर्ण जल के साथ पान करने पर वह स्त्री के रजोदोष को दूर करता है। ऋतु काल में लक्ष्मणा (श्वेत कण्टकारी) को जड की दुग्ध के साथ पान करने या नस्य लेने से स्त्री को पुत्र उत्पन्न होता है। ढाई सेर दुग्ध और सवा सेर घृत में सिद्ध अश्वगन्धा का रस सेवन करने से भी स्त्री को पुत्र की प्राप्ति होती है। घृत के साथ व्योष (सोंठ, पिप्पली, काली मिर्च) तथा केसर के चूर्ण का सेवन करके तो वन्ध्या स्त्री भी पुत्रवती बन जाती है।

कुश, काश, एरण्ड और गोखरू की जड को पीसकर उनके ही द्वारा सिद्ध गोदुग्ध एवं शर्करा का पान करने से गर्भिणी स्त्री के उदर भाग में होने वाला शूल शान्त हो जाता है। (पाढ़ा) लाङ्गलि(कलियारी), सिहास्य (कचनार) मयूर (चिचडा) और कुटज गिरिमल्लिका को अलग -अलग पीसकर नाभि पेडू तथा योनि भाग में लेप करने से स्त्री को सुख पूर्वक प्रसव होता है। मदार या बकुल की जड का लेप प्रसूता स्त्री के हृदय मस्तक और वस्ति (पेडू) भाग

में होने वाली पीडा का हरण करता है। ऐसी स्थिति में स्त्री को दही अथवा गुनगुने जल में यवक्षार को मिलाकर पीना चाहिए। दशमूल के क्वाथ से सिद्ध घृतपाक भी प्रसूता स्त्री की पीडा का विनाशक है। दुग्ध के साथ साठी चावल का चूर्ण सेवन करने से प्रसूता स्त्री को दुग्ध होने लगता है। विदारी, कन्द, सतावर तथा कपास के बीजो का योग भी प्रसूता के दुग्ध वृद्धि में सहायक है। स्तनशोधन के प्रसूता स्त्री को मूंग का जूस पीना चाहिए।

कूट, वच, हरीत की ब्राह्मी, द्राक्षाफल, मधु और घृत का योग रंग, आयु तथा सौन्दर्यवर्धक होता है। इन सभी औषधियो का लेप बालक को चटाना चाहिए। स्तनजन्य दूध का अभाव होने पर बकरी अथवा गाय का दूध बालक के लिए उचित होता है। बच्चे के नाभि में सूजन आ जाने पर उसको अग्नि मे गरम की गयी मिट्टी से सेंकना चाहिए। वमन, खासी, ज्वर होने पर मुस्त (नागरमोथा) तथा विषा (सोंठ) के चूर्ण को मधु आदि के साथ चाटना क्वाथ बनाकर पीना चाहिए। नागरमोथा, सोंठ, गूलर, बिल्व, कुटज (कुरैया) नामक औषधियो का रस अतिसाररोगो का विनाश करता है। व्योष (सोंठ पिप्पली और काली मिर्च) बिजौरा नीबू तथा मधु के योग से हिचकी वमन रोग दूर हो जाता है। कुष्ठ (कुट) इन्द्रयव, सरसों हल्दी, तथा दूर्वा से कुष्ठरोग पर सफलता प्राप्त होती है।

महामुण्डिनिका (महाश्रावणिकका) तथा उदीच्य (ह्रीवेर या चोपचीनी) के क्वाथ से स्नान करने पर ग्रह दोष दूर हो जाता है। ग्रह दोष होपे पर शरीर में सप्तपर्णी, हल्दी और चन्दन का लेप करना चाहिए। शंख, कमलगट्टा , रूद्राक्ष ,वच तथा लौहआदि धारण करने से भी ग्रह दोष दूर हो जाता है।

चावल के धोवन मे शिरीष[1] वृक्ष की जड पीने से भी विष दोष दूर हो जाता है। चावल के ही पानी में मिलाकर पीसे हुए श्वेत फूल वाले वर्षाभू[2] (पुनर्नवा) का रस सर्पदंश के विष को दूर कर देता है।

दही, घृत, चौराई, गृह, धूप, हल्दी, मधु तथा सेधानमक को पीसकर पीना विषनाशक है। घृतमिश्रित सिंहीर की जड का क्वाथ पीने से भी विष दूर हो जाता है।

---

1. शिरीषोविषघ्नानाम् (चरक सं0)

2. वर्षाभू या पुनर्नवा का तात्पर्य धमरवरूआ नाम की प्रसिद्ध औषधि से है। इसका फूल श्वेत होता है। इसकी पत्तियो की आकृति पुनर्नवा के समान होती है। इन दोनो की पत्तियो में अन्तर इतना है कि पुनर्नवा की पत्तियाँ छोटी और धमरवरूआ की पत्तियाँ बेडी होती है। वर्षाकाल मे पुनर्नवा के समान ही यह औषधि भी अधिक पायी जाती है। मूलतः तो यह पुनर्नवा का उपभेद ही है।

जो औषधि वृद्धावस्था को दूर करने का सामर्थ्य रखती है उसको रसायन कहा जाता है। रसायन[1] की अभिलाषा करने वाले लोगो को वर्षा आदि ऋतु में यथा क्रम सेधानमक, शर्करा, सोंठ, पिप्पली मधु तथा गुड के साथ हरीत की नामक औषधि का प्रयोग करना चाहिए अर्थात् वर्षा काल में सेधानमक, शरत्काल में शर्करा, हेमन्त काल मे सोंठ ,शिशिर काल में पिप्पली, बसन्त काल में मधु तथा ग्रीष्म काल में गुड के साथ हरीतकी[2] का सेवन प्राणियो के रसायन का काम करता है।

ज्वर की समाप्ति पर व्यक्ति एक हरीत की, दो बहेडा, चार आँवला और मधु घृत का सेवन करके सौ वर्ष तक जीवित रहता है। दूध तथा घृत के साथ अश्वगन्धा नामक औषधि तो प्राणियो के शरीर मे होने वाले सभी रोगो का विनाश करती है। मण्डूक पर्णी और विदारीकन्द का रस अमृत के समान है। मनुष्य, तिल आँवले और भृंगराज के सेवन से शतायु बन जाता है। त्रिकटु, त्रिफला, चित्रक, गुडूची, शतावरी, विडग और लौहचूर्ण मधु के साथ मिलाकर खाना सभी रोगो का विनाशक बन जाता है। त्रिफला, पिप्पली, सोठ, गुडूची, शतावरी विडंग तथा भृंगराज आदि कासद्विरस भी सभी रोगो को विनष्ट करने की शक्ति से सम्पन्न होता है। एक भाग शतावरी तथा दस भाग दूध के कल्क बनाकर शर्करा, पिप्पली, मधु से युक्त घृतपाक अत्यन्त पौष्टिक होता है।

चिकित्सा में प्रतिमर्ष, अवपीड नस्य, प्रवपन तथा शिरोविरेचन में पाँच कर्म कहे जाते है। क्रमशः माघ आदि प्रत्येक दो मास की एक ऋतु होती है। इस प्रकार एक वर्ष में छः ऋतुए[3] होती है। इन सभी ऋतुओ मे अग्नि सेवन, मधु दूध और दही के विवर्त आदि का सेवन करना चाहिए। मनुष्य को शिशिर ऋतु मे स्त्री के साथ रहना चाहिए। बसन्त ऋतु मे दिन में सोना उचित नही है। वर्षा ऋतु में दिवा निद्रा तथा शरत्काल में चन्द्रकिरणो का सेवन मनुष्य के लिए त्याज्य है।

साठी चावल, मूंग की दाल, वर्षा का जल क्वाथ और दूध पथ्य है। नीम, अलसी, कुसुम्भ[4] (बर्रे) सहिजन, सरसों, ज्योतिष्मती तथा मूली का तेल भी प्राणी के लिए पथ्य माना गया है। ये कृमि, कुष्ठ, प्रमेह, वात, श्लेष्मज दोष और सिर में होने वाली पीडा का नाश करते है।

अनार, आँवला, बेर, करौदा चिरौजी, नीबू, नारंगी, आमडा, और कपित्थ नामक फल

1- लाभो पाथो हि शस्तानां रसादीनां रसायनम् (सु0 सं0 सू0 अ01)

2- च0 चि0 अ0 1, गरूड पुराण अ0 172

3- शिशिर, बसन्त, ग्रीष्म वर्षा, शरद और हेमन्त

4- कुसुम्भ (बर्रे)

भी पथ्य है। किन्तु यह पित्तवर्धक और अग्निविनाशक है। तथा इनसे कफजनित दोष दूर होता है। जल, नागरमोथा, इक्षुरस और कुटज मल मूत्र के अवरोध को दूर करने में समर्थ होते हैं। धामार्गव अर्थात् घिया तरोई को सदैव वमन के रोग में सेवन करना चाहिए। पूर्वाह्नकाल में वमन के लिए वच के साथ खैर और इन्द्रयव का सेवन लाभप्रद है। पित्तदोष होने से प्राणियो का अन्नादिक कोष्ठ सबल नही रह पाता। उसमें एक प्रकार की मधुरता रहती है। वात, पित्त और कफ दोष का आश्रय मिलने से उसमें दोष अधिक ही आ जाते है। वात, पित्त और कफ इन त्रिदोषो की समान स्थिति रहनें पर इन कोष्ठो की क्षमता मध्यम रह जाती है। (उस स्थिति में न तो उनकी कार्य क्षमता शिशिलता रहती है और न उनमें दोषो की क्षमता की अभिवृद्धि शरीर के अन्दर स्थित कोष्ठ का कार्य चलता रहता है।) पित्त दोष होने पर निसोत का सेवन करके विरेचन करना चाहिए। सेधानमक, सोंठ, निसोत हरीत की तथा बिडंग को गोमूत्र से सिद्ध कर शर्करा और मधु के साथ सेवन कर विरेचन में अधिक लाभ होता है। वात दोष के प्रबल होने पर उत्पन्न हुए दोषो मे रोंगी को एक भाग एरण्ड तेल और दो भाग त्रिफला के क्वाथ का पान कराकर वमन कराना चाहिए। छः अंगुल, आठ अंगुल या बारह अंगुल लम्बी बांस आदि की नेत्रि अर्थात पिचकारी बनाकर और उस पिचाकारी में कर्कन्धू (बेर) फल कें समान छिद्र करके रोगी को उतान सुलाकर वस्ति क्रिया करनी चाहिए। निरूहदान या निरुढवस्ति के प्रयोग में भी यही विधि कही गयी है। इन दोनो विधियो में औषधियो की मात्रा क्रमशः लघु मध्यम तथा उत्तम कहा जाता है। इस वस्ति विधि में शतावरी, गुडूची भृगराज तथा सिन्धुवार आदि के रस मे भावित हरीत की एक भाग बहेडा दो भाग और आँवला चार भाग होना चाहिए। ये औषधियाँ उदर रोग की पीडा को समाप्त कर देती है।

मधुर, अम्ल और तिक्त आदि द्रव्यों का वर्ग तथा उनका औषधीय उपयोग :-

साठी चावल, गेहूँ, दूध, घृत रस, मधु सिघाडे की गूदी, जौ कशेरू, फूटने वाली ककडी, गोखरू, गम्भारी, कमलगट्टा, द्राक्षाफल, खजूर बला, नारियल, इक्षु सतावर, विदारीकन्द, चिरौजी, मुजेठी, तालफल और कुम्हड़ा यह मधुर द्रव्यो का मुख्य वर्ग है।

इन द्रव्यो का यह वर्ग मूर्च्छा और प्रदाह नामक रोगो का विनाशक तथा जिह्यादि सभी छः इन्द्रियो का आह्लादक है। इस वर्ग के एक भी पदार्थ का अत्यधिक सेवन करने से प्राणी के शरीर में कृमि तथा कफजनित रोग उत्पन्न हो जाते है। जब श्वास, खाँसी, मुख व्याधि, माधुर्य दोष स्वरघात अर्बुद , गलगण्ड और श्लीपद का रोग हो तो गुड से बने लेपाद्रि का प्रयोग करना चाहिए। अनार, आँवला, आम, कपित्थ करौदे, बिजौरा, नीबू, आमडा, बेर, इमली दही, मट्ठा, कांजी, बडहल, अम्लवेत, अम्ल, सेधानमक, सोंठ तथा जीरा का वर्ग जठरग्नि का उद्दीपक और पाचक होता है। यह वर्ग श्वेदकारक, वातवर्धक, कामोद्दीपक, विदाहकारक और

अनुलोपि है। इस वर्ग मे सनिहित रहने वाले अम्ल पदार्थ का अत्यधिक सेवन करने से दाँत सिरहने लगते है, और शरीर में शिथिलता आ जाती है। तथा कण्ठ मुख और हृदय में दाह होता है।

सैंधव, सुवर्चल, यवक्षार तथा छज्जी आदि लवण है। लवण की अधिकता से वह द्रव्य वर्ग लवण कहलाता है। यह शरीर शोधक पाचक , स्वेदकारक, हाथ पैर मे बेवाई तथा खुजली आदि का विकारोव्पादक है। इनमें से एक नमक का सेवन भी मल मूत्रादिक मार्गो में अवरोध तथा अस्थि मज्जादि की शक्तियो को कोमल कर देता है। लवण जन्य रस शरीर में खुजलाहट, कोष्ठको, में शोध तथा विवर्णता जनक उसके दुष्प्रभाव से रक्तवातज, पित्तरक्तज, कामोद्दीपन और इन्द्रियजनित पीडा के उपद्रव की उत्पत्ति भी होती है।

व्योष (सोंठ, पिप्पली, काली मिर्च)सहिजन, मूली, देवदारू, कुष्ठ (कूट) लहसुन, बकुची , नागरमोथा, गुग्गुल , लांगली आदि औषधियो का वर्ग कडुआ, अग्निदीपक, शरीर शोधक कुष्ठ, खुजली कफ, स्थूलता, आलस्य, तथा कृमि रोग का विनाशक एवं शुक्र और भेद का विरोधी है। इस वर्ग को भी औषधि का अधिक सेवन करने से वह भ्रम एवं विदाह उत्पन्न करता है। कृतमाल, (केवडा–सोमालिका), करीर (वंशाकुर) हल्दी, इन्द्रयव, स्वादुकण्टक, (भुइँकुम्हडा) वेतलता, बृहतीद्वय, शंखिनी (चोर पुष्पी) गुडूची, द्रवन्ती, (मूसाकर्णि), त्रिवृत (निशोत) मण्डूकपर्णी (मंजीठ) कारबेल्ल (करैला) वातुकि (बैगन) करवीर (कनेर) वास (अडूसा) रोहिणी (कंजा) शंखचूर्ण (शंखपुष्पी) कर्कोट (खेखसी) जयन्तिका (वैजन्ती) जाती (चमेंली), वारूणक (वरूण) निम्ब (नीम) ज्योतिष्मती (मालकंगनी) और पुनर्नवा नामक ये सभी औषधियाँ तिक्त रस वाली है। इनका रस छेदक रोचक तथा जठराग्नि दीपक है। यह शरीर का अन्तर एवं बाह्य शोधन करती है। इस रोग के सेवन ज्वर, तृष्णा मूर्च्छा तथा कण्ठ के रोग विनष्ट हो जाते है। इस औषधि वर्ग मे से किसी एक औषधि का अधिक सेवन करने पर प्राणी मे विष्ठा, मूत्र, स्वेद तथा शरीर शुष्कता के विकार जन्म लेते है। यथोचित सेवन न करने से यह रस हनुस्तम्भ आक्षेपक, पीडा, मस्तिष्क शूल और व्रण आदि के भी उपद्रवो का कारण बन जाता है। त्रिफला, सल्लकी (चीड़) जामुन, आमडा, बरगद, तिन्दुक, (तेंदू) मुद्ग (मूंग) और चिल्लक (बथुआ) का रस कपास, ग्राही, रोपी, स्तम्भन, स्वेदन तथा शरीर शोषक होता है। इनमें से किसी एक का अत्यधिक सेवन करने पर वह हृदय में पीड़ा मुखशोष ज्वर आध्यमान तथा स्तम्भादिक रोगो का कारण भी हो जाता है।

हल्दी, कुष्ठ, सेंधानमक, मेषश्रृगि (मेढासिंगी) बला, अतिबला, कच्छुरा (शूकशिम्बी) सल्लकी (चीड़) पाठ (पाढ़ा) पुनर्नवा, शतावरी अंग्निमंथ (गनियारी) ब्रह्मदण्डी, श्वदंष्ट्रा (गोखरू) एरण्ड यव (जौ) कोल (बिर) और कुलत्थ (कुलथी) आदि विशेष औषधियो का पृथक- पृथक रस

एवं दस मूल का क्वाथ पान करने वाला मनुष्य अपने शरीर में उत्पन्न होने वाले वातज एवं पित्तज विकारो को विनष्ट करने में सफल रहता है।

शतावरी, विदारी बालक (मोथा) उशीर (खस) चन्दन, दूर्वावह पिप्पली बेर,सल्लकी, केला, नीलकमल, लालकमल, गूलर, पटोल (परवल) हल्दी गुड तथा कुष्ठ रोग इन औषाधियो का विनाशक है।

शतपुष्पी (सोआ) जाती (चमेली) व्योष (सोंठ पिप्पली काली मिर्च) आरग्वध (अमलतास) लाङ्गली (कलियारी) और तेलादि से सिद्ध होने वाले अन्य स्नेह पाको में प्रशस्त माना है। बुद्धि, स्मृति, भेद तथा अग्निवृद्धि के अभिलाषी जनो के लिए घृलाभप्रद है। पैत्तिक विकार होने पर मात्र घृत पाक और वात विकार होने पर उसको सेंधादि नमक के साथ सेवन करना चाहिए। कफ की अत्यधिक विकृति होने पर रोगी को पिप्पली सोंठ, काली मिर्च, और यवक्षार मिलाकर दिया गया घृत श्रेयस्कर होता है। यह घृत ग्रन्थि दोष नाडी विकार कृमि श्लेष्म मेदा तथा वात राग से मुक्त रोगियो को भर देना चाहिए।

तैल पदार्थो का सेवन शरीर को हल्का और कठोर बनाने के लिए करना चाहिए। यह कठोर कोष्ठको के प्राणियो के लाभकारी होता है। तथा वायु, धूप, जल, भार मैथुन और व्यायाम के कारण क्षीण हुई धातुओं से युक्त जनो के लिए उचित है। शरीर की रूक्षता कष्ट वृद्धावस्था जठराग्नि दीपन तथा वात दोष से घिरे हुए प्राणियो को स्नेह युक्त औषधि एवं क्वार्थों का प्रयोग करना चाहिए।

इसके बाद जब प्राणी केसिर में रोग हो गया हो तो चिकित्सा शास्त्र के नियमानुसार सिर की अपेक्षित सिराओ के समूह को गर्म करके प्राणी को धीरे धीरे सिर का मर्दन करना चाहिए। स्नेह, क्वाथ, और वटिका आदि के रूप में प्रयुक्त औषधियो की उत्तम मध्यम तथा ये तीन मात्राएं मानी गयी है। जिनमें उत्तम मात्रा एक पल अर्थात आठ तोला (96 ग्राम) मध्यम मात्रा तीन अक्ष अर्थात छः तोला (72ग्राम) और अधम मात्रा अर्ध पल अर्थात चार तोला (48 ग्राम) होती है। घृतपाक सेवन मे गुनगुना तथा तैल पाक सेवन में शीतल जल का प्रयोग करना चाहिए। स्नेह (सहरई) पित्तविकार तथा तृष्णा जन्य दोष में मनुष्य को गुनगुना जल पीना चाहिए।

शरीर मे जठराग्नि के प्रबल होने पर प्राणी को वातानुलोम स्निग्धभाव होने पर जठराग्नि का दीपन रूक्षभाव वाली स्थित के होने पर स्नेहन या अत्यधिक स्निग्धता के होने पर रूक्षता उत्पन्न करने का प्रयास करना चाहिए । साँवा कोदो आदि रूक्ष अन्न, तक तिलकुट तथा सत्तू के अनपेक्षित प्रयोग से वात तथा कफ रोग में अथवा वात रोग में स्वेदन

क्रिया करनी चाहिये किन्तु अत्यन्त स्थूल, रुक्ष, दुर्बल, और मूर्छित ब्यक्ति में यह स्वेदन क्रिया नहीं करनी चाहिये।

ब्रह्मी घृत आदि स्नेह पाको की निर्माण विधि तथा विविध रोगों में उनका उपचारः-

शंख पुष्पी वंच सोमा, ब्राह्मी ब्रह्म सुवर्चला, अभया(हरीतकी) गुडूची(गिलोय) अटरुषक(अडूसा) तथा वागुजी(वकुची) नामक इन औषधियों के रस को एक एक अक्ष अर्थात दो दो तोला लेकर उनसे प्रस्थ अर्थात चार सेर घृत का पाक सिद्ध करना चाहिये। उनमें एक प्रस्थ कण्टकारी का रस, एक ही प्रस्थ दूध का मिश्रण भी करना चाहिये इस घृत पाक का नाम ब्राह्मीघृत[1] है। यह स्मरण और मेधा शक्ति का अभिवर्धक होता है।

त्रिफला, चित्रक, बला, निर्गुण्डी (सिंधुवार) नीम, वासक, (अडूसा) पुनर्नवा (गुडूची), बृहती और शतावरी नामक इन औषधियों के रस से सिद्ध घृत पाक सभी रोगो का विनाशक है।

बला के रस से बने हुये क्वाथ में आधा आढ़क अर्थात् दो सेर तेल पकाना चाहिये। इस क्वाथ के पाक के साथ मुलेठी मजीठ चन्दन नीलकमल, लाल कमल, छोटी इलायची, पिप्पली, कुष्ठ, दारुचीनी , बडी एला,(कपित्थ की छाल) अगरु, केशर, अश्वगंधा तथा जीवंती का कल्क और एक आढ़क अर्थात चार सेर दूध मिलाना चाहिये।

इस पाक को अग्नि की धीमी आँच में सिद्ध करके एक रजत पात्र में रखना चाहिये। यह तेल पाक समस्त वात तथा धातु रोगों का नाशक है। इस तैल पाक के सेवन से कफ जन्य क्षयरोग भी विनष्ट हो जाता है इसका नाम राजवल्लभ है।

एक प्रस्थ शतावरी का रस एक प्रस्थ दूध, एक -एक कर्ष शतपुष्पी, देवदारु, जटामांसी, शिलाजीत, बला, चन्दन, तगर, कुष्ठ, मैनसिल, और मालकँगनी नामक औषधियों का रस लेकर एक प्रस्थ घृत को अग्नि पर सिद्ध करना चाहिये। इस घृत पाक के प्रयोग से प्राणियों का लगड़ा पन, बौना पन, लुन्जता, बधिरता, व्यंगदोष[1] और कुष्ठरोग भी नष्ट हो जाते हैं।

वायु दोष के कारण जिनका शरीर दुर्बल हो गया है। जो मैथुन में अशक्त है वृद्धा वस्था के कारण जो जर्जर शरीर वाले हो गये हैं उनके उन सभी विकारों का यह घृतप घृतपाक विनाशक है। जिन प्राणियों के चर्म शिरा और स्नायु तन्त्रिकाओं में विकृत वायु समूह प्रविष्टि होकर रोग का रुप धारण कर चुका है वह सब इस सिद्ध तेल के सेवन से नष्ट हो जाता है। इस तेल का नाम नारायण तेल है। इस रोग विनाशक तेल को सिद्ध की विधान

1. गरुड पुराण अ0 174

स्वयं भगवान् विष्णु ने बताया था इस लिये इस तेल का नाम उन्ही के नाम पर पड़ा है। इन्ही औषधियो से पृथक पृथक अथवा मिश्रण रूप में घृत एवं तैल पाक बनाना चाहिये।

शतावरी, गुडूची,चित्रक, बिजौरा, नीबू का रस अथवा कंट्कारी के रसादि से समन्वित निर्गुण्डी, का रस या पुनर्नवा, और चमेली अथवा त्रिफला के साथ अडूसा या ब्राह्मी, एरण्ड, भृगंराज, कुष्ठ, मूसली, दशमूल और खदिर को घिस कर बनायी गयी वटी, वटिका,मोदक या चूर्ण सभी रोगों को दूर करने वाला है। घृत, मधु, जल, शर्करा, गुड़ ,नमक,सोंठ ,कालीमिर्च अथवा पिप्पली के साथ सेवन करने से सभी रोगों में यथोचित लाभ होता है इन औषधियों का योग सर्वरोग विनाशक है।

चित्रक, मन्दार और निसोथ अथवा अजवाइन तथा कनेर या सुधा,(गुडूची) बला (चमेली) गणिका (गनियारी) सप्तपर्णी (छितवन) सुर्वचिका(पित्तपापड़ा) और ज्योतिष्मती (मालकँगनी) नाम की औषधियों को एकत्र करके विद्वान को उनका तैल पाक सिद्ध करना चाहिये। इस योग से सिद्ध तेल को प्रयोग भगन्दर रोग में करना चाहिये। शोधन, रोपण तथा सर्ववर्णकारक चित्रकादिक जो महातेल है, वे सभी प्रकार के रोगों का निवारण करते हैं।

अजमोदा, सिन्दूर, हरताल, दारुहल्दी, हल्दी, यवछार, छज्जी, समुद्रफेन, अदरक, सरलद्रव, इन्द्रायण, अपामार्ग, केला तथा तिन्दुक को समान भाग में लेकर सरसो का तेल बकरी के मूत्र तथा गो दुग्ध को मिलाकर मन्द - मन्द अग्नि को आँच पर पाक करना चाहिये। इस सिद्ध तेल पाक का नाम अजमोदादि तेल है। यह गण्डमाला नामक रोग को दूर करता है।

ज्वर चिकित्सा :-

अग्नि से स्वेदन की क्रियाओं को करने से सभी ज्वर विनिष्ट हो जाते है गुडूची और मोथे का क्वाथ वात ज्वर विनाशक है। दुरालभा[1] अर्थात् धमासा नामक औषधि के घृत का पान करने से पित्त ज्वर दूर हो जाता है। सोंठ, पित्त पापड़ा नागरमोथा, बालक (ह्वेर) खस और चन्दन के क्वाथ से सिद्ध, पित्त ज्वर का विनाश करता है। दुरालभा तथा सोंठ से सिद्ध के घृत मिश्रित क्वाथ कफ ज्वर का नाशक है। बालक ,सोंठ और पित्तपापड़ा से सभी ज्वर का विनष्ट हो जाते हैं चिरायता, एरण्ड़, गुडूची, सोंठ, नागरमोथा के क्वाथ से पित्त ज्वर दूर हो जाता है। ह्वेर, खस,पाठा कंटकारी, और नागरमोथा का क्वाथ ज्वर को विनाश करता है। देवदारु की छाल का क्वाथ भी लाभदायक है।

मधु सहित धनिया ,नीम, नागर मोथा, परवल की पत्ती, गुडूची, त्रिफला का क्वाथ समस्त ज्वरों का विनाशक है। इसके सेवन से रोगी की क्षुधा बढ़ने लगती है एवं वायु विकार

1. च0सू0 25, गरूड पुराण अ0 175

दूर हो जाता है। हरीतकी, पिप्पली आंवला, चित्रक, धनिया, खस तथा पित्तपापड़ का चूर्ण और क्वाथ दोनो ज्वर नाशक हैं। मधु के साथ आँवला, गुडूची, तथा चन्दन का सेवन सभी ज्वर रोगों को दूर करने वाला है। हल्दी, नीम, त्रिफला, नागरमोथा देवदारू, अदरक ,चन्दन, परवल की पत्ती का क्वाथ पीने से त्रिदोष जन्य अर्थात् सन्निपातज ज्वर दूर हो जाता है। कण्टकारी,सोंठ, गुडूची, कमल तथा नागबला, नामक औषधियों के योग से बने चूर्ण का सेवन करके रोगी स्वास और खाँसी आदि से विमुक्त हो जाता है कफ, वातज, ज्वर से ग्रसित रोगी को प्यास लगने पर गर्म जल देना चाहिये । सोंठ ,पित्तपापड़ा,खस, नागरमोथा तथा चन्दन से सिद्ध क्वाथ शीतल जल के साथ देना चाहिये। यह तृष्णा वमन(पित्त) ज्वर और दाह से ग्रस्त रोगी के लिये हितकारी है।

बिल्व आदि पंचमूल का क्वाथ वातज ज्वर में लाभ करता है। पिप्पलीमूल ,गुडूची सोंठ का योग पाचक है। वात ज्वर होने पर इसका क्वाथ देना चाहिये यह परम शान्ति देने वाला है। मधु के सहित पित्तपापड़ा एवं नीम का क्वाथ पित्तज ज्वर का विनाश करता है। समुचित उपचार करने पर भी यदि रोगी को चेतना नहीं लौटती तो उस रोगी के दोनो पैरो के तलुओं में मस्तक भाग में लोहे के गर्भ शलाका से दग्ध (गर्म) करना चाहिए। चिरायता पाढ़ा, पित्तपापड़ा, विशाला, (इन्द्रायण) त्रिफला तथा निसोत का क्वाथ दूध के साथ ग्राह्य है। यह मलावरोध का भेदन करने वाला एवं समस्त ज्वारो का विनाशक है।

पलितकेश तथा कर्णशूल के उपचार :-

हाथी दाँत का भस्म एवं बकरी के दूध से मिश्रित रसाञ्जन (रसौत) का लेप सिर पर करने से खल्वाट अर्थात गंजे प्राणी के सिर में सात रात्रियों के बीतते ही बीतते सुन्दर बाल उग आते है। चार भाग भृंगराज रस से सिद्ध गुंजाफल के चूर्ण युक्त तिल का तैल केशराशि का अभिवृद्धिकारक है।

इलायची, जटामांसी, मुरा (शल्लकी) शिव (कालाधतूरा) ,गुंजा (धुँधची) का समभाग मे लेकर उनसे बनाया गया लेप सिर में लगाने से इन्द्रलुप्त रोग दूर हो जाता है। आम की गुठलियो का चूर्ण का लेप करने से केश सूक्ष्म अर्थात पतले हो जाते है। करंज, आँवला, इलायची और लाह का लेप बालों की ललिमा का विनाशक है। आम के गुठली की मज्जा तथा आँवले के चूर्ण का सिर में लेप करने से केशराशि जड से मजबूत, सघन, लम्बी, चिकनी तथा टूट टूटकर न झरने वाली हो जाती है।

विडंग और गन्धक अथवा चार गुने गोमूत्र से युक्त मैनसिल के चूर्ण से सिद्ध तैल पाक उत्तम माना गया है। सिर मे इन तेलो का लेप करने से जूँ और लीख समाप्त हो जाती है।

शंखभस्म और सीसक घिसकर सिर में लगाने से केश चिकने और अत्यन्त काले हो जाते हैं। भृगराज लौहचूर्ण, त्रिफला, बिजौरा, नीबू , नीली कनेर और गुड को समान भाग में लेकर अग्नि में सिद्ध किया गया पाक एक महौषधि है। इसके लेप से पक रहे बालो को पुनः काला किया जा सकता है। आम की गुठलियों की गूदी, त्रिफला नीली भृंगराज शोधित पुराना लौहचूर्ण तथा एक कांजी का सिद्ध योग भी बालो को काला करता है।

चक्रमर्दक (चकवड़) का बीज एवं कुष्ठ एरण्डमूल तथा खट्टे कांजी के साथ पीसकर लेप करने से मस्तक का रोग दूर हो जाता है।

सेंधानमक, वच, हींग, कुष्ठ नागकेशर, शतपुष्पा (सौफ) तथा देवदारू नामक औषधियों से शोधित चार गुने गाय के गोबर से निकाले गयें रस से युक्त तिल के तेल के एक कण मात्र भी कान में डालकर अत्यन्त प्रबल कर्ण शूल को विनष्ट किया जा सकता है। भेड का मूत्र और सेंधानमक कान में डालने से पूतिका दोष अर्थात बहने वाला दुर्गन्ध पूर्णपानी और कृमिस्रावादिका विकार विनष्ट हो जाती है। मालती नामक पुष्प की पत्तियो का रस या गोमूत्र कानो में डालने से उनमें से बहने वाला मवाद नष्ट हो जाता है। कुष्ठ, उडद, काली मिर्च तगर, मधु पिप्पल ,अपामार्ग अश्वगन्धा, बृहती श्वेत सरसों यव तिल और सेंधानमक का उबटन कल्याणकारी होता है। भल्लातक, बृहती और अनार का छिलका तथा कटु तैल के लेप से या इस उबटन के प्रयोग से लिंग बाहु, स्तन और श्रवणशक्ति की वृद्धि होती है।

नेत्र, नाक, मुख, गला, अनिद्रा तथा पादरोग और शस्त्रघातादिजनित रोगों की चिकित्सा :-

मधु के सहित शोभनक वृक्ष की पत्तियो का रस आँखो में डालने से निश्चित ही तिमिरादिक रोग नष्ट हो जाता है। बहेडे के गुठली की गूदी, शंखनाभि मैनसिल नीम की पत्ती एवं कालीमिर्च को बकरी के मूत्र में घिसकर अंजन बनाना चाहिए । इस प्रकार का सिद्ध अंजन नेत्रो मे होने वाले पुष्प दोष अर्थात फुल्ला, रतौधी ,तिमिर विकार का पटल रोग को नष्ट कर देता है।

शंखभस्म चार भाग, मैनसिल दो भाग एवं सेंधानमक एक भाग जल में पीसकर बनायी और छाया में सुखायी वटी का नेत्रो में अंजन करने से तिमिर पटल तथा सूजन नष्ट हो जाती है। यह नेत्र रोगो की महौषधि है। त्रिकटु, त्रिफला, कंजा के फल सेंधानमक और दोनो रजनी हल्दी, दारुहल्दी का भृंगराज के रस में पीसकर उसका नेत्रो में अंजन देने से तिमिरादिक सभी रोग दूर हो जाते हैं। जंगली अडूसा की जड को कांजी में पीसकर नेत्रों में लगाने से नेत्रशूल नष्ट हो जाते है। तक्र अर्थात् मट्ठे के साथ बेर की जड को पीसकर पीने से भी नेत्रो की पीडा दूर हो जाती है। सेंधानमक, कडुवा तेल, अपामार्ग की जड दूध और

कांजी को ताम्रपात्र में घिसकर उसका नेत्रों में अंजन करने से पिंजट अर्थात् कीचड़ निकलना बन्द हो जाता है।

बिल्व और नील वृक्ष की जड पीसकर बनाये गये अंजन को नेत्रो में लगाने मात्रा ? से तिमिरादिक रोग निश्चित ही नष्ट हो जाता है। पिप्पली ,हल्दी, तगर, आँवला, वच, और खदिर द्वारा बनायी गयी बत्ती का अंजन लगाने सें नेत्ररोग नष्ट हो जाता है। जो मनुष्य नित्य प्रायः मुँह में जल भरकर जल का छीटा देकर नेत्रो को धोता है, वह नेत्रो के सभी रोगो से मुक्त हो जाता है। श्वेत एरण्ड की जड एवं पत्तियो के रस से सिद्ध बकरी के दूध के उष्णपाक के सेक से आँखो का वात विकार दूर हो जाता है। चन्दन, सेधानमक पुराने पलाश का पत्र और हरीत की पटल, कुसुम, नीली अंजन चक्रिका(चका चौधी) नामक नेत्र रोगो का विनाशक है।

बकरी के मूत्र में घिसी गयी गुंजा की जड़ का अंजन तिमिररोग को दूर करता है। चाँदी, ताबे, तथा सोने की शलाका को हाथ पर घिसकर नेत्रो में उसका लगायां गया उबटन कामला नामक रोग का निवारक है। घोषाफल अर्थात सौंफ को सूंघने और सेवन करने से पीलिया नामक रोग का विनाश होता है।

दूर्वा, अनारपुष्प, लोध्र और हरीत की का रस नासार्श तथा वातरक्त के दोष को दूर करता है। जाङ्गलिकमूल अर्थात् केवाँच की जड को भली प्रकार से पीसकर उसका नस्य लेने से नासार्श रोग नष्ट हो जाता है। गोघृत, सर्जरस (राल), धनिया, सेधानमक ,धतूर और गैरिक से सिद्ध सिक्थ अर्थात् मोम तेल में मिलाकर ओठों पर लगाने से ओठों के घाव तथा ओठ फटने का रोग दूर हो जाता है। चबाकर सेवन की जाने वाली चमेली की पत्तियों का रस भी मुखरोग विनाशक है।

केसर के बीजों के खाने से हिलने वाले दांत दृढ हो जाते है। मुष्टक (मोथा) कुष्ठ, इलायची, मुलेठी, वालक, और धनिया के चबाने से मुख की दुर्गन्ध दूर हो जाती है। कषाय द्रव्य त्रिकटु अथवा तेलयुक्त तिक्त शाक के नित्य भक्षण से भी मुख की दुर्गन्ध दूर हो जाती है। इससे सभी प्रकार के दाँतो से सम्बन्धित घाव भी नष्ट हो जाते है। तेल में सिद्ध कांजी का कुल्ला करने से अथवा उसको मुख में रखने से ताम्बूल के साथ खाये गये चूने के प्रभाव से हुए घाव या अन्य व्याधियो का विनाश हो जाता है।

सोंठ के चबाने से जिस प्रकार प्राणी कफ के रोग से मुक्ति प्राप्त कर लेता है। उसी प्रकार बिजौरा नीबू के बीज इलायची, मुलेठी ,पिप्पली और चमेली की पत्तियो का चूर्ण (शहद में) चाटने से भी कफ विकार से मुक्ति मिल जाती है। शेफालिका (सिन्धुवार) तथा जटामांसी का चूर्ण चबाने से गलशुण्डि अर्थात तालु भाग की शोथ का विनाश होता है।

गुंजा अर्थात धुंधची की जड को चबाने से दाँत में लगे हुए कीडो का विनाश होता है। मधुसहित काकजंघा (धंधची) स्नुही (सेहुड) और नील का क्वाथ, दन्ताक्रान्त (दन्ताघात) तथा दाँत के कीट रोगों का विनाशक है। कर्कटपाद (कमल की जड़) से सिद्ध घृतपाक का मंजन करने से दाँतो की कट्कटाहट दूर हो जाती है। कर्कटपाद का दूध के साथ लेप करने से भी इस रोग का विनाश हो जाता है। ज्योतिष्मती (माल कँगनी) के फलो को जल में पीसकर उसके द्वारा तीन सप्ताह तक कुल्ला करने से भी इस रोग में लाभ होता है। विदारीकन्द और हरीत की चूर्ण का मंजन करने से दाँतो का कालापन विनष्ट हो जाता है।

लोभ्र, कुकुम, मजीठ, अगर, लालचन्दन, यव, चावल, तथा मुलेठी को जल में पीसकर तैयार किया गया मुखलेप स्त्रियो के मुख को शोभा सम्पन्न बनाता है। दो प्रस्थ बकरी का दूध, एक प्रस्थ तिल का तेल एक-एक कर्ष रक्तचन्दन, ,मंजिष्ठ, लाक्षारस, मधुयष्टी और कुंकुम से सिद्ध लेपपाक एक सप्ताह के अन्तर्गत ही मुख शोभा को बढ़ा देता है। सोंठ, पिप्पली, गुडूची, चूर्ण और कण्टकारी के क्वाथ पान करने से जठराग्नि तीव्र हो जाती है। कंजा, पित्तपापडा, बृहती (भट कटैया) अदरक तथा हरीत की तथा गोखरू के द्वारा सिद्ध क्वाथ पीने से थकान देर हो जाती है। एवं दाह, पित्त ज्वर, शरीरिक शुष्कता और मूर्च्छा दोष भी विनष्ट हो जाते है। मधु, घृत, पिप्पली चूर्ण एवं दूध से युक्त क्वाथ का पान हृदय रोग खाँसी तथा विषम ज्वर का विनाशक होता है।

सामान्यतः क्वाथ तथा औषाधियों के अनुपान मात्रा आधा कर्ष अर्थात् एक तोला होता है। विशेष रूप से रोगी की आयु के अनुसार उसके परिमाण पर विचार करना चाहिए।

गौ के गोबर से रस निकालकर दूध के साथ पान करने से विषम ज्वर दूर हो जाता है। काकजंघा (धुंधची) का रस भी इस प्रकार का नाशक है। सोंठ के चूर्ण से युक्त बकरी के दूध का क्वाथ विषम ज्वर को दूर करता है।

मुलेठी, खस, सेंधानमक तथा भटकटैया का फल पीसकर उसका नस्य देने से पुरुष को नींद आने लगती है। काली मिर्च का चूर्ण मिलाकर मधु के नस्य लेने से भी प्राणी को नीद आने लगती है। काकजंघा (कालाहिस्रा) की जड़ मस्तक पर लेप करके भी निद्रा को लाया जा सकता है। कांजी तथा धूना नामक वृक्ष के गोंद से सिद्ध तैल पाक को शीतल जल मिलाकर सिर पर लेप करने से सिर संताप दूर हो जाता है। यह रक्तदोषज ज्वर और दाह से उत्पन्न हाने वाले संताप को भी दूर करता है। शिलाजीत, शैवाल, मन्था, (मेथी) सोंठ पाषाण भेदी (पत्थर चट्टा) सहिजन, गोखरू, वरूण, और सोभाञ्जन की जड़ इन सबको एकत्र करके बनाया गया जल या क्वाथ हींग तथा यवक्षार के सहित पान करने से वातरोग विनष्ट हो जाता है।

पिप्पली ,पिप्पलीमूल तथा भिलावे का जल या क्वाथ भली प्रकार से शूलरोग को दूर करने का श्रेष्ठतम योग है।

अश्वगन्धा तथा मूली के रस से शोधित बामी की जो मिट्टी होती है। उसको रगडने से दाद और ऊरूस्तम्भ नामक रोग शान्त हो जाता है। बृहतीमूल अर्थात भटकटैया की जड को पानी में पीसकर पीने से संघातवात नष्ट हो जाता है। अदरक और तगर की जड को पीसकर मट्ठे के साथ पीने से झिंझिनी अर्थात झुंझवाई का रोग वैसे ही नष्ट होता है। जैसे बज्र के प्रभाव से वृक्ष धराशायी हो जाता है।

अस्भिसंहारक हरजोड अर्थात् ग्रन्थिमान नामक लता की जड को भात के साथ खाने से अथवा जटामांसी के रस के साथ पान करने से वात रोग तथा अस्थिभंग के दोष विनष्ट हो जाते हैं। बकरी के दूध और घृत मिश्रित सत्तू के लेप दोनो पैर के तालुओं में करने से जलन समाप्त हो जाती है। मधु, घृत, मोम, गुड, गैरिक, गुग्गुल और राल का रस पैरों में लेप करने से उनका फटना तथा जलना बन्द हो जाता है।

सरसों के तेल को पैरो में लेप कर निर्धूम अग्नि में जो मनुष्य सेंकता है, उसका पंकिल मिट्टी खाया हुआ अर्थात कीचड़ में अधिक देर तक रहने से दूषित हुआ था उसके समान अन्य किसी कारण से विकृत हुआ पैर खुजलाहट आदि विकारो से रहित हो जाता है। सर्जरस, मोम, जीरा और हरीत से शोधित घृत पाक का उभ्यङ्गं करने से अग्नि में उत्पन्न पीडा शान्त हो जाती है। तिलका तेल अग्नि में जलाकर भस्म किये को गये यव प्रचुर मात्रा में बार बार मिलाकर लेप करने से अग्नि मे जलने के कारण उत्पन्न हुए घाव ठीक हो जाते है। भैंस दूध का मक्खन ,अग्नि में भूने गये तिल का चूर्ण और भिलावा का रस मिलाकर तैयार किया गया लेप घाव को ठीक करता है। इसका नस्य एवं लेप करने से हृदय शूल भी शान्त हो जाता है।

दण्ड प्रहार आदि के कारण शरीर में उत्पन्न घाव कर्पूर और गोघृत परस्पर मिलाकर भरने से ठीक हो जाता है। शस्त्रो के प्रहार से होने वाले घाव पर इस औषधि का प्रयोग करके उसे स्वच्छ सफेद कपडे से बाँध देना चाहिए। इस प्रकार के घाव जब पक रहे हो या उनमें पीड़ा होती हो तो उन्हे हाथ का स्पर्श देना (सहलाना) चाहिए। आम्र की जड़ का रस और घृत भरने से भी शस्त्रघात का घाव भर जाता है। शरपुंखा (शरफो का) लज्जालुका(लाजवन्ती) और पाठा (पाढा) नामक औषधियो को जल में पीसकर उसका लेप करने से भी शास्त्रघातजनित ब्रण ठीक हो जाता है। काकजंघा की जड को पीसकर शास्त्रघात के घाव में भरने से वह घाव तीन रात्रियो के बीतते ही सूख जाता है। रोहितक नामक या रोहडा की जड का लेप भी ब्रण को नष्ट कर देता है।

लाठी आदि के प्रहार से उत्पन्न होने वाली पीड़ा जल एवं तिल के तेल में सिद्ध अपामार्ग की जड का लेप लगाने से तथा आग पर सेंकने से शान्त हो जाती है।

हरीतकी, सोंठ और सेंधा नमक पीसकर जल के साथ खाने से अर्जीण रोग का विनाश होता है।

निम्बमूल अर्थात नीम की जड को कमर में बाँधने पर नेत्र की पीडा दूर हो जातह है। शण (पटसन) की जड़ और पान का भस्म इन्द्रिय जन्य विकार का विनाशक है। यवादिक अन्न, सफेद सरसों की जड और बिजौरा नीबू के समान भाग में पीसकर इनका उबटन बनाना चाहिए। सात दिन तक इसका शरीर में प्रयोग करने से रंग गोरा हो जाता है।

श्वेत अपराजिता की पत्ती तथा नीम की पत्ती का रस निकालकर उसका नस्य देने से डाकिनी आदि माताओ और ब्रह्मराक्षसो से मुक्ति हो जाती है। मधुसार अथवा मुलेठी की जड का नस्य देने से भी उनकी छाया दूर हो जाती है।

पिप्पली, लौहचूर्ण, सोंठ आँवला, सेंधानमक मधु तथा शर्करा का समान योग गूलर के फल के बराबर की मात्रा में एक सप्ताहपर्यन्त सेवन करने से पुरूष बलवान हो जाता है। यदि वह सदैव इसका सेवन करे तो दो सौ वर्ष तक जीवित रहता है।

भल्लूकी के दूध से भावित रोहित मछली के मांस द्वारा सिद्ध तैल पाक का अभ्यङ्ग करने से शरीर में स्थित समस्त रोग दूर हो जाते है।
चन्दन के जल का नस्य लेने से शरीर के गिरे हुए रोग पुनः निकल आते है।

हस्ति नक्षत्र में लाङ्गिलिकाकन्द अर्थात कलियारी या जलपिप्पली की जड को लेकर जो व्यक्ति उसका लेप शरीर में लगाता है। वह बुढौती के दर्प को नष्ट कर देता है। अर्थात् शरीर में वृद्धावस्था का अभाव नही पडता। पुष्प नक्षत्र में सुदर्शना (चक्रांगी या वृषकर्णी) नामक लता की जड को लेकर घर के मध्य डाल देने से सर्प भाग जाता है। रविवार को लायी गयी मन्दार वृक्ष तथा अग्निज्वलिता (जल पिप्पली) की जड को पीसकर बनाई गयी बत्ती ,सरसो के तेल मे जलाने पर मार्ग में दंश प्रहार करने वाले सर्प का विनाश करती है।

बिफला (केतकी) और अर्जुन के पुष्प, भिलावा शिरीष, लाक्षा रस, राल, विड और गुग्गुल इन सभी के द्वारा बना धूप मच्छरों तथा मक्खियों का नाश करता है।

गर्भ सम्बन्धी रोग, दन्त तथा कर्णशूल एवं रोमशमन आदि का उपचार :-

मुलेठी तथा कण्टकारी औषधियो को समभाग में लेकर गोदुग्ध मे पाक तैयार करके दूध का चौथा भाग शेष रहने पर उस पाक को गरम जल के साथ पान करने पर स्त्री को गर्भ रूक जाता है। बिजौरा नीबू के बीजो को दूध के साथ भावित करके उसका पान करने से स्त्री को गर्भ हो सकता है। पुत्र प्राप्त करने की इच्छुक स्त्रियों को बिजौरा नीबू का बीज

ताम्बूल, घृत, मधु तथा नमक को गोदुग्ध के साथ ताम्रपत्र में घिसकर सिद्ध किया गया अञ्जन नेत्रपीडा को दूर करने का उत्तम योग है। खाँसी श्वास तथा हिचकी का विकार हाने पर हरीतकी वच, कूट त्रिकटु अर्थात् विश्वा, उपकल्या , मरिच, हीग तथा मैनसिल चूर्ण को मधु तथा घृत मे मिलाकर चाटना चाहिए।

पिप्पली और त्रिफला के चूर्ण को मधु के साथ चाटने से भयंकर पीनस खाँसी और श्वास के विकार नष्ट हो जाते है। मूल सहित चित्रक तथा पिप्पली के चूर्ण को मधु के साथ मिलाकर चाटना चाहिए। यह श्वास खाँसी और हिचकी को नष्ट कर देता है।

चावल के जल में समान भाग में पिसा हुआ नीलकमल , शर्करा, मधु तथा रक्तकमल का योग रक्त विकार को शान्त करता है।

सोंठ, शर्करा, और मधु मिलाकर बनाई गयी गुटिका खाने मात्र से मनुष्य का स्वर कोयल के समान हो जाता है।

हरिताल, शंखचूर्ण, केले के पत्ते का भस्म इनका उबटन लगाने से बाल गिर जाते है। लवण, हरिताल, लौकी और लाक्षा रस से उबटन भी रोम गिराने का उत्तम योग है। सुधा, हरिताल, शंखभस्म तथा मैनसिल को सेंधानमक एव बकरे के मूत्र मे मिलाकर पीसकर और उसी क्षण उससे उबटन करने से रोग गिर जाते है। यह उत्तम औषधि है।

भोज्य पदार्थो का विहित सेवन काल बल बुद्धि वर्धक औषधियाँ तथा विषदोष शमन के उपाय :-

प्रायः शरद् ग्रीष्म और वसन्त ऋतु में दही का उपभोग निन्दनीय है, तथा हेमंत शिशिर एवं वर्षा ऋतु में दही प्रशस्त होता है।

शरद्ग्रीष्म वसन्तेषु प्रायशो दधि गर्हिताम।
हेमंते शिशिरे चैव वर्षासु दधि शस्यते।

भोजन करने के पश्चात नवनीत (मक्खन) के साथ शर्करा का पान करना बुद्धिकारक होता है। यदि पुरूष एक पल पुराना गुड़ प्रतिदिन (भोजन करने के पश्चात्) खाता रहे तो वह बलवान् होकर अनेक स्त्रियों से सम्पर्क प्राप्त करने की क्षमता प्राप्त कर लेता है।

कुष्ठ (कूट) को भली भाँति चूर्ण करके घृत और मधु के साथ सोने के समय खाने से बलीपलित दूर हो जाता है। अलसी, उडद, गेहूं, पिप्पली का चूर्ण घृत के साथ शरीर में लगाने से मनुष्य कामदेव के सदृश सौन्दर्य सम्पन्न हो जाता है।

यव, तिल अश्वगन्धा, मूसली सरला, (काली तुलसी) और गुड को परस्पर मिलाकर बनायी गयी बटी खाने से मनुष्य वरूण तथा बलवान हो जाता है। हींग काला नमक और सोंठ का काढा बनाकर पीने से परिमाण नामक शूल और अजीर्ण रोग विनष्ट हो जाता है।

धात की (धव का फूल) तथा सोमरा जी (औषधि) गोदुग्ध के साथ पीसकर पान करने से दुर्बल मनुष्य भी मोटा हो जाता है। शक्ति चाहने वाले प्राणी को शर्करा तथा मधु के साथ मक्खन खाना चाहिए । क्षयरोग से पीडित व्यक्ति को दुग्ध पान पुष्ट तथा बुद्धि को अत्यधिक प्रखर बना सकता है। गोदुग्ध के साथ पान किया गया कुलीर का चूर्ण क्षय रोग विनष्ट करता है।

भिलावा, विडंग, यवक्षार, सेंधानमक, तथा मैनसिल को शंखचूर्ण को तेल में पकाकर अनपेक्षित रोम समूहो को हटाने के लिये उसका प्रयोग करना चाहिए।

मुण्डीत्वक, (गोरखमुण्डी) वच मोथा तथा काली मिर्च तथा तगर को एक साथ चबाकर मनुष्य तत्काल ही जिह्वा से अग्नि को चाट सकता है। गोरोचन, भृंगराज का चूर्ण एवं घृत को समान मात्रा में मिलाकर जलस्तम्भन किया जा सकता है।

यष्टि मधु (मुलेठी) एक पल उष्ण जल के साथ पान करने से विष्टम्भिका तथा हृदय शूल नामक रोग दूर हो जाता है।

पिप्पली, मक्खन, श्रृगबेर, सेधानमक काली मिर्च, दही और कूट्का नस्य लेने तथा उसका पान करने पर वह विषदोष को दूर करता है। त्रिफला, अदरक, कूट और चन्दन को घृत में मिलाकर पान करने और लेप करने से विच्छू का विष विनष्ट हो जाता है। सेंधानमक और त्रिकटु के चूर्ण को दही, मधु तथा घृत में मिलाकर लेप करने से यह बिच्छू के विष को दूर करता है।

ब्रह्मदण्डी और तिल का क्वाथ बनाकर उसके साथ त्रिकटु (सोंठ पिप्पली तथा काली मिर्च) का चूर्ण पान करना चाहिए। यह सभी प्रकार के गुल्म एवं ऋतु कालीन अवरुद्ध रक्त विकार का विनाशक है। मधु मिलाकर दूध का पान करने से रक्त स्राव के विकार को दूर किया जा सकता है। जंगली अडूसे की जड को पीसकर प्रसवकाल में स्त्री की नाभि एवं गुह्यभाग में लेप करने से स्त्री सुख पूर्वक प्रसव करती है। चावल के पानी में शर्करा और मधु मिलाकर पान करने से रक्तातिसार नामक रोग शान्त हो जाता है।

ग्रहणी, अतिसार, अग्निमान्द्य, छर्दि तथा अर्श आदि रोगों का उपचार :-

काली मिर्च श्रृंगवेर और कुटज की छाल का पान करने से ग्रहणी रोग नष्ट हो जाता है। पिप्पली, पिप्पलीमूल, काली मिर्च तगर वच, देवदारू का रस और पाठा को दूध के साथ पान करने से निश्चित ही अतिसार रोग विनष्ट हो जाता है।

काली मिर्च तथा तिल के पुष्पो का अञ्जन कामलारोग का विनाशक है। हरीत की और गुड को बराबर मात्रा मे मधु के साथ मिलाकर खाना चाहिए । निःसन्देह यह विरेचन कारी होता है। त्रिफला, चित्रक, चित्र , कटुकराहिणी का योग ऊरुस्तम्भ रोग का अपहारक है,

और यह विरेचन की भ उत्तम औषधि है। हरीत की श्रृगं वेर देवदारू, चन्दन अपा मार्ग (चिचडा) को जड को बकरी के दूध मे पकाकर पान करके अरूस्तम्भी का विनाश किया जा सकता है। अथवा जयन्ती (विष्णु कान्ता) की जड का भी क्वाथ पाने से भी यह रोग सात दिन में दूर हो जाता है।

अनन्ता (घमासा) और श्रृगंवेर का समान भाग में चूर्ण बनाकर बराबर मात्रा मेंही गुग्गुल और गुड मिला ले तदनन्तर उसकी गोलियाँ बनाकर सेवन करने से स्नायुगत वायुविकार तथा अग्निमान्ध रोग विनष्ट हो जाता है।

पुष्य नक्षत्र में डंठल एवं पत्तियो सहित शंखपुष्पी को उखाडकर बकरी के दूध में पीने से अपस्मार (मिर्गी) का रोग दूर हो जाता है। समभाग में अश्वगन्धा तथा हरीतकी के चूर्ण को जल के साथ पीने से निश्चित ही रक्त विकार का विनाश होता है। हरीतकी और कूट का चूर्ण बनाकर उसको मुख में रखना चाहिए। इसके पश्चात् शीतल जल पीने से छर्दि अर्थात वमन दूर हो जाते है। गुडूची, पद्मकारिष्ट और नीम, धनिया तथा रक्तचन्दन नामक औषधियो का योग पित्तश्लेष्मक ज्वर छर्दि और कृष्णा के विकार का विनाशक एवं अग्निवर्धक है, किन्तु इन औषधियों का प्रयोग (ऊँ हुँ नमः) इस मन्त्र से अभिमन्त्रण करने के पश्चात् करना चाहिए।

ऊँ जम्भिनी स्तम्भिनी मोहय सर्वव्याधीन् में वज्रेण ठः ठः सर्वव्याधीन् में वज्रेण फट् ।।

उक्त मन्त्र से अभिमन्त्रित शंखपुष्पी को कान में बॉधने से ज्वर को दूर किया जा सकता है। इसी मन्त्र से 108 बार जप करके अभिमन्त्रित शंखपुष्पी को रोगी के हाथ में रखकर वैद्य उसके नाखूनों को स्पर्श करे तो चौथिया ज्वर अथवा अन्य सभी प्रकार के ज्वर विनष्ट हो जाते हैं।

जामुन का फल, हल्दी तथा सांप की केचुल का धूप सभी प्रकार के ज्वरो का विनाशक है। यह धूप तो चौथिया ज्वर का भी विनाश कर देता है।

करवीर (कनेर), भृंगराज, नमक, कूट और कर्कट (काकडासीगी) नामक औषधि को समान भाग में लेकर चौगुने गोमूत्र के साथ तैल पाक सिद्ध करना चाहिए। इस तेल का अभ्यङ्ग पामा ,विवर्चिका तथा कुष्ठ रोग के ब्रणो को दूर करता है।

पिप्पली और मधु का सेवन करने एवं मधुर भोजन करने तथा सूरण के सेवन से ही प्लीहा रोग विनष्ट हो जाता है।

गोमूत्र केसाथ पिप्पली और हल्दी का चूर्ण मिलाकर उसको गुदाद्वार में डालने से अर्श रोग दूर किया जा सकता है।

बकरी का दूध और अदरक का चूर्ण मिलाकर पान करने से प्लीहा आदि रोग विनष्ट हो जाते है। सेंधानमक, विडंग सोमलता, सरसों हल्दी दारूहल्दी और नीम की पत्ती को गोमूत्र के साथ पीस लेना चाहिए। इसका लेप करने से कुष्ठ रोग का विनाश होता है।

सिध्म, अर्श, मूत्रकृच्छ्र, अर्जीण तथा गण्डमाला आदि रोगों की औषधियाँ :-

हल्दी और केले के क्षार का लेप सिध्म रोग का विनाशक है। एक भाग कूट तथा दो भाग हरीत की का चूर्ण उष्ण जल के साथ पान करने से कमर का शूल रोग दूर हो जाता है। हरीतकी शर्करा और पिप्पली का चूर्ण नवनीत के साथ सेवन करने से वह अर्श रोग का विनाश करता है मन्द-मन्द आँच मे पकाकर उसका लेप करना अर्श रोग दूर करने की श्रेष्ठतम औषधि है।

गुग्गुल और त्रिफला का चूर्ण पान कर भगन्दर रोग को विनष्ट किया जा सकता है। जीरा, अदरक, दही, तथा चावल के मांड को अग्नि में पकाकर नमक के साथ सेवन करना चाहिए। उससे मूत्रकृच्छ्र नामक रोग दूर हो जाता है। यवक्षार तथा शर्करा भी मूत्रकृच्छ्र रोग को दूर करता है।

तिल के तेल में यव को जलाकर उसकी कज्जली बनानी चाहिए। उसके बाद तिल के ही तेल मेक मिलाकर अग्नि से जले समान पर लेप करने से लाभ होता है। घी के सहित लाजवन्ती तथा शंखपुखा की पत्तियो का तैयार किया गया लेप भी अग्नजन्य पीडा को दूर करता है। निम्न मन्त्र से अभिमंत्रित करके इस लेप का प्रयोग करना चाहिए।

ऊँ नमो भगवते ठ ठ छिन्धि ज्वलनं प्रज्वलितं नाशय नाशय हुॅं फट।।

(गरूड पुराण 184/8)

हाथ में निर्गुण्डी की जड बॉधने से ज्वर बहुत ही शीघ्र दूर हो जाता है। श्वेत गुञ्जाफल को सात खण्ड बनाकर उसको हाथ में बॉध लेने से ही अर्श रोग निश्चित ही विनष्ट हो जाता है। विष्णुक्रान्ता (अपराजिता) तथा बकरी के दूध का प्रयोग करके चोर और व्याध्रादि हिंसक जीवों के प्रहार से प्राणी अपनी रक्षा कर सकता है। ब्रह्मदण्डी जड तो सभी कर्मो में सिद्धि प्रदान करने वाली है। घृत के साथ त्रिफला का चूर्ण कुष्ठविनाशक है। पुनर्नवा, बिल्व और पिप्पली के चूर्ण से सिद्ध घृत के द्वारा हिचकी खांसी को दूर किया जा सकता है। इस घृत का पान स्त्रियों के लिये गर्भकारक होता है।

दूध और घी के साथ वानरी बीज (केवाँच) को पकाकर घी तथा शर्करा मे मिलाकर सेवन करने से बीर्य कभी नष्ट नही होता है।

मधु, घृत तथा दुग्ध का पान बलीपलित नामक रोग को दूर करता है। मधु, घृत गुड़ करेले का रस और तॉबे को एक साथ अग्नि में पकाने पर चॉदी बन जाता है। पीले धतूर

का पुष्प और सीसा एक पल तथा लाङ्ग (करियारी) की शाखा को एक साथ मिलाकर अग्नि में पकाने पर सोना बन जाता है।

धतूर के बीजो से निकाले गये तेल द्वारा प्रज्वलित दीपक के प्रकाश में समाधिस्त व्यक्ति को देवता भी नही देख पाते।

मनुष्य का मदमस्त हाथी के दोनो नेत्रो मे अपने हाथो से काजल लगाना चाहिए। ऐसा करने मे वह व्यक्ति युद्ध में विजय प्राप्त करता है। और महाबलवान भी बन जाता है।

डुण्डुभ नामक सर्प के दात को मुंख मे रखकर मनुष्य जल के बीच भी पृथ्वी के समान ही किसी अन्य विकल्प का आश्रय लिये बिना रह सकता है।

लौह चूर्ण और मट्ठा पान करने से पाण्डुरोग का शमन हो जाता है। तण्डुलीयक (चौलाई) तथा गोखरू की जड को दूध मे मिलाकर पान करने से कामला या मुख रोग का विनाश होता है। चमेली और वेर की जड को मट्ठे के साथ पीने से अजीर्ण रोग दूर हो जाता है। कुशली, जड़ बानरीमूल, बकुची तथा कांजी का मिश्रित योग दाँतो के रोग का विनाशक है। इन्द्रवारूणी की जड को जल के साथ पीने से विषादि दोष नष्ट हो जाते है। चम्पा की जड को पान करने से भी उक्त दोष टूट हो सकते है। कांजी के साथ गुंजा (धुंधची) का चूर्ण मस्तक पर लेप करने से सिर का रोग दूर हो जाता है।

बला, अतिबला, मधुयष्टि शर्करा तथा मधु का पान करके बन्ध्या स्त्री गर्भ धारण में समर्थ हो जाती है। इसमें विचार करने की अवश्यकता नही है।

श्वेत अपराजिता की जड पिप्पली और सोंठ का पिसा हुआ लेप सिर पर लगाने से शूल नष्ट हो जाता है। निर्गुण्डी के फुनगी को पीसकर पान करने से गण्डमाला नामक रोग दूर हो जाता है।

केतकी के पत्तो क्षार गुड के साथ अथवा मट्ठे के साथ शरपुंखा का सेवन करने से प्लीहा रोग विनष्ट हो जाता है।

बिजौरा नीबू का निर्यास (गोंद) गुड और घी के साथ मिलाकर पान करने से वात पित्तजनित शूल टूट जाता है। सोंठ, कालानमक, तथा हींग का पानद हृदय रोग का विनाशक है।

गणपति मन्त्र का औषधिक योग तथा शोथ, अजीर्ण, विषूचिका और पीनस आदि विविध रोगो के उपचार :-

ऊँ गं गणपतये नमः भगवान गणेश का यह मन्त्र धन और विद्या प्रदान करने वाला है। इस मन्त्र का एक हजार आठ बार जप करने के बाद अपनी शिखा को बाँधने वाला व्यक्ति

बाद विवाद के व्यवहार मे विजय प्राप्त करता है। एक सौ बार इस मन्त्र का जप करने वाला प्राणी अन्य लोगो का प्रिय बन जाता है।

काले तिलों घृत मे मिलाकर इस मन्त्र से एक हजार आठ आहुतियाँ देने से मात्र तीन मे राजा वश मे हो जाता है। अष्टमी और चतुर्दशी तिथि को उपवास रख कर मनुष्य यदि विधिवत विह्नराज गणेश का पूजन करे और मिल अथवा अक्षत को मिलाकर एक हजार आठ बार उन्हे आहुति प्रदान करे तो वह युद्ध में अपराजित होता है। और सभी लोग उसकी सेवा करते है। उपर्युक्त मन्त्र का एक हजार आठ अथवा एक सौ आठ बार जय करके अपनी शिखा बाँधने वाला प्राणी राजकुल तथा वाद विवाद के व्यवहार में विजय प्राप्त करता है। भृंगराज सहदेवी (सहदेई) वचा (वच) और श्वेत अपराजिता नामक औषधियो का तिलक करके मनुष्य तीनो लोक क ययसशे वश में कर सकता है।

काकजंघा का मूल और दूध का मिश्रितपान शोथ रोग का विनाशक है।

अश्वगन्धा, नागबला, गुड तथा उडद मिलाकर खाने वाला व्यक्ति वैसे ही रूप सौन्दर्य से युक्त हो जाता है। जैसे नवयुवको का सौन्दर्य होता है।

लौहचूर्ण और त्रिफला चूर्ण का मधु के साथ प्रयोग करने से परिणाम नामक शूल का विनाश होता है। हींग काला नमक और सोंठ इन सभी औषधियों के क्वाथ का पान सभी प्रकार के शूलों का उपहारक है। सामुद्रलवण से युक्तअपामार्ग की जड का सेवन करने से अजीर्ण शूल नष्ट हो जाता है।

बरगद की जटाओं का अंकुर चावल में घिसकर मट्ठे के साथ पीने से अतिसार रोग दूर हो जाता है। अंकोट (अंकोल) की जड को आधा कर्ष लेकर चावल के जल में पीसकर पान करने से सभी प्रकार के अतिसार तथा ग्रहणी नामक रोगो का विनाश होता है। काली मिर्च एक भाग, सोंठ दो भाग तथा कुटज की जड का चूर्ण चार भाग गुड मे मिलाकर काढा बनाकर पीने से ग्रहणी नामक रोग दूर हो जाता है। श्वेत अपराजिता की जड हल्दी, सिक्थ, चावल, अपामार्ग, (चिचडा) और त्रिकटु (काली मिर्च सोंठ और पिप्पली) नामक इन औषधियो की बटी बना लेना चाहिए। यह बटी निःसन्देह विचूषिका नामक रोग का विनाश करती है।

त्रिफला, अगरू, शिलाजीत, और हरीतकी को समान भाग में लेकर इनके मिश्रित चूर्ण का मधु के साथ सेवन करने से सभी प्रकार के प्रमेह रोग नष्ट हो जाते है।

मदार का दूध एक प्रस्थ अर्थात चार सेर तिल का तेल एक प्रस्थ अर्थात चार सेर, मैन्सिल, काली मिर्च, सिन्दूर, एक एक पल अर्थात आठ तोले का चूर्ण बनाकर तांबे के पात्र मे रखकर उसे सुखा ले। स्नुही (थूहड़, सेहुँड) का दूध और सेंधानमक मिलाकर सेवन करे तो शूल रोग दूर हो जाते है।

त्रिकटु (काली मिर्च सोंठ पिप्पली) त्रिफला, रक्त (कंजा) तिल का तेल, मैनसिल, नीम की पत्ती , चमेली का पुष्प और बकरी का दूध बकार का मूत्र, शंखनाभि और चन्दन को एक में ही घिसकर बनायी गयी बत्ती से नेत्रो में अञ्जन लगाने से पटल, काच पुष्प तथा तिमिर, आदि रोग दूर हो जाते हैं।

मधु से युक्त बहेडे का चूर्ण श्वास रोग का विनाशक होता है। मधु तथा सेंधानमक से मिश्रित पिप्पली और त्रिफला का चूर्ण सभी प्रकार के रोगों से उत्पन्न होने वाले ज्वर , श्वास, शोथ तथा पीनस को दूर करता है।

देवदारू वृक्ष की छाल के चूर्ण को इक्कीस बार बकरी के मूत्र से भावना देकर सिद्ध करना चाहिए। इसका अञ्जन करने रतौंधी , पटलता और रोम पतन नामक रोग दूर हो जाते हैं।

पिप्पली केतकी , हल्दी, आँवला तथा वचा (वच) को दूध के साथ पीसकर अञ्जन बनाना चाहिए। इस अञ्जन के प्रयोग से नेत्रो के सभी रोग विंनष्ट हो जाते है।

काकजंघा तथा सहिजन की जड को मुख में रखने या चबाने से दॉतो में लगे हुए कीडो का निश्चित ही विनाश होता है।

प्रमेह, मूत्रनिरोध, शर्करा, गण्डमाला, भगन्दर तथा अर्श आदि रोगो का निदान- मधु के साथ गुडूची का रस पीने से प्रमेह रोग विनष्ट हो जाता है। गोहालिका (जल पिप्पली) की जड को तिल दही तथा घी के साथ पान करने से यह वस्ति भाग में अवरूद्ध मूत्र को बाहर करता है। काले नमक के साथ इस जड का पान करने से हिचकी रोग भी दूर हो जाता है। गोरक्ष अर्थात् गोरखमुण्डी तथा कर्कटी (ककडी) की जड को शीतल जल के साथ पीसकर तीन दिन पीने से ही शर्करा नामक रोग नष्ट हो जाता है। ग्रीष्मकाल मे मालती जड को भली भाँति पीसकर शर्करा और बकरी के दूध में पीने से मूत्र निरोध शर्करा विकार और पाण्डु रोग विनष्ट हो जाता है।

ब्रह्मयष्टी अर्थात् ब्राह्मी की जड को चावल के पानी में घिसकर तैयार किया गया लेप असाध्य गण्डमाला तथा गलगण्डक रोग को दूर करता है। करवीर (कनेर) की जड का लेप तथा सुपारी का लेप भी पुरूषत्व से सम्बन्धित विकार को नष्ट कर देता है।

दन्तीमूल हल्दी और चित्रक के लेप से भी भगंदर रोग विनष्ट हो जाता है। स्नुही (थूहड़ से हुँड) के दूध से अनेक बार भावित हल्दी की बटी का लेप अर्श रोग को दूर कर देता है। घोषाफल और सेधानमक को पीसकर बनाया गया लेप अर्श रोग को विनष्ट करता है। पलाश और क्षार से क्वाथ के द्वारा शोधित घृत पाक में तिगुना मिला हुआ त्रिकटु (काली

मिर्च सोंठ, पिप्पली,) का चूर्ण अर्श रोग को विनष्ट करता है। बेल के फल को भूनकर खाने से खूनी अर्श विनष्ट हो जाता है।

प्रातः काल यवक्षार मिश्रित सोंठ के चूर्ण को समान मात्रा में गुड मिलाकर खाने से वह जठराग्नि को वृद्धि करता है। सोंठ के चूर्ण को काढा बना कर पान करने से भी जठराग्निं की वृद्धि होती है। हरीतक , सेंधानमक, पिप्पली इन औषधियो के चूर्ण को गरम जल के साथ पान करने से भूख बढती है। तथा शूकरकन्द का रस घृत के साथ पान करने से अति क्षुधा बढती है।

आयुवृद्धिकारी औषधिके सेवन की विधि :-

यदि मनुष्य हस्तिकर्ण पलाश के पत्तो का .चूर्ण करके सौ पल की मात्रा में इस चूर्ण को दूध के साथ मिलाकर लगातार सात दिनो तक प्रयोग करे तो वह वेद विद्या विशारद सिहं के समान पराक्रमी पद्मराग के समान कान्तियुक्त तथा सौ वर्ष की आयु में भी सोलह वर्ष का युवक बन सकता है। किन्तु सतत दुग्धपान करना अत्यावश्यक है।

मधु से युक्त और घृत से युक्त दूध का सेवन आयुवर्धक होता है। उक्त हस्तिकर्ण पलाश के चूर्ण को मधु के साथ लेने प्राणी दस हजार वर्ष की आयु प्राप्त कर सकता है। यह रोग मनुंष्य को वेदाङ्ग का ज्ञाता और प्रमदा जनों का प्रिय बनाने में समर्थ है। इस चूर्ण का सेवन दही के साथ करने से शरीर वज्र के समान शक्ति सम्पन्न हो जाता है। केसर से युक्त इस चूर्ण का प्रयोग करने से मनुष्य हजार वर्ष की आयु प्राप्त कर सकता है। यदिं मनुष्य इस चूर्ण को कांजी केसाथ मिलाकर खाता है तो केशों की सफेदी और त्वचा की झुर्रियों से रहित सौ वर्ष तक वृद्धावस्था से रहित दिव्य शरीर प्राप्त कर लेता है। त्रिफला चूर्ण के साथ मधु का सेवन नेत्रज्योति को बढाता है। घी क साथ इस चूर्ण को खाने से अंधा व्यक्ति भी देख सकता है। भैंस के दूध मे मिलाकर तैयार किया गया इस चूर्ण का लेप प्राणी के श्वेत बालो को काला बना देता है। खल्वाट के बाल भी इस लेप के प्रयोग से निकल आते है। इस चूर्ण को तेल में मिलाकर शरीर में लगाने से बाल पकने का प्रभाव तथा त्वचा की झुर्रियो का प्रकोप समाप्त हो जाता है।

इस चूर्ण का मात्र उबटन लगाने से सभी रोग दूर हो जाते हैं। बकरी के दूध में मिलाकर इस चूर्ण का अञ्जन एक मास पर्यन्त नेत्रो मे लगाने से निर्बल दृष्टि सबल जाती है।

श्रावण मास में छिलके से रहित पलास के बीजों को लेकर उनका चूर्ण मक्खन के साथ आधे कर्ष की मात्रा में लगाना चाहिए। भगवान् हरि को नित्य प्रमाण करके इस चूर्ण का सेवन करना चाहिए।

पुष्य नक्षत्र में भृंगराज की जड को लाकर उसका चूर्ण बनाना चाहिए। यदि प्राणी कांजी के साथ उस चूर्ण का सेवन करे तो मात्र एक मास में वह बलीपलित रोम से रहित हो जाता है। इसका बराबर प्रयोग करनेसे मनुष्य पाँच सौ वर्ष तक जीवित रह सकता है।और वह हाँथी के समान शक्ति सम्पन्न हो जाता है। पुष्य नक्षत्र में इस औषधि का प्रयोग करने पर प्राणी श्रुतिधर अर्थात वेद वेदाङ्ग का ज्ञाता बन जाता है।

व्रण आदि रोगों की चिकित्सा :-

प्रहार से हुआ घाव और मवाद युक्त फोडा घी के प्रयोग से ठीक हो जाता है।. दोनो हाँथो से अपामार्ग की जड मलकर उसके रस से चोट के घाव को भरने पर रक्तस्राव तक जाता है। लाङ्गलिका मूल तथा इक्षुदर्भ नामक औषधि को पीसकर उसके लेप से शल्य काटा युक्तव्रण का मुख संलिप्त करने पर कांटा निकल जाता है। तथा बहुत दिनो का गडा हुआ भी कांटा घाव से बाहर हो जाता है।

नाडी के घाव में बालमूल (मोथा) को जड की अथवा मेषश्रृंगी (मेढासिंगी) की जड जल में घिसकर उसका लेप लगाने से भी पुराना घाव भी सूख जाता है। भैंस के दही में कोदो का भात मिलाकर खाने से और हींग की जड का चूर्ण घाव में भरने से भी नाडी का व्रण सूख जाता है।

ब्राह्मी के फल को जल के साथ पीसकर और रगडकर लेप करने से रक्तदोष शान्त हो जाता है। सहिजन का बीज , अलसी और सफेद सरसों का अम्लरहित मट्ठे में पीसकर उसका लेप ग्रन्थिक रोग पर लगाने से वह रोग निश्चित ही नष्ट हो जाता है। श्वेत अपराजिता की जड चावल के धोवन मे पीसकर उसका नस्य लेने से भूत भाग जाते हैं।

काली मिर्च के साथ अगस्त्य पुष्प के रस का नस्य शूल रोग का विनाशक है। साँप की केचुल , हींग नीम की पत्ती यव तथा सफेद सरसों लेकर इनका लेप करने से भूत प्रेत की बाधा दूर हो जाती है। गोरोचन, मरिच पिप्पली सेंधानमक और इन सभी का अञ्जन बनाकर आंख आँजने से प्रेत बाधा दूर हो जाती है। गुग्गुल की धूप ग्रह बॉधा का नाशक है। काले वस्त्र को ओढने से चौथिया ज्वर दूर हो जाता है।

पटल आदि नेत्र रोग, गुल्म दन्तकृमि, विविध ज्वर तथा विषदोष शमन के उपाय:-

श्वेत अपराजिता पुष्प के रस को नेत्रो में डालने से पटल नामक नेत्ररोग नष्ट हो जाता है। इसमें विचार करने की अवश्यकता नही है। गोखरू की जड को चबाकर दाँतो में लगे हुए कीडो की व्यथा को दूर किया जा सकता है।

यदि ऋतुकाल में उपवास पूर्वक स्त्री गोदुग्ध के साथ मन्दार वृक्ष की जड को पीसकर पान करती है तो उसके शरीर में होने वाला गुल्म और शूल विकार विनष्ट हो जाता है।

पलाश अथवा अपामार्ग की जड हाथ में बॉधने से सभी प्रकार के ज्वरो का विनाश होता है तथा भूत प्रेत के द्वारा उत्पन्न होने वाला कष्ट भी नही होता है। वृश्चिकमूल अर्थात् बिछिया वृक्ष की जड को बासी जल के साथ पीसकर प्रातः काल दाह ज्वर दूर किया जा सकता है। इनकी जड को शिखा में बॉधने से एकाहिक आदि जो ज्वर है वे भी विनष्ट हो जाते है। उस जड को बासी जल के साथ पीसकर पीने से सभी प्रकार का विषदोष विनष्ट हो जाता है।

जो मनुष्य पाढा (पाठा) की जड को पीसकर गोघृत के साथ पान करता है उसका सभी प्रकार का विषदोष दूर हो जाता है। रक्तव्रण वाले चित्रक वृक्ष को जड में पीसकर कानो में डालने से कामला रोग विनष्ट हो जाता है।

श्वेत कोकिलाक्ष (श्वेत तालमखाना) की जड को पीसकर बकरी के दूध में तीन सप्ताह तक पान करने से क्षय रोग विनष्ट हो जाते है। नारियल वृक्ष के पुष्प को बकरी के दूध में मिलाकर पान करने से तीनो प्रकार का रक्त विकार नष्ट हों जाता है।

सुंदर्शन वृक्ष की जड को माला के मध्य पिरोकर कण्ठ मे धारण करने से त्र्याहिक (तिजरिया) आदि ज्वर तथा ग्रह एवं भूतादिक व्याधियाँ विनष्ट हो जाती हैं।

श्वेत गुञ्जा वृक्ष के पुष्प तथा मूल को लेकर अपने मुख में रखने से नाना प्रकार के विषो का विनाश होता है। इस औषधि की जड को हाथ और कण्ठ में धारण करने पर ग्रहादिक दोष दूर हो जाता है। कृष्णा पक्ष की चतुर्दशी तिथि को लाई गयी इस औषधि की जड को कटिप्रदेश में बॉधकर सिंह आदि पशुओं के भय को दूर किया जा सकता है।

विष्णुक्रान्ता (अपराजिता) की जड को रेश्मी सूत में बॉधकर कान में धारण करने से मगरमच्छादि जन्तुओ का भय नही रहता है।

गण्डमाला, प्लीहा, विद्रधि, कुष्ठ, ददु, सिध्म पीनस तथा छर्दि आदि विविध रोगों का उपचार और सुगंन्धित द्रव्यों के निर्माण की विधि :-

गोमूत्र के साथ अपराजिता की जड पीने से गण्डमाला रोग शीघ्र ही नष्ट हो जाता है। इन्द्रवारूणी की जड पीने से इस रोग का विनाश होता है। जिङ्गणी (मंजीठ) एरण्ड तथा शूर्काशम्बी (केवाँच) को मिलाकर शीतल जल युक्त लेप लगाने से भुजाआ में होने वाली व्यथा और गर्दन की व्यथा दूर हो जाती है।

भैंस का मक्खन, अश्वगन्धा, पिप्पली, वचा, (वच) और दोनो प्रकार का कूट एक में मिलाकर बनाया गया लेप लिंग स्रोत तथा स्तनगत दुःखो का विनाशक है।

कूट और नाग बला के चूर्ण को मक्खन में मिलाकर सिद्ध किया गया लेप युवतियों के वक्षः स्थल को सुडौल, ओजगुण से सम्पन्न तथा सुन्दर बनाता है।

इन्द्रवारुणी की जड उखाडकर रोगीका नाम लेकर देर से ही उसके प्रति फेक दिया जाए तो रोगी का प्लीहा रोग दूर हो जाता है। चावल के धोवन में श्वेत पुनर्नवा की जड पीसकर पीने से निश्चित ही विद्रधि रोग नष्ट हो जाता है। केले का पत्ता और यवक्षार जल में सिद्ध करके तैयार किया गया पेय पीने से उदरजनित समस्त विकार दूर हो जाते है। केले की जड गुड और घी मे मिलाकर अग्नि पर पकाकर खाया जाए तो वह उदरजनित कृमियो को विनष्ट कर देता है। प्रतिदिन प्रातः काल ऑवले और नीम की पत्तियो का चूर्ण भक्षण करने से कुष्ठ रोग दूर हो जाता है। हरीत की विडंग हल्दी श्वेत सरसों सोमलता की जड कंजे की जड और सेंधानमक को गोमूत्र में पीसकर एक सिद्ध योग बनाना चाहिए। ये सभी औषधियाँ कुष्ठ रोग को दूर करने वाली है।

एक भाग त्रिफला दो भाग हरीत की और सोमलता के बीज को खाना चाहिए। गोमूत्र और नमक से युक्त खट्टे मट्ठे का क्वाथ बनाकर उसको कांसे के पात्र पर घिस कर लेप करने से कुष्ठ और दद्रु दोनो का विनाश होता है। हल्दी, हरिताल, दूर्वा, और गोमूत्र तथा सेधानमक मिलकर तैयार किया गया लेप दद्रु पामा और गर नामक रोग को दूर करता है।

सोमलतर के बीजों का चूर्ण और मक्खन का मधु के साथ सेवन करना चाहिए। ये औषधियॉ श्वेत कुष्ठ रोग का विनाश करने बाली है। इनके प्रयोग में मट्ठे के साथ चावल रस के आदि का भोजन पथ्य है। श्वेत अपराजिता की जड को उसी के साथ पीसकर किया गया उसका लेप एक मांस श्वेत कुष्ठ को विनष्ट करता है।

पामा और दुर्नामा नामक कुष्ठ का विनाश काली मिर्च और सिन्दूर से युक्त भैंस के मक्खन लगाने से होता है।

श्वेत गम्भारी (शतावरी) की जड का गोदुग्ध के साथ पाक सिद्ध करके उसको खाना चाहिए। यह पाक शुक्ल पित्त रोग का विनाशक है। मूली के बीजो का अपामार्ग की जड के रस में मिलाकर लगाये गये लेप से सिध्म रोग विनष्ट हो जाता है। केले का क्षार और हल्दी का लेप भी सिघ्म रोग का विनाशक है। केला और अपामार्ग का क्षार एरण्ड तेल मे मिलाकर उस लेप का अभ्यङ्ग (मालिश) करने से तत्काल सिध्म रोग नष्ट हो जाता है।

गोमूत्र से युक्त कूष्माण्ड (कुम्हडा) के नालका क्षार और जल में पीसी गयी हल्दी को भैंस के गोबर में मिलाकर मन्द मन्द ऑच मे सिद्ध करना चाहिए। उसका उबटन लगाने से शरीर का सौन्दर्य बढ जाता है। तिल, सरसों , दारुहल्दी, हल्दी और कूट नामक औषधियॉ है, उनका उबटन बनाकर जो पुरुष अपने शरीर में लगाता है वह दुर्गन्ध से रहित होकर

सुगन्धित हो उठता है। दूर्वा, काकजंघा, अर्जुन के पुष्प जामुन की पत्तियाँ तथा लोध्र पुष्प इन सभी को एक में मिलाकर पीस लेना चाहिए। इसका प्रतिदि प्रयोग करने से शरीर की दुर्गन्ध दूर हो जाती है। और वह मनोहर हो जाता है। लोध्र पुष्प तथा जल में पीसकर तैयार किया गया धतूर के चूर्ण का उबटन लगाने से मनुष्य के शरीर में स्थित ग्रीष्म बाधा दूर हो जाती है। प्रातः काल गरम दूध की भाप से शरीर सेक करने पर धर्म दोष (स्वेदाधिभ्य) नष्ट हो जाता है। काकजंघा का उबटन शरीर के लिए सुन्दर अनुलेपन द्रव्य है।

मुलेठी, शर्करा , अडूसा का रस और मधु का सेवन करने से रक्त पित्त ,कामला और पाण्डु रोंग का विनाश होता हैं। अडूसे का रस और मधु पीने से रक्त पित्त विकार दूर हो जाता है।

प्रातःकाल मात्रजल पीकर भयंकर पीनस रोग को दूर किया जा सकता है। बहेडा, पिप्पली, सेधानमक का चूर्ण, कांजी के साथ पान करने से मनुष्य का स्वर भेद दूर हो जाता है। इस दोष के होने पर मैनसिल, बलामूल, बेर की पत्ती गुग्गुल तथा आँवले का चूर्ण गोदुग्ध में मिलाकर पान करना चाहिए।

चमेली की पत्ती बनाकर उसे बेर की पत्ती और मैनसिल इनकी बत्ती बनाकर उसे बेर की अग्नि में सेक कर धूम्रपान करने से कास रोग दूर हो जाता है। त्रिफला और पिप्पली का चूर्ण मधु के साथ खाना चाहिए। भोंजन करने के पूर्व मधु के साथ प्रयुक्त यह औषधिक का योग प्यास और ज्वर को शान्त करता है। बिल्व की जड तथा गुडूची का क्वाथ मधु के साथ पान करने से तीनो प्रकार के छर्दि रोग विनष्ट हो जाते है। चावल के रस में दूर्वारस को मिलाकर पीने से भी छर्दि रोग दूर हो जाता है।

२. विषशामक औषधियाँ-

सर्प, बिच्छू तथा अन्य विषैले जीव जन्तुओ के विष की चिकित्सा :-

पुष्य नक्षत्र में पुनर्नवा की श्वेत जड लाकर जल के साथ पीने से पीने वाले के आस पास सर्प नही आ सकते है। जो मनुष्य भालू के दाँत में तार्क्ष्य (गरूड) की मूर्ति बनाकर धारण करता है, वह सर्पो के लिए जीवन पर्यन्त अदृश्य हो जाता है। जो मनुष्य पुष्य नक्षत्र में सेमर की जड जल में पीसकर पी लेता है, उसके ऊपर किया गया विषैले सर्पो के दाँतो का प्रहार व्यर्थ हो जाता है। पुष्यनक्षत्र में लाजवन्ती की जड को हाथ में बाँधने से अथवा उसके लेप को लगाकर भी सर्पो को पकडा जा सकता है। पुष्यनक्षत्र में लायी गयी सफेद मन्दार की जड को शीतल जल में पीसकर पान करने से सर्पदंश तथा करवीर आदि का विष नष्ट हो जाता है। कांजी के साथ महाकाल की जड पीसकर उसका लेप दंश भाग पर लगाने से वोड् (गोनस) तथा डुंडुभ (पनिहा) सर्पो का विष दूर हो जाता है। चौलाई के मूल को

चावल के धोवन में पीसकर घी के साथ पान करने पर सभी प्रकार के विष नष्ट हो जाते है।नीली तथा लाजवन्ती की जड पृथक- पृथक अथवा संयुक्त रूप से चावल के धोवन में पीसकर पान करने पर सभी प्रकार के सर्पो कें दंश का विष नष्ट हो जाता है। गुड, शर्करा, तथा दुग्धमिश्रित कुष्माण्ड के रस का पान सर्प दश के विष को दूर करता हैं। कोदो की जड पीसकर पान करने से विष की मूर्च्छा दूर हो जाती है। मुलेठी के चूर्ण से युक्त शर्करा और दूध तीन रात तक पीकर चूहे के विष को दूर किया जा सकता है। तीन चुल्लू शीतल जल पीने से ताम्बूल खाने के कारण जल युक्त मुँह से बहने वाली लार बन्द हो जाती है। शर्करा से युक्त घृत का पान करने से मद्य का मद नही होता है।

कृष्णा (काली तुलसी और अंकोल की जड के क्वाथ को तीन रात तक पीने से सामान्य अथवा कृत्रिम विष का प्रभाव नष्ट हो जाता है।) सेधानमक के साथ गरम गोघृत का पान बिच्छू के डंक मारने से शरीर में उत्पन्न विष की वेदना को दूर करता है। कुसुम्भ (कुसुम) कुकंम , हरिताल, मैनसिल, कंजा और मन्दार वृक्ष' की जड पीसकर पान करने से मनुष्यो में चढा हुआ सर्प या बिच्छू का विष नष्ट हो जाता है। दीपक का तेल लगाने से सामान्य ततैया आदि कीटों का विष दूर हो जाता है। इससे कनखजूरे का भी विष नष्ट हो जाता है। बिच्छू के डंक लगे हुए स्थान पर सोंठ या तगर का लेप लगाने से विष नष्ट हो जाता है। इसी लेप से मधुमक्खी के डंक का भी विष दूर हो जाता है। तथा सोया, सेधा नमक , और घृत से मिश्रित लेप लगाने से भी वह विष दूर हो जाता ह। शिरीष के बीजो को गरम दूध में घिसकर उसका लेप लगाने से कुत्ते का विष नष्ट हो जाता है। प्रज्वलित अग्नि और उष्ण जल के सेकने पर मेढक का विष दूर हो जाता है। धत्तूर के रस से मिश्रित दूध घी अेर गुड का पान कुत्ते के विष को नष्ट कर देता है।

बरगद, नीम और शमी वृक्ष की छाल के क्वाथ से सेंक करने पर मुंख और दाँत की विष वेदना नष्ट हो जाती है। देवदारू और गैरिक के चूर्ण का लेप करने से भी इस दोष को शान्त किया जा सकता है। नागेश्वर , दारूहल्दी तथा मजीठ के मिश्रित लेन से लूता (मकडी) के काटने का विष दूर हो जाता है। कंजे के बीज, वरूण वृक्ष के पत्ते, तिल और सरसों का पिसा हुआ लेप भी विष को दूर कर देता है।

विविध स्नेह पाकों द्वारा रोगों का उपचार स्मरण तथा मेधाशक्ति वर्धक ब्राह्मी घृतादि के निर्माण की विधि :-

चित्रक आठ भाग, शूरण (सूरन) सोलह भाग सोंठ चार भाग काली मिर्च दो भाग त्रिफला चार भाग पिप्पली मूल तीन भाग विडंग चार भाग और मुशली आठ भाग लेकर इनके

दुगने गुड के साथ मोदक बनाना चाहिए। इसके सेवन से अजीर्ण पाण्डु, कामला अतिसार, मन्दाग्नि और प्लीहा नामक रोगों को दूर किया जा सकता है।

बिल्व (बेल), अग्निमन्थ, (गनियारी) श्योनाक (सोना पाढा) पाटला (पाढ़र) पारिभद्रक (नीम) प्रसारिणी (गन्ध प्रसारिणी), अश्वगन्धा, बृहती कण्टकारी बला, अतिबला, रास्ना (सर्प सुगन्धा) ,गोखरू एरण्ड, शरिवा (अनन्तमूल) पर्णी (शालपर्णी) गुडूची, कपिकच्छुका (केवाँच) नामक इन औषधियो को दस दस पल की मात्रा में एकत्र करके शुद्ध जल में पकाना चाहिए। जब उस जल का चौथाई भाग शेष रह जाये तो उससे तेल को सिद्ध करे यदि बकरी अथवा गाय का दूध हो तो उसको उस तैलपाक में चौगुना मिलाकर तेल की मात्रा को समान शतावरी और सेंधानमक मिलाये। इस प्रकार तैल पाक को सिद्ध करने के पश्चात् उस तेल में शतपुष्या (सोया) देवदारू, बला, पार्णी,वचा, (वच) अगरू कुष्ठ (कूट) जटामांसी सेंधानमक और पुनर्नवा एक एक पल पीसकर पिलाना चाहिए। इस तेल का प्रयोग पीने नस्य लेने तथा शरीर में के मर्दन के काम में करना चाहिए। इसके प्रयोग में हृदयगतशूल पार्श्वशूल, गण्डमाला और अपमार और वातरक्त नामक रोग दूर हो जाते है, तथा शरीर शोभा सम्पन्न हो जाता है। इस तेल के प्रयोग से खच्चरी भी गर्भ धारण कर सकती है। स्त्री के विषय में कहना ही क्या? घोडा हॉथी और मनुष्यों में वात दोष होने पर इस तेल का प्रयोग करना चाहिए। इतना ही नही सभी वात विकार से ग्रस्त प्राणियो के लिए इसका प्रयोग लाभप्रद है।

हिंगु (हींग) तुम्बरु (धनिया) और शुष्ठी (सोंठ) के द्वारा सरसों का तेल सिद्ध करना चाहिए। इस तेल को कान में डालने से कर्णशूल शान्त हो जाता है। सूखी मूली तथा सोंठ का क्षार हींग और हल्दी का चूर्ण लेकर समभाग में लेकर उसको चौगुने मट्ठे के साथ सरसों के तेल में पकाना चाहिए। इस तेल को कानो मे डालने से उनके अन्दर उत्पन्न बहरापन शूल मवाद का स्राव और कृमि दोष विनष्ट हो जाते है। सूखी मूली और सोंठ का क्षार तथा हींग हल्दी, सोया, वच, कूट दारूहल्दी, सहिजन, रसात्र्जन काला नमक, यवक्षार, समुद्रफेन सेधा नमक, ग्रन्थिक विडंग नागरमोथा, मधु, चार गुनाशक्ति शुक्तिभस्म, बिजौरा, नीबू का रस और केले का रस इन्ही से सरसों कासिद्ध करना चाहिए यह तेल सिद्धतेल कर्णशूल दूर करने का अत्युत्तम उपाय है। सद्यः। इसका नाम क्षार तैल है। इस तैल से मुख तथा दाँतो के मंदगी को दूर करता है।

चन्दन, कुंकुम, जटामांसी, कर्पूर, चमली की पत्ती, चमेली का फूल, कंकांल सुपारी, लौग, अगरू, कस्तूरी, कुष्ठ तगर, गोरोचन प्रियगु, बला मेहदी, सरल, सप्तपर्णी लाक्षा आँवला और रक्तकमल इन औषधियो को एकत्र कर इनसे तेल सिद्ध करना चाहिए। यह पसीने के कारण शरीर में उत्पन्न होने वाले मल दुर्गन्ध खुजली और कुष्ठ रोग दूर करने वाला पुरुषत्व

श्रेष्ठतम् औषधि है। इस तेल का प्रयोग करने से पुरूष अधिक सम्पन्न हो जाता है। और वन्ध्या स्त्री भी पुत्र प्राप्त कर सकती है।

यदि यवानी (अजवाइन) चित्रक ,धनिया त्रिकटु जीरा काला नमक, विडंग पिप्पली मूल तथा राजिक (राई सरसों) नामक औषधि द्वारा आठ प्रस्थ जल से युक्त एक प्रस्थ घृत का शोभन किया जाये तो यह सिद्ध घृत अर्श गुल्म तथा शोथ रोग का विनाश करता है। अैर जठराग्नि को उद्दीप्त करता है।

काली मिर्च, निशोत कूट, हरिताल, मैनसिल, देवदारू हल्दी ,दारूहल्दी, जटामांसी, रक्तचन्दन, विशाला, (इन्द्रवारूणी) कनेर मंदादुग्ध और गोबर का रस एकत्र कर अन औषधियों की मात्रा एक एक कर्ष अर्थात दो दो तोला हो किन्तु जो औषधियाँ विषैली है, उनकी मात्रा आधा पल अपेक्षित है इन सभी औषधियों के द्वारा आठ प्रस्थ गोमूत्र के साथ के एक प्रस्थ सरसों का तेल मिट्टी के पात्र अथवा लौह पात्र में भरकर मन्द मन्द आंच पर पकाये । जब यह सिद्ध हो जाये तो इस तेल के अभ्यङ्ग से पामा दद्रु विस्फोट्क आदि रोग नष्ट हो जाते है। और रूग्ण स्थानों पर शुद्ध एवं कोमल त्वचा आ जाती है। अत्यधिक मात्रा में पहले से फैले हुए पुराने श्वेत कुष्ठ को भी इस तेल से नष्ट किया जा सकता है। परवल की पत्ती, कटुकी, मंजीठ, अनन्तमूल हल्दी चमेली की पत्ती शमी की पत्ती, नीम की पत्ती और मुलेठी के क्वाथ से सिद्ध घृत का लेप करने से व्रणपीडा रहित हो जाता है। और उसका बहना भी बन्द हो जाता है।

शंखपुष्पी, वचा, सोमलता, ब्राह्मी, काला नमक हरीत की गुडूची, जंगली अडूसा और वचुकी नामक औषधियो को समान रूप से एक एक अक्ष (पल) की मात्रा में एकत्र करके उनसे एक प्रस्थ घृत को यथाविधि सिद्ध करनी चाहिए। साथ ही कण्टकारी का रस एक प्रस्थ तथा गोदुग्ध भी एक प्रस्थ मिलाना चाहिए। इस घृत पाक का नाम ब्राहमीघृत है। यह स्मृति और मेधाशक्ति को बढाने वाला है।

अग्निमन्थ (गनियारी) वचा, वासा, (अडूसा) पिप्पली मधु तथा सेधानमक सात रात सेवन करने से मनुष्य किन्नरो के समान मधुर गीत गाने वाला हो जाता है।

समान भाग में गृहीत अपामार्ग गुडूची, वचा, कूट, शतावर, शंखपुष्पी, हरीतकी और विडंग चूर्ण को समान भाग के घृत के साथ सेवन करने से मात्र तीन दिन में यह मनुष्य को एक सौ आठ ग्रन्थों को कन्ठस्थ करने की क्षमता वाला बना देता है। जल, दूध, घृत के साथ एक मास पर्यन्त सेवन की गयी वचा तो मनुष्य को श्रुतिधारक विद्वान बना देती है। चन्द्रग्रहण या सूर्यग्रहण के अवसर पर दूध के साथ एक पल सेवन की गयी वचा मनुष्य को उसी समय श्रेष्ठतम् प्रज्ञावान बना देती है।

चिरायता नीम की पत्ती, त्रिफला पित्तपापडा, परवल, मोथा और अडूसा से बने हुए क्वाथ का पान विस्फोटक व्रणो और रक्तस्राव को विनष्ट कर सकता है।

केतकी का फल, शंखभस्म सेंधानमक ,त्रिकटु (काली मिर्च सोंठ तथा पिप्पली,) वचा समुद्रफेन रसाञ्जन, मधु, विडंग, और मैनसिल नामक औषधि को एक मे मिलाकर बनायी गयी बत्ती का नेत्रो में प्रयोग करने से काच तिमिर तथा पटलदोष नष्ट हो जाता है।

दो प्रस्थ अर्थात आठ सेर उडद लेकर उससे एक द्रोण अर्थात सोलह सेर जल में क्वाथ बनाना चाहिए। चौथाई भाग शेष रहने पर उस क्वाथ के द्वारा एक प्रस्थ अर्थात चार सेर तेल का पाक करे। तदनन्तर उसमें एक आढक अर्थात आठ सेर कांजी मिलाकर पिसे हुए पुनर्नवा गोखरू, सेधानमक, त्रिकटु , वचा, कालानमक, देवदारू, मंजीठ और कण्टकारी औषधियों का चूर्ण मिश्रित करना चाहिए। इस औषध का नस्य लेने और पान करने से भयंकर कर्णशूल नष्ट हो जाता है। इसके अभ्यङ्ग से अर्थात् मालिश करने से कानो का बहरापन एवं अन्य सभी प्रकार के शरीरिक रोग दूर हो जाते है।

दो पल सेधानमक, पाँच पल सोंठ और चित्रक, पाँच प्रस्थ कांजी तथा एक प्रस्थ तेल को पकाना चाहिए। जब यह पाक सिद्ध हो जाये तो इसके नस्य पान एवं अभ्यङ्ग से असृग्दर (प्रदर) स्वरभंग , प्लीहा और सभी प्रकार के वात रोग विनष्ट हो जाते है।

गूलर, बरगद, पाकड दोनो प्रकार के जामुन, दोनो प्रकार के अर्जुन , पिप्पली, कदम्ब, पलाश लोध्र, तिन्दुक,महुआ, आम, राल, बेर, कमल नागकेशर ,शिरीष और बीजङ्क तक इनको एक मे मिलाकर क्वाथ बनाना चाहिए। तदनन्तर उस क्वाथ से तैल पाक सिद्ध करे इस सिद्ध तेल का लेप करने से अत्यन्त पुराने ब्रण नष्ट हो जाते

३. आयुवर्धक एवं मेधावर्धक आदि औषधियाँ-

बुद्धि शुद्धकर औषधि, विविध अभ्यङ्गो एवं उपयोगी चूर्णो के निर्माण की विधि :-

प्याज, जीरा, कूट, अश्वगन्धा, अजवाइन, वचा, त्रिकटु और सेधानमक से निर्मित श्रेष्ठ चूर्ण को ब्राह्मीरस से भावित करके घृत तथा मधु के साथ मात्र एक सप्ताह तक प्रयुक्त करने पर यह मनुष्य की बुद्धि को अत्यन्त निर्मल बना देता है।

सरसों,वच हींग, कांज, देवदारू, मंजीठ, त्रिफला , सोंठ, शिरीष हल्दी , दारूहल्दी, प्रियगु नीम और त्रिकटु को गोमूत्र में घिसकर नस्य आलेपन तथा उबटन के रूप में प्रयुक्त करना हितकारी होता है। यह अपस्मार , विषोन्माद, शोथ तथा ज्वर का विनाशक है। इसके सेवन से भूत प्रेत आदि जन्य तथा राजद्वारीय भय विनष्ट हो जाता है।

एक सेर चावल को हंडिया में अच्छी तरंह पकाकर ठंडा करे। उसमें चार किलो पानी डालकर मोटे कपडे से मुख बाँध करके जमीन मे ढककर रखे। सात दिन बाद पानी

निकालकर छान ले, शेष को फेक दे, उसी को कांजी कहते हैं। नीम, कूट हल्दी, दारूहल्दी, सहिजन, सरसो का तेल, देवदारू, परवल और धनिया को मट्ठे में घिसकर उबटन बना लेना चाहिए। तदनन्तर शरीर में तेल लगाकर इस उबटन का प्रयोग करे तो निश्चित ही पामा, कुष्ठ खुजली ठीक हो जाती है।

समुद्र लवण, समुद्रफेन, यवक्षार राजिका (गौर सर्षप) नमक विडंग, कटुकी, लौहचूर्ण निशोथ और सूरन इन्हे समान भाग में लेकर दही, गोमूत्र तथा दूध के साथ मन्द मन्द आँच पर पकाकर जल से पान करना चाहिए। यह चूर्ण अग्नि और बलवर्धक है। पुराना अजीर्ण रोग होने पर इस चूर्ण का सेवन जटामांसी आदि से युक्त घृत के साथ करना चाहिए। यह इस रोग की उत्तम औषधि है। यह चूर्ण नाभिशूल, मूत्रशूल, गुल्म और प्लीहाजन्य जो भी शूल है, उन सभी शूलो को विनष्ट करने वाला है। यह जठराग्नि की उद्दीप्त कर देता है। परिणाम नामक शूल में तो यह परम हितकारी है।

हरीतकी, आँवला, द्राक्षा, पिप्पली, कण्टकारी, काकडासिंगी, पुनर्नवा और सोंठ के चूर्ण को खाने से कास रोग विनष्ट हो जाता है।

समान भाग में हरीत की आँवला , द्राक्षा पाढा, बहेडा तथा शर्करा का चूर्ण खाने से ज्वर रोग दूर हो जाता है। त्रिफला, बेर द्राक्षा, और पिप्पली का चूर्ण विरेचक होता है।

हरीतकी, गरम जल और नमक का सेवन करने से भी विरेचन होता है। नेत्र का रोग दूर हो जाता है। तिल और चमेली के अस्सी अस्सी फूल नीम, पीपल तथा चौराई के शाक को चावलके जल मे पीसकर उसकी वटी बनानी चाहिए। तदनन्तर छाया में सुखाकर मधु के साथ उसका नेत्रों में भंजन करना लाभकारी है।

अध्याय षष्ठ
पशु चिकित्सा

अध्याय षष्ठ
पशु चिकित्सा

(१) उत्तम तथा अधम अश्वों के लक्षण :-

जो अश्व कौए के समान नुकीले मुँह वाला काली जीभ वाला, वृक्ष के समान फैले मुँह वाला, गरम तालु प्रदेश वाला, दो से अधिक दन्त पंक्तियों से युक्त, दन्त रहति, सींग वाला, दांतो के मध्य रिक्त स्थान वाला, एक अण्डकोष से युक्त,अण्डकोष से रहित, कंचुक (वक्षः स्थल पर कंचुक के लक्षण से समन्वित), दो खुरो से सम्पन्न, स्तन युक्त, बिलौटे के समान पैरो वाला, व्याध्र के सदृश रूप एवं वर्ण से समन्वित, कुष्ठ तथा विद्रधि रोग के रोगी पुरूष के समान, जुडवॉ उत्पन्न होने वाला, बौना बिलौटे और, बंदरसदृश नेत्रों वाला हो, वह दोष युक्त होने से त्याज्य है।

उत्तम जाति का घोडा तो वह होता है, जो तुरूष्क प्रदेश (तुर्किस्थान, सिन्धु या अरब देश) मे जन्म लेता है। इसकी ऊँचाई सांत हाँथ होती है। मध्यम कोटि का घोडा पाँच हाथ और तृतीय कोटि का घोडा तीन हॉथ ऊँचा माना गया है। स्वस्थ घोडे छोटे छोटे कान वाले, चितकबरे, प्रभावशाली, उत्साह स्म्पन्न और दीर्घ जीवी होते है।

रेवन्त सूर्य देव के पुत्र है। इनकी पूजा होम तथा, ब्राह्मण भोजन, आदि के द्वारा अश्वो की रक्षा करनी चाहिए। चीड वृक्ष का काष्ठ नीम की पत्ती, गुग्गुल सरसो, घृत तिल, वचा, (वच) और हींग की पोटली आदि मे रखकर घोडे के गले मे बॉधने से घोडे का सदैव कल्याण होता है।

घोडे के शरीर मे उत्पन्न होने वाला मुख्य दोष व्रण (घाव होना) यह दो प्रकार का होता है

(1) आगन्तुज ब्रण दोष

(2) वात पित्त आदि त्रिदोषों से उत्पन्न व्रण दोष

वात विकार के कारण उत्पन्न व्रण दोष चिरपाक (दिर से पकने वाला) होता है और श्लेष्म विकार के कारण उत्पन्नव्रण दोष क्षिप्रपाक (शीध्र पकने वाला) होता है। दोष के कारण उत्पन्न व्रण दोष घोडे के कण्ठ भाग मे दाह और रक्त विकार के कारण उत्पन्न व्रण मे मन्द मन्द वेदना होती है। आगन्तुज अर्थात, बाहर से चोट गिरने या आघात आदि से उत्पन्न व्रण दोष का शोधन शल्य चिकित्सा के द्धारा करना चाहिए। व्रण की यह चिकित्सा करके उसमे एरण्डमूल, हल्दी दारूहल्दी, चित्रक सोठ और लहसुन, मट्ठे अथवा कांजी मे पीसकर भर देना चाहिए। तिल, सत्तू दही सेंधानमक और नीम की पत्ती एक साथ पीसकर उस व्रण पर रखने से भी घोडे को लाभ होता है।

परवल नीम की पत्ती वचा (वच), चित्रक पिप्पली और अदरक का चूर्ण बनाकर घोडे को पिलाना चााहिए । इसके सेवन से घोडे का कृमि दोष श्लेष्स विकार तथा वायु प्रकोप नष्ट होता है। नीम की पत्ती, परवल त्रिफला और खैर का काढ़ा बनाकर यदि घोडे को पिलाया जाए तो उसका रक्त स्राव बन्द हो जाता है। धोडे मे कुष्ठ विकार होने पर तो उसके उपशमन के लिए इसी काढे को तीन दिन देना चाहिए। व्रण युक्त कुष्ठ रोग होने पर सरसो का तैल बहुत ही लाभप्रद है। लहसुन आदि का काढा देने से उसके खाने पीने के दोष दूर हो जाते है। बिजौरा नीबू का रस जटामांसी के रस मे न मिलाकर तत्काल घोडे के वातजनित दोषो का विनास होता है।

घोडे को प्रथम दिन एक पल औषधीय नस्य देना चाहिय। उसके बाद एक एक पल प्रतिदिन अधिक बढाते हुए अठारह दिन तक उसका प्रयोग करना चाहिए ।यह मात्रा उत्तम प्रकार के घोडे की है। मध्यम प्रकार के घोडे के औषधि की मात्रा चौदह पल तथा अधम जाति के घोडे की आठ पल होती है। शरत् और ग्रीष्म ऋतु मे घोडे को ऐसे विकारो से मुक्त करने के लिए किसी भी प्रकार की औषधि का नस्य प्रयोग करना उचित नही है। घोडे के वात जन्म रोग मे शर्करा, घृत तथा दुग्ध से युक्त तैल और पित्तविकार मे त्रिफलाचूर्ण समन्वित जल से नस्य देना चाहिए। साठी चावल और दुग्ध खाने पीने वाला घोडा अत्यन्त बलशाली होता है। पके हुए जामुन के समान तथा सोने के समान सदृश चमकते हुए वर्णवाला अश्व श्रेष्ठ होता है।

भारवाही घोडे को आधे आधे प्रहर पर गुग्गुल का सेवन करना चाहिए। जो घोडा बहुत ही जल्दी थक जाने के कारण रुक जाता हो, उसको खीर या दूध पिलाना चाहिए। वातजनित विकार होने पर घोडे को भोजन मे साठी चावल का भात औैर दूध देना चाहिए। पित्त विकार होने पर उसको एक कर्ष अर्थात् दो तोला जटामांसी का रस, मधु, मूंग का रस और घृत का मिश्रण होने से लाभ होता है। कफ विकार हेने पर मूंग और कुलथी या कड़ुवा तथा तिक्त भोज्य पदार्थ देना चाहिए। बधिरता या ग्रासजन्य रोग से ग्रस्त होने पर अथवा त्रिदोषजन्य विकारो के उत्पन्न हो जाने से दुखित घोडे को गुग्गुल की औषधि देनी चाहिए। सभी प्रकार के रोगो मे घोडे को पहले दिन अन्य प्रकार की घासों के साथ एक पल दूर्वा घास देनी चाहिए। उसके बाद इस मात्रा को धीरे-धीरे बढाना चाहिए। एक दिन मे दो कर्ष अर्थात् दो तोला और अधिकतम पांच पल दिया जा सकता है। सामान्य स्थिति मे घोडे के खाने पीने के निमित्त अस्सी पल दूर्वा की मात्रा श्रेष्ठ मानी गयी है। उसकी मध्यम मात्रा साठ पल और अधम मात्रा चालीस पल है।

घोडे का व्रण कुष्ठ तथा खञ्ज विकार (लंगडाने का विकार) होने पर त्रिफला के क्वाथ मे भोजन मिलाकर देना चाहिए। मन्दाग्नि और शोथ रोग होने पर उसको गोमूत्र के साथ भोजन देना चाहिये। वातपित्त जन्य व्रण विकार अथवा अन्य व्याधि होने पर गोदुग्ध और घृत मिलाकर घोडे को भोजन देना लाभकारी है। दुर्बल घोडे को मांसी नामक औषधि के साथ भोजन देना पुष्टिकारक होता है। शरत् और ग्रीष्म ऋतु मे घोडे को पाँच पल गुडूची का रस घी मे मिलाकर अथवादुग्ध मे मिलाकर प्रातः काल पिलाना चाहिये। यह घोडे के रोगों का विनाश करने वाली उनको शान्ति सम्पन्न बनाने वाली और उनके तेज को बढाने वाली है। गुडूची कल्प के साथ शतावरी और अश्वगन्धा नामक औषधियों के रस की मात्रा क्रमशः उत्तम मध्यम और अधम रूप मे चार पल तीन पल तथा एक पल निश्चित की गयी है।

यदि घोडो मे अकस्मात् एक ही प्रकार का रोग उत्पन्न हो जाये और उपचार होने पर भी घोडे की मृत्यु हो जाये तो उसे उपसर्ग (कोई दैवी प्रकोप या महामारी) समझना चाहिए। उसकी शान्ति के लिए हवन, पूजन, ब्राह्मण भोजन आदि करना चाहिए। हरीति की कल्प के सेवन से भी उपसर्ग की शान्ति होती है।गोमूत्र, सरसो के तैल और सेंधानमक से युक्त हरीतकी की मात्रा प्राम्भ मे पाँच मानी गयी है। तत्पश्चात् प्रतिदिन उसकी पॉच पॉच मात्रा बढाते हुंए सौ तक की जा सकती है। घोडे के लिए एक सौ हरीतकी की मात्रा उत्तम है। अस्सी तथा साठ मात्राओ का भी परिमाण है जो मध्यम और अधम मात्रायें मानी गयी है।[1]

अश्ववाहन सार :-

धर्म कर्म और अर्थ की सिद्धि के लिए अश्वों का संग्रह करना चाहिए। घोडे के ऊपर प्रथम बार सवारी करने के लिए अश्विनी श्रवण, हस्त, उत्तराषाढ, उत्तरभाद्र पद और उत्तर फाल्गुनी नक्षत्र, प्रशस्त माने गये है। घोडो पर चढने के लिए हेमंत, शिशिर और बसंत ऋतु उत्तम है। गग्रिष्म शरद एवं वर्षा ऋतु में घुड सवारी निसिद्ध है। जो मनुष्य घोडे के मन को नही समझता तथा उपायो को जाने बिना ही उस पर हुए दुर्गम, कण्टक युक्त,बालू और कीचड से आच्छन्न पथ पर, गढ्ढो या उन्नत भूमियो से दूषित र्मांग पर लेजाता है एवं पीठ पर काठी के बिना ही बैक जाता है वह मूर्ख अश्व का ही वाहन बनता है, अर्थात् वह अश्व के अधीन होकर विपत्ति मे फस जाता है। कोई बुद्धिमानो मे श्रेष्ठ सुकृति अश्ववाहक अश्वशास्त्र को पढे बिना केवल अभ्यास और अध्यवसाय से ही अश्व को अपना अभिप्राय समझा देता है। अथवा घोडे के अभिप्राय को समझकर दूसरो को उसका ज्ञान करा देता है।

अश्व को नहलाकर पूर्वाभिमुख खडा करे। फिर उसके शरीर मे आदि मे ऊँ, और अन्त मे, नमः शब्द जोडकर अपने बीजाक्षर से युक्त मन्त्र बोलकर देवताओ को क्रमशः

1. गरूणपुराण अ0 201

योजना (न्यास या भावना) करे । अश्व के चित्त मे व्रह्मा बल मे बिष्णु पराक्रम मे गरूड़, पार्श्व भाग मे रूद्रगण बुद्धि मे बृहस्पति, मर्म स्थान मे विश्वे देव नेत्रावर्त और नेत्र मे चन्द्रमा सूर्य कानो मे अश्विनी कुमार, जठराग्नि मे स्वधा जिहवा मे सरस्वती, वेग मे पवन,पृष्ठभाग मे स्वर्ग, पृष्ठ खुराग्र मे समस्त पर्वत, रोमकूपों मे नक्षत्रगण हृदय मे चन्द्रकाल, तेज मे अग्नि, श्रोणिदेश मे रति ललाट में जगत्पति, हेषित (हिनहिनाहट) मे नवग्रह एवं वक्षस्थल में वासुकि का न्यास करे। अश्वारोही उपवास पूर्वक अश्व की अर्चना करे एवं उसक दक्षिण कर्ण मे निम्नलिखित मन्त्र का जप करे -

अभ्यासादभियोगाच्च विना शास्त्रं स्व वाहकः।
स्नातस्य प्राङ्0मुखस्याम देवान्युषि योजयेत्।
प्रणवादिनमोन्तेन स्व बीजेन यथाक्रमम्।
व्रहमा चिन्ते बले विष्णुनतेयः पराक्रमें ॥
पार्श्वे रूद्रा गुरूर्बुद्धौ विश्वेदेवाश्च मर्मसु।
दृगावर्ते दृशीन्द्वर्कौ कर्णयोरश्विनौ तथा॥
जठरेऽग्निः स्वधा स्वेदे वाग्जिहवायां जवेऽनिलः।
पृष्ठतो नाकपृष्ठस्तु खुराग्रे सर्व पर्वताः॥
ताराश्च रोमकूपेषु हृदि चन्द्रमसी कला।
तेजस्यग्नीं रतिः श्रोण्यां ललाटे च जगत्पतिः॥
ग्रहाश्च हेषिते चैव तथैवो रसि वासुकिः।
उपाषितोऽर्चयेत्सादी हयं दक्ष श्रुतौ जपेत्।

तुरंगम! तुम गन्धर्वराज हो। मेरे वचन को सुनो। तुम गन्धर्व कुल मे उन्पन्न हुए हो। अपने कुल को दूषित न करना। अश्वः ब्राह्मण से सत्य वचन, सोम गरूड़ रूद्र वरूण और पवन के बल एवं अग्नि के तेज से युक्त अपनी जाति का स्मरण करो। याद करो कि तुम राजेन्द्र पुत्र हो। सत्य वाक्य का स्मरण करो। वरूण कन्या वारूणी और कौस्तुभमणि को याद करो। जब दैत्यों और देवताओं द्वारा क्षीर समुद्र का मन्शन हो रहा था उस समय तुम देवकुल मे प्रादुर्भूत हुए थे। अपने वाक्य का पालन करो। तुम अश्ववंश मे उत्पन्न हुए हो। सदा के लिए मेरे मित्र बनो। मेरी रक्षा करते हुए मेरी विजय की रक्षा करो। समराङ्ण्ण मे मेरे लिये तुम सिद्धप्रद हो जाओ। पूर्वकाल मे तुम्हारे पृष्ठ भाग पर आरूढ होकर देवताओ ने दैत्यो का संहार किया था। आज मै तुम्हारे ऊपर आरूढ होकर शत्रुसेनाओ पर विजय प्राप्त करूँगा। अश्वारोही वीर अश्व के कर्ण मे उसका जप करके शत्रुओ को मोहित करता हुआ अश्व को युद्ध स्थल मे लाये और उस पर आरुढ हो युद्ध करते हुए विजय प्राप्त हो। श्रेष्ठ अश्वरोही

घोडों के शरीर से उत्पन्न दोषो को भी प्रायः यत्न पूर्वक नष्ट कर देते है तथा उनमे पुनः गुणो का विकास करते है। श्रेष्ठ अश्वा रोहियो द्वारा अश्व मे उत्पादित गुण स्वभाविक से दीखने लगते है। कुछ अश्वारोही तो घोडो के सहज गुणो को भी नष्ट कर देते है। वह बुद्धिमान पुरूष धन्य है जो अश्व रहस्य को जानता है। मन्दबुद्धि मनुष्य उनके गुण दोष दोनो को नही जानता। जो कर्म और उपाय से अनभिज्ञ है, अश्व का वेग पूर्वक वाहन करने मे प्रयत्नशील है, क्रोधी और छोटे अपराध पर कठोर दण्ड देता है, वह अश्वा रोही कुशल होने पर भी प्रशंसित नही होता है। जो अश्वा रोही उपाय का जानकार है, घोडें के चित्त को समझने वाला है, विशुद्ध एवं अश्वदीप का नाश करने वाला है, वह सम्पूर्ण कर्मो मे निपुण सवार सदा गुणो के उपार्जन मे लगा रहता है। उत्तम अश्वारोही अश्व को उसकी लगाम पकडकर बाह्य भूमि मे ले जाये। वहॉ उसकी पीठ पर बैठकर दाये बाये के भेद से उसका संचालन करे। उत्तम घोडें पर चढकर सहसा उस पर कोडा नही लगाना चाहिए, क्योकि वह ताडना से डर जाता है और भयभीत होने से उसको मोह भ्हज भी आ जाता है अवरोही प्रातः काल अश्व को उसकी बल्गा (लगाम) उठाकर प्लुतगति से चलाये। सध्याकाल मे यदि घोडे के पैर मे नाल न हो तो लगाम पकडकर धीरे धीरे चलाये अधिक बेग से न दौडाये। घोडे की जिह्वा के नीचे बिना योंग के ग्रन्थि बॉधे । घोडे के दोनो गल्फरो मे घुसा दे । फिर धीरे धीरे वाहन को भुलावा देकर लगाम ढीली करे । जब घोडे की जिह्वा आहीनावस्था को प्राप्त हो, तब जिह्वातल की ग्रन्थि खोल दे। जब तक अश्व स्तोभ स्थिरता का त्याग न करे तब तक गाढता का मोचन करे। लगाम को अधिक न कसे। उरस्त्राण को तब तक खूब कसा कसा रखे जब तक अश्व मुख से लार गिरता रहे। जो स्वभाव से ही ऊपर मुॅह किये रहे, उसी अश्व का उरस्त्राण खूब कसकर श्रेष्ठ घुॅड़वार उसे अपनी दृष्टि के संकेत पर लीला पूर्वक चला सकता है। जो पहले घोडे के पिछले दाये पैर से दाई वल्गा संयोजित कर देता है, उसने उसके दायें पैर को काबू मे कर लिया। इसी क्रम से जो बायी बल्गा से घोडे के बाये पैर को सयुक्त कर देता है। उसने भी उसके वाम पैर पर नियन्त्रण पा लिया । यदि अगले पैर परित्यक्त हुये तो आसन सुदृढ होता है। जो पैर दुष्कर मोटन कर्म मे अपहृत हो गये, अथवा बाये पैर मे हीन अवस्था आ गयी। उस स्थिति का नाम नाट्कायन है। हनन और गुणन कर्मो मे खलीकार होता है। बारंबार मुख व्यावर्तन अश्व का स्वभाव है ।ये सब लक्षण उसके पैरो पर नियंत्रण पाने के कारण भूत नही है। जब देख ले की घोडा पूर्णतः विश्वस्त हो गया है तब आसन को जोर से दबाकर अपना पैर उसके मुख से अडा दे ऐसा करके उसकी ग्राह्यता का अवलोकन हितकारी होता है।

बुद्धिमान घुडसवार इस क्रम से प्रलय तथा अविप्लव को जान ले। फिर जो घोडा लघुमण्डल मे मोटन और उद्वक्कन द्वारा अपने पैर को भूमि मे नही रखता भूमि र्स्पश के बिना ही चक्कर पूरा कर लेता है। वह सफल माना गया है। उसे इस प्रकार की पादगति ग्रहण करानी सिखानी चाहिए। आसन मे खूब कसकर निबद्ध करके जिसे शिक्षा दी जाती है। तथापि जो मन्द गति से ही चलता है फिर संग्रहण करके (पकडकर) जिसे अभीष्ट चाल ग्रहण करायी जाती है उसकी उस शिक्षण क्रिया को संग्रहण कहा जाता है। जो घोडा स्थान मे स्थित होकर भी व्यग्रचित्त हो जाये और उसके पार्श्वभाग मे ऐंड लगाकर लगाम खीचकर उसे कण्टक पान (लोहे के लगाम का अश्वादन) कराया जाये तथा इस प्रकार पार्श्वभाग मे किये गये पाद प्रहार से जो खलीकृत होकर चाल सीखे उसका वह शिक्षण खलीकार माना गया है तीनो प्रकार की गतियो से जो मनोवाञ्ित पैर (चाल) नही पकड पाता है उस दशा मे डण्डे से मारकर जहॉ वह पाद ग्रहण कराया जाता है, वह क्रिया हनन कही गयी है।

जब दूसरी बल्गा (लगाम) के चार बार खलीकृत करके अश्व को अन्यत्र ले जाकर उच्छ्वासित करके वह चाल ग्रहण करायी जाती है, तब उस क्रिया को उच्छ्वास नाम दिया गया है। स्वभाव से अश्व अपना मुख वाह्य दिशा की ओर घुमा देता है। उसे यत्न पूर्वक उसी दिशा की ओर मोडकर वही नियुक्त करके जब अश्व को वैसी गति ग्रहण करायी जाती है, तब इस यत्न को मुख्यावर्तन कहते है क्रमशः तीनो ही गतियो मे चलने की रीति ग्रहण कराकर फिर उसे मण्डल आदि पञ्चधाराओं मे उसे चलने का अभ्यास कराये। ऊपर उठे हुए मुह से लेकर घुटनो तक अश्व शिथिल हो जाये तब उसे गति की शिक्षा देने के लिए बुद्धिमान पुरूष उसके ऊपर सवार करे तथा जब तक उसके अङ्गों मे हल्कापन या फुर्ती ना आ जाये तब तक उसे दौडाता रहे। जब घोडे की गर्दन कोमल, मुख हल्का और शरीर की सारी संधिया शिथिल हो जायॅ तब वह सवार के वश मे होता है। उसी अवस्था मे अश्व का संग्रह करे ।जब वह पिछला पाद (गति ज्ञान) न छोडे तब वह साधु (अच्छा) अश्व होता है। उस समय दोनो हॉथो से लगाम खीचें। लगाम खीचकर ऐसा कर दे जिससे घोडा ऊपर की गर्दन उठाकर एक पैर से खडा हो जाये। जब भूतल पर स्थित हुए पिछले दोनो पैर आकाश मे उठे हुए अग्रिम पैरों के आश्रय बन जायँ उस समय अश्व को मुट्ठी से संधारण करे। सहसा इस प्रकार खीचने पर जो घोडा खडा नही होता शरीर को झकझोरने लगता है तब उसको मण्डला कार दौडकर सीधे वश मे करे। जो घोडा कन्धा कंपाने लगे उसे लगाम से खीचकर खडा कर देना चाहिए।

गोबर, नमक, और गोमूत्र का क्वाथ बनाकर उसमे मिट्टी मिला दे और घोडे के शरीर पर उसका लेप करे। यह मक्खी आदि के काटने की पीडा तथा थकावट को दूर करने वाला है।

शक्कर मधु और लाजा (धान का लावा) खाने वाला ब्रह्मण जातीय अश्व पवित्र एवं सुगन्धयुक्त होता है। क्षत्रिय अश्व तेजस्वी होता है, वैश्य अश्व विनीत और बुद्धि मान हुआ करता है और शूद्र अश्व अपवित्र चञ्चष, मन्द, कुरूप बुद्धिहीन और दुष्ट होता है। लगाम द्वारा पकडे जाने पर जो अश्व लार गिराने लगे उसे रस्सी और लगाम खोलकर पानी की धारा से नहलाना चाहिए।

२- अश्वादि के रोगों की चिकित्सा :-

अश्व चिकित्सा :-

जो अश्व हीनदन्त, विषमदन्त युक्त या बिना दांत का कराली दो से अधिक दन्त पंक्तियों से युक्त, कृष्णतालु, कृष्ण वर्ण की जिह्वा से युक्त युग्मज (जुडवॉ पैदा) जन्म से ही बिना अण्डकोष का दो खुरो वाला श्रङ्युक्त, तीन रङ्गो वाला, व्याध्र वर्ण गर्दभवर्ण भस्मवर्ण, सुवर्ण या अग्निवर्ण, ऊँचे ककुद वाला श्वेत कुष्ठ्ग्रस्त कौवे जिस पर आक्रमण करते हो।जो खरसार अथवा वानर के समान नेत्रो वाला हो या जिसके अयाल, गुह्याङ्ग तथा नथुने कृष्णवर्ण के हो यव के ठूँड के समान कठोर केश हो, जो तीतर के समान रंग वाला हो विषमाङ्ग हो, श्वेत चरण वाला हो तथा जो ध्रुव (स्थिर) आवर्तो से रहित हो तथा अशुभ आवर्तो से युक्त हो ऐसे अश्व का परित्याग करना चाहिए ।

नाक तथा नाक के पास (ऊपर) दो दो मस्तक एवं वक्षः स्थल मे दो दो तथा प्रयाण (पीठ और पिछले भाग) ललाट और कण्ठ देश मे (भी दो दो) इस प्रकार अश्वो के दस आवर्त (भँवरी चिहन) शुभ माने गये है। ओष्ठ प्रान्त मे ललाट मे, कान मूल मे, निगाल्क (गर्दन) मे अगले पैरो के ऊपर मूल मे तथा गले मे स्थित आवर्त श्रेष्ठ कहे गये है। शेष अङ्गे के आवर्त अशुभ होते है। शुक इन्द्रगोप (बीर बघूटी) शएवं चन्द्रमा के समान कान्ति से युक्त

---

1. अग्नि पुराण अध्याय 288

2. नकुलकृत अश्वशास्त्र में खरसार अश्व का वर्णन इस प्रकार है।

नगरे राष्ट्रे निवसेद यस्य विनश्यत्यसौ राजा।

खरसारः खरवर्णरूतु मण्डलैर्यो भवत्तया हानैः।

गर्दभ के समान एवं उसी के समान रंग वाले आवर्तो से युक्त अश्व खरसार कहलाता है। ऐसा अश्व जिस राजा या राष्ट्र में निवास करता है, वह राजा नाश को प्राप्त करता है।

काकवर्ण,सुवर्ण तथा चिकने घोडें सदैव प्रशस्त माने गये है। जिन राजाओं के पास लम्बी ग्रीवा वाले,भीतर की ओर धंसी आँख वाले ,छोटे कान वाले ,देखने में सुन्दर एवं मनोहर घांडे हो, वहाँ विजय की अभिलाषा छोड़ दे । घोडे हाँथी यदि पाले जायॅ तो दुःप्रद होता है। घोड़े के लक्ष्मी पुत्र, गन्धर्व रूप में पृथ्वी के उत्तम रत्न है। अश्वमेघ्र में पवित्र होने के कारण ही अश्व का उपयोग किया जाता हैं ।

मधु के साथ अडूसा ,नीम की छाल, बडी कटेरी और गिलोय इनकी पिण्डी तथा सिर का स्वेद- ये नासिकामल को नाश करने वाले हैं। हींग, पीकरमूल, सोंठ, अम्लवेत, पीपल तथा सैन्धवलवण - ये गरम जल के साथ देने पर शूल का नाश करते हैं। सोंठ, अतीस, मोथा, अनन्तमूल या दूब और बेल - इनका क्वाथ घोड़े को पिलाया जाये तो वह उसके सभी प्रकार के अतिसार को नष्ट करता है। प्रियंगु कालिसर तथा र्प्याप्त शर्करा से युक्त बकरी का गरम किया हुआ दूध पी लेने पर घोड़े की थकावट दूर हो जाती है। अश्व को द्रोणी हो तैलबस्ति देनी चाहिए अथवा कोष्ठ में अत्यन्त शिराओं का वेधन करना चाहिए। इससे उसको सुख प्राप्त होता है।

अनार की छाल, त्रिफला, त्रिकटु तथा गुड़-इनको सम मात्रा में ग्रहण करके इनका पिण्ड बनाकर घोड़े को दें। यह अश्वों की कृशता को दूर करने वाला है। घोड़ा, प्रियंगु, लोध तथा मधु के साथ अडूसे के रस या पञ्चकोलादि (पीपल, पीपलामूल, चब्य, चीता तथा सोंठ) युक्त दुग्ध का पान करें तो वह कासरोग से मुक्त हो जाता है। प्रस्कन्ध (छलांग आदि दौड़) से हुए सभी प्रकार के कष्ट पहले शोधन श्रेयष्कर होता है। तदनन्तर अभ्यंग, उद्वर्तन, स्नेहन, नस्य और वर्तिका का प्रयोग श्रेष्ठ माना जाता है। ज्वरयुक्त अश्वों की दुग्ध से ही चिकित्सा करें। लोधमूल, करञ्जमूल, बिजौरा, नीबू, चित्रक, सोंठ, कूट, वच इनका लेप शोभ (सूजन) का नाश करने वाला है। घोड़े को निराहार रखकर मजीष, मुलहठी, मुनक्का, बड़ी कटेरी, छोटी कटेरी, लाल चन्दन, खीरे के मूल और बीज, सिंहाड़े के बीज और कशेरू- इनसे युक्त बकरी का दूध पकाकर अत्यन्त शीतल करके शक्कर के साथ पिलाने से वह घोड़ रक्त प्रमेह से छुट्कारा पाता है।

मन्या, हुड्डी तथा ग्रीवा की शिराओं के शोथ तथा मलग्रहरोग में उन-उन स्थानों पर कटुतैल का अभ्यंग प्रशस्त है। मलग्रहरोग और शोथ प्रायः मलदेश में ही होते हैं। चिरचिरा, चित्रक, सैन्धव तथा सुगन्ध घास का रस, पीपल और हींग के साथ इनका नस्य देने से अश्व कभी विषादयुक्त नहीं होता है। हल्दी, दारूहल्दी, मांगकाँगनी, पाठा, पीपल, कूट, वच तथा मधु - इनका गुड़ एवं गोमूत्र के साथ जिह्वा पर लेप जिह्वा स्तम्भ में हितकर है।

तिल, मुलहठी, हल्दी और नीम के पत्रों से निर्मित पिण्डी मधु के साथ प्रयोग करने पर व्रण का शोधन और घृत के साथ प्रयुक्त होने पर घाव को भरती है। जो घोड़े अधिक चोट के कारण तीव्र वेदना से युक्त होकर लँगड़ाने लगते हैं, उनके लिए तैल से परिषेक- क्रिया शीघ्र ही रोगनाश करने वाली होती है। वात, पित्त, कफ, दोषों के द्वारा अथवा क्रोध के कारण चोट पा जाने से पके, फूटे स्थानों के व्रण के लिए यह क्रम है। पीपल, गूलर, पाकर, मुलहठी, वट और बेल -इनका अत्यधिक जल में सिद्ध क्वाथ भोज गरम हो तो वह व्रण का शोधन करने वाला है। सौंफ, सोंठ, रासना, मजीठ, कूट, सैन्धव, देवदारू, वच, हल्दी, दारूहल्दी, रक्त चन्दन- इनका स्नेह क्वाथ करके गिलोय के साथ, जल के साथ या दूध के साथ उद्वर्तन, वस्ति अथवा नस्य रूप में प्रयोग सभी लिंगित दोषो में करना चाहिए। नेत्ररोग मुक्त अध्व के नेत्रान्त और जोंक द्वारा अभिस्रावण कराना चाहिए। खैर, गूलर और पीपल की छाल के क्वाथ से नेत्रों का शोधन होता है।

मुक्तावलम्बी अम्ल के लिए आँवला, जवासा, पाठा, प्रियंगु, कुंकुम और गिलोय- इनका समभाग ग्रहण करके निर्मित किया हुआ कल्क हितकर है। कर्णसम्बन्धी दोष में एवं उपद्रव जो शिल (अनियमित-वृत्ति) में शुष्क-शेप में (लिंग सूखने की दशा में) और शीघ्र (हानि) करने वाले दोष में तत्काल वेधन करना चाहिए। गाय का गोबर, मजीठ, कूट, हल्दी, तिल और सरसों - इनको गोमूत्र में पीसकर मदर्न करने से खुजली का नाश होता है। शाला की छाल क्वाथ शीतल हो जाने पर मधु और शर्करासहित नासिका में डालने एवं उसी प्रकार पिलाने से घोड़े का रक्तपित्त नष्ट होता है। घोड़े को सातवें-सातवें दिन नमक देना चाहिए।

अश्वों के अधिक भोजन हो जाने पर वारुणी (मदिरा) शरद ऋतु में जीवनीगमण के द्रव्य (जीवक, ऋषभक, मेंदा, महामेदा, काकोली, क्षीरकाकोली, मुद्मपर्णी (वनमूँग) मासपर्णी (वनउरद), जीवन्ती तथा मुलहठी मधु, शक्कर, पिप्पली और पद्माख सहित प्रतिपान में देना चाहिए।

हेमन्त ऋतु मे बायबिडग,पीपल, धनिया, सौफ, लोध, सैन्धवलवण और चित्रक से समन्वित प्रतिपान देना चाहिए बसन्त ऋतु मे लोध प्रियङ्गु , मोथा पीपल, सोंठ और मधु से युक्त प्रतिमान कफनाशक माना गया है। ग्रीष्म ऋतु मे प्रतिपान कफनाशक मानागयाहै। ग्रीष्म ऋतु मे प्रतिपान के लिए प्रियङ्गु पीपल लोध मुजहठी सोठ और गुड क सहित मदिरा, वर्षा ऋतु मे अश्वो के लिए प्रतिमान तैल लोध लवण पीपल और सोठ से समन्वित होना चाहिए ग्रीष्म ऋतु मे बढे हुए पित्त के प्रकोप से पीडित शरत्काल मे रक्त घनत्व से युक्त अश्व को एवं प्रावृट् (वर्षा के प्रारम्भ) मे जिन घोडो का गोबर फूट गया है उन्हे घृत पिलाना चाहिए। कफ एवं वात की अधिकता होने पर अश्वों को तैल पान कराना चाहिए। जिनके शरीर

मे स्नेह तत्व के प्राबल्य से कोई कष्ट उत्पन्न हो उनका रूक्षण करना चाहिए । मट्ठा के साथ भोजन तथा तीन दिन तक यवागू पिलाने से अश्वो का रूक्षण होता है। अश्वो के वस्ति कर्म के लिए शरद् ग्रीष्म मे घृत हेमन्त- वसन्त मे तैल तथा वर्षा एवं शिविर ऋतुओ मे घृत तैल दोनो का प्रयोग करना चाहिए।जिन धोडो को स्नेह (घृत -तैलादि) पान कराया गया है, इनके लिए (गुरुभारी) या अभिष्यन्दी (कफकारक) भोजन - भात आदि व्यायाम,स्नान धूप तथा वायु रहित स्थान वर्जित है।वर्षा ऋतु मे घोडे को दिन मे एक बार स्नान और पान कराये, किन्तु घोर दुर्दिन के समय केवल पान ही प्रशस्त है। समशीताष्ण ऋतु मे दो बार और एक बार स्नान विहित है। ग्रीष्म ऋतु मे तीन बार स्नान और प्रतिपान उचित होता है। पूर्ण जल मे बहुत देर तक स्नान कराना चहिए ।

घोडे को प्रतिदिन चार आढ्क भूसा से रहित जो खिलावे उसको चना धान मूँग या मटर भी खाने को दे अश्व को (एक) दिन रात मे पाँच सेर दूब खिलावे. सूखी दूब होर्ने पर आठ सेर अथवा भूसा चार सेर देना चाहिए दूर्वा पित्त का , जौ कास का, भूसी कफाधिक्य अर्जुन स्वास का एवं मानकन्द बलक्षय का नाश करता है।घोडे आस्तरणयुक्त और धूपित स्थान मे बसाने चाहिए घुडसाल मे मयूर, अज, वानर और मृगो को रखना चाहिए।[1]

अश्व - शान्ति :-

अश्व शान्ति नित्य, नैमित्तिक और काम्य के भेद से तीन प्रकार की मानी गई है किसी शुभ दिन को श्रीधर (विष्णु) श्री (लक्ष्मी) उच्चैः श्रवा के प्रति हयराज की पूजर करके सरिता देवता- सम्बन्धी मंत्रो द्वारा धी का हवन करे तदनन्तर ब्राह्मणों को दक्षिणा दे। इससे अश्वो की वृद्धि होती है (शुभ दिन से आरम्भ करके इस कार्य को प्रतिदिन चालू रखा जाये तो यह 'नित्य अश्व शान्ति है।)

(अश्व समृद्धि की कामना से) आश्विन के शुक्ल पक्ष की पूर्णिमा को नगर के वाह्य देश मे शान्ति कर्म करे। उसमें विशेषतः अश्विनी कुमारो तथा वरूण देवता का पूजन करे तत्पश्चात श्री देवी को वेदी पर पद्मासन के ऊपर अङ्कित करके उन्हे चारों ओर से वृक्ष की शाखाओ द्वारा आवृत्त करदे उनको सभी दिशाओ समस्त रसो से परिपूर्ण कलशो को वस्त्र सहित स्थापित करे। इसके बाद श्री देवी का पूजन करके उनकी प्रसन्नता के लिए जौ और घी का हवन करे। फिर अश्विनी कुमारो और अश्वो की अर्चना करे तथा ब्राह्मणों को दक्षिणा दे। मकर आदि की संक्रातियों मे अश्वो का पूजन करे साथ ही कमल पुष्पो द्वारा विष्णु लक्ष्मी ब्रह्मा शंकर, चन्द्रमा, सूर्य, अश्विनी कुमार रेवन्त तथा उच्चै : श्रवा कि अर्चना करे। इसके सिवा कमल के दस दलो पर दस दिक्कपालों की भी पूजा करे प्रत्येक अर्चनीय देवता के

1. अग्नि पुराण अध्याय 289

निमित्त देवी पर जल पूर्ण कलश स्थापित करे और उन कलशों मे अधिष्ठित देवो की पूजा करे इन देवताओ के उत्तर भाग मे इन सब के निमित्त तिल अक्षत, घी, और पीली सरसो की आहुतिया दे एक एक देवता के निमित्त सौ सौ आहुतिया देनी चाहिए अश्व सम्बन्धी रोगो के निवारण के लिए उपवास पूर्वक यह शान्ति कर्म करना उचित है।

अग्नि पुराण के आधार पर गज चिकित्सा :-

लम्बी सूँड वाले दीर्घ स्वास लेने वाले आघात को सहन करने मे समर्थ बीस या अठारह गाए वाले एवं शीत काल मे मदकी की धारा बहाने वाले हाथी प्रशस्त माने गाये है। जिनका दाहिना दाँत उठा हुआ हो तथा गर्जना मेघ के समान गम्भीर हो जिनके कान विशाल हो तथा जो त्वचा पर सूक्ष्म बिन्दुओं से चित्रित हो ऐसे हाँथियो का संग्रह करना चाहिए' किन्तु जो हस्तवाकार और लक्षण हीन हो ऐसे हाँथियो का संग्रह कदापि नही करना चाहिए पार्श्वर्गर्भिणी हस्तनी और मूढ़ उन्मत्त हाथियो को भी न रखे वर्ण सत्त्व, बल, रूप, कान्ति, शारीरक संगठन, एवं वेग इस प्रकार सात गुणो से युक्त गजराज सम्मुख, युद्ध मे शत्रुओ पर विजय प्राप्त करता है । गजराज ही शिविर और सेना की परम शोभा है। राजाओ की विजय हाथियों के अधीन है। हाँथियो के सभी प्रकार के ज्वरो मे अनुवासन देना चाहिए। पाण्डुरोग मे गोमूत्र, हरिद्रा और घृत दे बद्धकोष्ठ (कब्जियत) मे तैल से पूरे शरीर का मर्दन करके स्नान करना या क्षरण करना प्रशस्त है। हाथी का पञ्चलवण (काला नमक सेंधा नमक, संचर नोन समुद्र लवण, और काच लवण) युक्त वारिणी मदिरा का पान कराये । मूर्च्छा रोग मे हाथी का वायविडग, त्रिफला, त्रिकटु और सैन्धव लवण के ग्रास बना कर खिलाये तथा मधु युक्त जल पिलाये। शिरश्शूल मे अभ्यङ् और नस्य प्रशस्त है।हाथियो के पैरो के रोगों मे तैल युक्त पोटली से मर्दन रूप चिकित्सा करे । तदनन्तर कल्क और कषाय से उनका शोधन करना चाहिए। जिस हाथी को कम्पन होता ही उसको पीपल और मिर्च मिलाकर मोर, तीतर, और बटेर के मांस के साथ भोजन कराये अतिसार रोग के शमन के लिए गजराज को नेत्र वाला तेल का सूखा, गूदा, लोथ ,घाव के फूल और मिश्री को पिंडी बनाकर खिलावे । करग्रह (सूँड के रोग) मे लवण युक्त घृत का नस्य देना चाहिए। उत्कर्षण रोग मे पीपल, सोठ, कालाजीरा, और नागर मोथा से साधित यवागू एवं बाराही कंद का रस दे । दस मूल कुलथी, अम्लवेत और काकमाची से सिद्ध किया हुआ तैल मिर्च के साथ प्रयोग करने से गलग्रह रोग का नाश होता है। मूत्रकृच्छ्र रोग मे अष्टलवण युक्त सुरा एवं घृत का पान करावे अथवा खीरे के बीजों का क्वाथ दे। हाँथी के चर्म दोष मे नीम या असूडो का क्वाथ पिलावे। .कृमियुक्त कोष्ठ की शुद्धि के लिए गोमूत्र और वायविडग प्रशस्त है। सोठ, पीपल, मुनक्का, और शर्करा से श्रृत जल का पान क्षतदोष का क्षय करने वाला है। तथा मांस रस भी

लाभदायक है। अरूचिरोग सोठ मिर्च एवं पिप्पली युक्त मूँग भात प्रशंसित है। निसोथ, त्रिकुट चित्रक दन्ती आक, पीपल, दुग्ध और गज पीपल इनसे सिद्ध किया गया स्नेह गुल्म रोग का अपहरण करता है। इसी प्रकार (गज चिकित्सक) भेदन, द्रावण अभ्यंग, स्नेहपान और अनुवासन के द्वारा सभी प्रकार के विद्रधि रोगो का विनाश करें।

हाँथी के कट्ठ रोगों में मूंग की दाल या मूंग के साथ मुलेठी मिलावें और नेत्रबाला एवं बेल की छाल का लेप करें। सभी प्रकार के शूलों का शमन करने के लिए दिन के पूर्व भाग में इन्द्र यव, हींग धूपसरल, दोनो हल्दी और दारु हल्दी की पिण्डी दें। हाथियों के उत्तम भोजन में साठी चावल, मध्यम भोजन में जव और गेहूँ एवं अधम भोजन में अन्न भक्ष्य पदार्थ माने गये हैं। जौ और ईख हाथियों का बल बढ़ाने वाले हैं। सूखा तृण उनके धातु को प्रकुपितु करने वाला है मदक्षीण हाँथी को दुग्ध पिलाना प्रशस्त तथा दीपनीय द्रव्यों से पकाया हुआ मांस रस भी लाभप्रद है। गुग्गुल गठिवन कर कोल्यादिगण और चन्दन इनका मधु के साथ प्रयोग करें। इससे पिण्डोद्रेक रोग का नाश होता है। कुट्की, मत्स्य, वायविड़ंग, लवण, को शातकी (झिमनी) का दूध और हल्दी इनका धूप हाथियों के लिए विजय है। पीपल और चावल तथा तेल माहवीक(महुआ या अंगूर के रस से निर्मित सुरा) तथा मधु इनका नेत्रों में परिषेक दीपनीय माना गया है। गौरैया , चिड़िया और कबूतर की बीट, गूलर सूखा गोबर एवं मदिरा एवं इनका मंजन हाथियों को अत्यन्त प्रिय है। हाथी के नेत्रों को इससे अज्जित करने पर वह संग्राम भूमि में शत्रुओं को मसड डालता है। नीलाकमल, नागरमोथा, और तगर इनको चावल के जल में पीस लें। यह हाथियों के नेत्रों को परम शांति प्रदान करता है। नख बढ़ने पर उनके नख काटने चाहिए। हाथियों का शयन-स्थान सूखे गोबर और धूल से युक्त होना चाहिए। शरद और ग्रीष्म ऋतु में इनके लिए घृत का सेक उपयुक्त है।.

गजशान्ति(अग्नि पुराण के आधार पर):-

किसी भी शुक्ल पंचमी को विष्णु लक्ष्मी तथा नागराज ऐरावत की पूजा करें। फिर ब्रह्मा, शिव , विष्णु, इन्द्र, कुबेर, यमराज, चन्द्रमा , सूर्य, वरुण, वायु, अग्नि, पृथिवी आकाश , शेषनाग पर्वत विरुपाछ,महापद्म, भद्र, सुमनस और देवजातीय आठ हाथियों का पूजन करें। उन आठ नागो के नाम ये हैं- कुमुद,ऐरावत, पद्म, पुष्पदन्त, वमन, सुप्रतीक अन्जन और नील। तत्पश्चात् होम करें और दक्षिणा दें। शान्ति कलश के जल से हाथियों का अभिषेक किया किया जाय तो वे वद्धि को प्राप्त होते हैं। (यह नित्य विधि है)

मकर आदि की संक्रान्तियों में हाथियों का नगर के बहिर्भाग में ईशानकोण में (पूजन करें) वेदों या पद्मासन पर अष्टदल कमल का निर्माण करके उसमें केसर के स्थान पर श्री

विष्णु और लक्ष्मी की अर्चना करें। तदन्तर अष्टदलों में क्रमशः ब्रह्मा, सूर्य पृथ्वी,स्कन्द, अनन्त,आकाश शिव तथा चन्द्रमा की पूजा करें। उन्ही आठ दलों में पूर्वादि के क्रम से आदि दिक्पालों का भी पूजन करें। देवताओं के साथ कमलदलों में उनके वज्र,शक्ति,दण्ड,तोमर, पाश,गदा ,शूल और पद्म आदि अस्त्रों की अर्चना करनी चाहिए।

दलों के वाह्य भाग में चक्र में सूर्य और अश्विनी कुमारों की पूजा करें। अष्ट वंसुओं एवं साध्य देवों का दक्षिण भाग में तथा भार्गवाङ्गिरस देवताओं का नैऋत्यकोण में यजन करें। वायत्यकोण में मरुद्गणों का दक्षिण भाग में विश्व देवों का एवं रौद्रमण्डल(ईशान) में रुद्र का पूजन करना चाहिए। वृत्तरेखा के द्वारा निर्मित अष्टदल कमल के बहिर्भाग में सरस्वती, सूत्रकार और देवर्षियों की अर्चना करें। पूर्वभाग में नदी, पर्वतों एवं ईशान आदि कोणों में महाभूतों की पूजा करें । तदनन्तर पद्म,चक्र,गदा, तथा शङ्ख से सुशोभित चतुष्कोंण एवं चतुद्वार युक्त भूपुर मण्ड़ल का निर्माण करके आग्नेय आदि कोणों में कलशों की स्थापना करें। तथा चारो ओर पातकाओं और तोरणों का निवेश करें। सभी द्व ारों पर ऐरावत आदि नागराजों का पूजन करें । पूर्वादि दिशाओं में समस्त देवताओं के लिए पृथक- पृथक सर्वौषधियुक्त पात्र रखें । हाथियों का पूजन करके उनकी परिक्रमा करें। सभी देवताओं के उद्देश्य से पृथक-पृथक सौ-सौ अहुतियाँ प्रदान करें। तदन्तर नागराज, अग्नि और देवताओं को साथ लेकर बाजे-बजाते हुए अपने घरों को लौटाना चाहिए। ब्रह्मणों एवं गज चिकित्सक आदि को दक्षिणा देना चाहिए। तत्पश्चात कालज्ञ, विद्वान,गजराज पर आरुढ़ होकर उसके कान में निम्नांकित मंत्र कहें।

गजाः शान्त्युदकैः सिक्ता वृद्धौ नैमित्तिकं शृणु।
गजानां मकरादौ च ऐशान्यां नागराद्बहिः।।
स्थण्डिले कमले मध्ये विष्णुं लक्ष्मीं च केसरे।
ब्रह्माण्डं भास्करें पृथ्वीं यजेत्स्कन्दं ह्यनन्तकम्।।
खं शिवं सोमामिन्द्रादीस्तदस्त्राणि दले क्रमात्।
वज्रं शक्तिं च दण्डं च तोमरं पाशकं गदाम्।।
शूलं पद्मं बहिर्वृन्ते(ते) चक्रे सूर्ये तथाऽश्विनौ।
वसूनष्टौ तथा साध्यान्याम्येऽथ नैर्ऋते दले।।
वृ>ाया रेखया तत्र देवान्वै वाह्यतौ यजेत्।
सूत्रकारानृषीन्वाणी पूर्वादौ सरितौ गिरीन्।।
महाभूतानि कोणेषु ऐशान्यादिषु संयजेत् ।
पद्मं चक्रं गदां शंख चतुरस्रं तु मण्डलम्।।

गजराज की मृत्यु हो जाने पर उसके शरीर को शान्त करके इस मंत्र का जप करना चाहिए।

हे गजदेव! राजा ने तुम्हे 'श्रीगज' के पद पर नियुक्त किया है। अब से तुम इस राजा के लिए' गजाग्रणी'(गजो के अगुआ) हो। ये नरेश आज से गन्ध,माल्य एवं उत्तम अक्षतों द्वारा तुम्हारा पूजन करेंगें। इनकी आज्ञा से प्रजा जन भी सदा तुम्हारा अर्चन करेंगें। तुमको युद्ध भूमि मार्ग एवं गृह में महाराज की सदा रक्षा करनी चाहिए। नागराज! तिर्यग्भाव(टेढ़ापन) को छोड़कर अपने दिव्यभाव का स्मरण करें। पूर्वकाल में देवासुर संग्राम में देवताओं ने ऐरावत पुत्र श्रीमान् अरिष्टनाग को श्रीगज का पद प्रदान किया था। श्री गज का वह सम्पूर्ण तेज तुम्हारे शरीर मे प्रतिष्ठित है। नागेन्द्र! तुम्हारा कल्याण हों। तुम्हारा अन्तर्निहित दिव्यभाव सम्पन्न उद्‌बुद्ध हो उठे। तुम रणाङ्ण मे राजा की रक्षा करो ।

राजा अभिषिक्ति गजराज पर शुभमुर्हूत में आरोहण करे। शस्त्रधारी श्रेष्ठवीर उसका अनुगमन कें। राजा हस्तिशाला में भूमिपर अंकित कमल के बहिर्भाग मे दिग्पालों का पूजन करे। केशर के स्थान पर गजराज, महाबली, भूदेवी और सरस्वती का भजन करे डिण्डिम की पूजा एवं हवन करके ब्राह्मणों की रसपूर्ण कलश प्रदान करे। पुनः गजाध्यक्ष गजरक्षक एवं ज्योतषी का सत्कार करे। तदन्तर डिण्डिम गजाध्यक्षों को प्रदान करें गजाध्यक्ष नागराज के जघन प्रदेश पर आरुढ़ होकर शुभ एवं गम्भीर स्वर में डिण्डिम वादन करे ।

गरुण पुराण में वर्णित अश्व चिकित्सा में बताये गये औषधिक कल्प हाँथियों के लिए भी हितकारी है। हाँथी के निमित्त उक्त मात्रा चौगनी होती है। हाथियों की उपसर्ग जनित ब्याधियों (दैवी प्रकोप या महामारी) के उपशमन के लिए गज शान्ति कर्म करना चाहिए। देवताओं और ब्राह्मणों को रत्नादि के द्वारा पूजन करके उन्हे कपिला गौ का दान दें। रक्षामंत्रों से अभिमंत्रित वचा(वच) और सरसों को माला में पिरोकर हाथी के दोनो दाँतों में बाधना चाहिए। सूर्य आदि नवग्रहों के तथा शिव, दुर्गा, लक्ष्मी और विष्णु के पूजन आदि से हाथी की रक्षा होती है। देवादि की पूजा करने के पश्चात् प्राणियों के लिए अन्नादि की बलि देकर हाथी को चार घड़ों के जल से स्नान कराना चाहिए। तदन्तर मंत्रो द्वारा अभिमंत्रित हाथी को भोजन देना चाहिए। हाथी के पूरे शरीर पर भस्म लगाना चाहिए। त्रिफला–पञ्चकोल, (पीपर, पीपरामूल, चव्य, चित्रकमूल,सोंठ) दशमूल, विडङ् ,शतावरी गुडूची ,नीम,अडूसा और पलाश के चूर्ण अथवा क्वाथ हाथी के रोगो को विनष्ट करने में समर्थ है।

---

1. अग्निपुराण अध्याय - 287, गज चिकित्सा
2. अग्नि पुराण अध्याय - 291, गजशान्ति

गौ एवं अश्व चिकित्सा :-

जो गौ अपने बछडे से द्वेष करती है,उसे नमक से युक्त उसी का दूध पिला देना चाहिए। ऐसा करने से वह अपने बछडे से प्रेम करने लगेगी । कुत्ते की हड्डी को भैंस और गाय के गले मे बांधने से उसके शरीर मे पडे हुए कीडे गिर जाते है। इसमे संदेह नही है। धुंधची की जड को खिलाने से भी गाय के शरीर मे पडे हुए कीडे भी विनष्ट हो जाते है। हे शिव वरूणफल के रस को हाथ से मथ कर उसे घाँव मे भरने से उसके अन्दर पडे हुए चार पैर वाले तथा दो पैर वाले कीडे नष्ट हो जाते है।हाथी का मूत्र पिलाने से गाय और भैसो में फैलने वाला उपसर्ग रोग (दैवी आपदा जन्य महामारी) नष्ट हो जाते है। मट्ठे मे मसूर और साठी चावल को घिसकर पिलाने से भी लाभ होता है।

गाय तथा भैस के दूध मे तुलनात्मक दृष्टि से गाय का दूध ही पुरूष के लिए विशेष हितकारी होता है। सरपोखा के पत्ते को नमक के साथ खिलाने से घोडे तथा हाथियो का वारिष्फोट नामक रोग नष्ट हो जाता है। घृतकुमारी के पत्ते का नमक के साथ सेवन कराने से धोडे आदि की खुजली दूर हो जाती है।

गवायुर्वेद :-

गौएँ पवित्र एवं मंगलमयी है। गौओं मे सम्पूर्ण लोक प्रतिष्ठित है। गौओ का गोबर और मूत्र अलक्ष्मी (दरिद्रता) के नाश का सर्वोतम साधन है। उनके शरीर को खुजलाना, सीगों को सहलाना और उनको जल पिलाना भी अलक्ष्मी का निवारण करने वाला है। गोमूत्र, गोबर, गोदुग्ध, दधि, घृत और कुशोदक, - यह षडङ्ग (पच्चगव्य) पीने के लिए उत्कृष्ट वस्तु तथा दुःस्वप्नो आदि का निवारण करने वाला है। गोरोचना विष और राक्षसों का विनाश करती है। गौओं को ग्रास देने वाला स्वर्ग को प्राप्त होता है। जिसके धर मे गौएँ दुःखित होकर निवास करती है। वह मनुष्य नरकगामी होता है। दूसरे की गाय कों ग्रा स देने वाला स्वर्ग को और गोहित में तत्पर ब्रह्मलोक को प्राप्त होता है। गोदान, गो, माहात्म्य, कीर्तन और गोरक्षण से मानव अपने कुल का उद्धार कर देता है। यह पृथ्वी गौओ के श्वास से पवित्र होती है। उनके स्पर्श से पापो का क्षय होता है एक दिन गोमूत्र, गोमय घृत, दूध, दधि और कुश का जल एवं एक दिन उपवास चाण्डाल को भी शुद्ध कर देता है। पूर्व काल में देवताओ ने भी समस्त पापों के विनाश के लिए इसका अनुष्ठान किया था । इनमें से प्रत्येक वस्तु का क्रमशः तीन तीन दिन भक्षण करके रहा जाये उसे महासान्तपन व्रत कहते है। यह व्रत सम्पूर्ण कामनाओ को सिद्ध करने वाला और समस्त पापों का विनाश करने वाला है। केवल दूध पीकर इक्कीस दिन रहने से कृच्छातिकृच्छ्र व्रत होता है। इसके अनुष्ठान से श्रेष्ठ मानव अभीष्ठ वस्तुओ को प्राप्त कर पापमुक्त हो स्वर्ग लोक को जाते है। तीन दिन गरम गोमूत्र, तीन दिन

गरम घृत, तीन दिन गरमदूध और तीन दिन गरम वायु , पीकर रहें। यह तप्तकृच्छ्र व्रत कहलाता है। जो समस्त पापों का प्रशमन करने वाला और ब्रह्मलोक की प्राप्ति कराने वाला है। यदि इन वस्तुओ को इसी क्रम से शीतल करके ग्रहण किया जाये तो ब्रह्मा जी के द्वारा कथित शीतकृच्छ्र होता है। जो ब्रह्मलोक प्रद है।

एक मास तक गोव्रती होकर गोमूत्र से प्रतिदिन स्नान करें, गोरस से जीवन चलावे गौओ का अनुगमन करे और गौओं के भोजन करने के बाद भोजन करें। इससे मनुष्य निष्पाप होकर गोलोक को प्राप्त करता है। उस लोक को मानव विमान मे अप्सराओ के द्वारा नृत्य गीत से सेवित होकर प्रमुदित होता है। गौएँ सदा सुरभिरूपिणी हैं। वे गुग्गुल के समान गन्ध से संयुक्त है। गौएँ समस्त प्राणियों की प्रतिष्ठा है। गौएँ परम मंगलमयी हैं। गौएँ परम अन्न देवताओं के लिए उत्तम हविष्य है। वे सम्पूर्ण प्राणियो को पवित्र करने वाले दुग्ध और गोमूत्र का वहन एवं क्षरण करती है, और मंत्रपूत हविष्य से स्वर्ग मे स्थित देवताओ को तृप्त करती है। ऋषियो के अग्निहोत्र मे गौएँ होमकार्य मे प्रयुक्त होती है। गौएँ सम्पूर्ण मनुष्यो की उत्तम शरण हैं। गौएँ परम पवित्र, महामंगलमयी स्वर्ग को सोपानभूत, धन्य और सनातन (नित्य) है। श्रीमती सुरभिपुत्री गौओं को नमस्कार है। ब्रह्मसुताओ को नमस्कार है। पवित्र गौओ को बारंम्बार नमस्कार है। ब्राह्मण और गौएँ एक ही कुल की दो शाखाएँ है। एक के आश्रय मे मन्त्र की स्थिति है, और दूसरे मे हविष्य प्रतिष्ठित है। देवताः ब्राह्मण, गौ, साधु और साध्वी स्त्रियो के बल पर यह सारा संसार टिका हुआ है। इसी से वे परम पूज्नीय है। गौएँ जिस स्थान पर जल पीती हैं। वह स्थान तीर्थ है। गङ्ग आदि पवित्र , नदियाँ गोस्वरुपा ही है।

गौ चिकित्सा :-

गौओं के श्रृङ्रोगो मे सोठ, खरेटी और जटामांसी को सिल पर पीसकर उसमे मधु, सैन्धव, और तैल मिलाकर प्रयोग करे। सभी प्रकार के कर्णरोगो मे मञ्जिष्ठा, हींग और सैन्धव डालकर सिद्ध किया हुआ तैल प्रयोग करना चाहिए। या लहसुन के साथ पकाया हुआ तैल प्रयोग करना चाहिए। दन्तशूल मे बिल्वमूल, अपामार्ग धान की पाटला और कुटजका लेप करे। शूलनाशक है। दन्तशूल का हरण करने वाले द्रव्यों और कूट को वृत मे पकाकर देने से मुखरोगों का निवारण होता है। जिह्वा रोगो में सैन्धव लवण प्रशस्त है। गलग्रह रोग में सोठ हल्दी दारुहल्दी और त्रिफला विहित है हृद्रोग, वस्तिरोग, वातरोग और क्षय रोग मे गौओं को घृतमिश्रित का त्रिफला अनुपात प्रशस्त बताया गया है। अतिसार मे हल्दी दारुहल्दी और पाठा (नेमुक) दिलाना चाहिए। सभी प्रकार के कोष्ठगत रोगो मे शाखा (पैर-पुच्छादि) गत रोगो मे कास श्वास एवं अन्य साधारण रोगो मे सोंठ भारङ्गी देनी चाहिए। हड्डी आदि टूटने पर लवणयुक्त प्रियङ्गु का लेप करना चाहिए। तैल वात रोग का हरण कर्ता है। पित्तरोग मे तैल

मे पकायी हुई मुलहठी, कफरोग मे मधुसहित त्रिकटु (सोठ, मिर्च और पीपल)तथा रक्त विकार मे मजबूत नखो का भस्म हित्तकर है। उडद ,तिल, गेहूँ, दुग्ध जल और घृत इनका लवणयुक्त पिण्ड गोवत्सो के लिए पुष्टिप्रद है। विषाणी बल प्रदान करने वाली है। ग्रह बाधा के विनाश के लिए धूप का प्रयोग करना चाहिए। देवदारू, वचा, जटामांसी, गुग्गुल, हिंगु और सर्षप- इनकी धूप गौओं के ग्रह जनित रोगों का नाश करने मे हितकर है। इस धूप से धूपित करके गौओं के गले में घण्टा बाँधना चाहिए। असगन्ध और तिलों के साथ नवनीत का भक्षण कराने से गौदुग्धवती है। जो वृष घर में मदोन्मत्त हो जाता है उसके लिए हिङ्गु परम रसायन है।

पञ्चमी तिथि को सदा शान्ति के निमित्त गोमय पर भगवान् लक्ष्मी नारायण का पूजन करे। यह ''अपरा शान्ति कही गयी है। आश्विन् के पक्ष की पूर्णिमा को श्रीहरि का पूजन करे। श्री विष्णु, रूद्र, ब्रह्मा, सूर्य, अग्नि और लक्ष्मी का घृत से पूजन करें। दही भलीभाँति खाकर गो पूजन करके अग्नि की प्रदक्षिणा करे। गृह के बहिर्भाग में गीत और वाद्य की ध्वनि के साथ वृषभ युद्ध का आयोजन करे। गौओं की लवण और ब्राह्मणों को दक्षिणा दे। मकरसंक्रान्ति आदि नैमित्तिक पर्वो पर भी लक्ष्मी सहित श्री विष्णु को भूमिस्थकमल के मध्य में और पूर्व आदि दिशाओं में कमल केशर पर देवताओं की पूजा करे।

कमल के बहिर्भाग में मङ्गलमय ब्रह्मा, सूर्य, बहुरूप, बलि, आकाश, विश्व रूप का तथा ऋद्धि, सिद्धि, शान्ति और रोहिणी आदि दिग्धेनु, चन्द्रमा, और शिव का कृशर (खिचड़ी) से पूजन करे। फिर अग्नि में सर्षप, अक्षत, तण्डुल और खैर-वृक्ष की समिधाओं का हवन करे।

गो चिकित्सा पुण्य है :-

आज भारत जैसे निर्धन एवं पिछडे हुए देश में, जहाँ लाखों- करोडों मनुष्यों के स्वास्थ्य की किसी को चिंता नही, मूक पशुओं की चिकित्सा के विषय मे सोचना कुछ व्यक्तियो की दृष्टि में एक हास्य जनक बात होगी किन्तु विचार करके देखें तो बात ऐसी नही है। पशुओं के स्वास्थ्य पर ही मनुष्यों का स्वास्थ्य निर्भर करता है। कुछ लोग तो ऐसे हैं जो पशुओं के स्वास्थ्य को उपेक्षा की दृष्टि से देखते है, परन्तु अधिकांश व्यक्ति ऐसे हैं जो आकांक्षा रहने पर भी पशुओं के बीमार होने पर या किसी दूसरे समय उन्हे कौन सी दवा अथवा पथ्य देना चाहिए किन किन कारणों से उनमे भाँति - भाँति के रोग आते है और किस प्रकार वे पूर्ण स्वस्थ रह सकतें है,- यह नहीं जानते।

प्राचीन भारत में तो पालकाप्य जैसे महर्षि तथा ऋतुपर्ण, नल एवं नकुल जैसे महाराज गो चिकित्सक एवं पशु चिकित्सक थे । अग्निपुराण और गरूडपुराण,बृहत्संहिता एवं सुश्रुत के चिकित्सा ग्रन्थों में गो चिकित्सा पर बहुत कुछ लिखा गया है।परन्तु आज की स्थिति बडी विकट है। कुछ भोले धर्मभीरू भाइयों की तो यह धारणा हो गयी है। कि देवी तुल्य गोमाता

के शरीर में अस्त्र प्रयोग करना सबसे बडा पाप है।वैसे चाहे वह सड- गल कर तडफती रहे और इस भौतिक शरीर को छोड भी दे। दूसरे यह भी एक भय है कि औषधि करते हुए यदि दुर्भाग्यवश यथायोग्य औषधि न दी जा सके और कुचिकित्सा के कारण गाय के प्राण चले जायँ तो चिकित्सक को गो हत्या का महान् पाप लगेगा। तीसरे गो चिकित्सा द्वारा अर्थ उपार्जन करना भी पाप है, पर बिना कुछ लिये चिकित्सा करने को न तो समय है और न मन ही। इन्ही भ्रान्त अशास्त्रसम्मत एवं घातक धारणाओं के पीछे पडकर कोई भी भला मनुष्य गो चिकित्सा का यत्किंचित् भार मूर्खो के हाथ में भ पडा हुआ है।

उपर्युक्त विषयों पर पूर्ण रूप से विचार करने पर ज्ञात होता है कि गो- चिकित्सा के विषय में लोगो में फैली हुई यह धारणा न तो शास्त्र सम्मत है न नीतिसम्मत और बुद्धिवाद की दृष्टि से ही ठीक है। भला जरा सोंचे तो सही जन्म से लेकर लंकर मृत्यु पर्यन्त ही नही, मृत्यु के पश्चात भी हमारी सब प्रकार से सेवा करने वाली गौ के बीमार होने पर या आहत होने पर उसकी चिकित्सा करना पाप की श्रेणी में गिना जायेगा कि महान पुण्य में ? हमारे विचार से तो ऐसी गायों की चिकित्सा, सेवा एवं सुश्रुषा करने से पाप होना दूर रहा कर्ता के जन्म जन्मान्तर के अनेकों पाप नष्ट हो जाते हैं।

आप स्तम्ब और संवर्त आदि स्मृतियों के वचनों से यह बात और भी पुष्ट हो जाती है कि उपकार की दृष्टि से गो चिकित्सा करते समय यदि कुछ हानि भी हो जाय तो उसमें भली नियत से काम करने वालों को कोई अपराध नहीं लगता।

यन्त्रणे गोचिकित्सार्थे मृतगर्भ विमोचने।
यत्ने कृते विपत्तिश्चेत् प्रायश्चित्रं न विद्यते।।
(आपस्तम्ब 1/31-32)

औषधं स्नेहमाहारं ददद् गोब्राह्मणेषु च।
दीपमाने विपत्तिः स्याद पुण्यमेव न पातकम्।।
(संवर्त0 श्लोक 138)

अर्थात् यत्न पूर्वक गो चिकित्सा करने अथवा गर्भ से मरा हुआ बच्चा निकालने में यदि गाय पर कोई भी विपत्ति आ जाय तो प्रायश्चित करने की आवश्यकता नहीं है। यदि गौ और ब्राह्मण तो उनके लाभ के लिए कोई औषध,तेल,आहार आदि दिया जाय और उससे उन पर कोई विपत्ति आजाय तो पाप नहीं होता। वरन् पुण्य ही होता है।

शास्त्रों के बचनो से ज्ञात हो जाता है कि पाप और पुण्य मनुष्य की भावना पर निर्भर है। हम गुस्से में आकर किसी के शरीर पर साधारणसी चोट लगा देते हैं तो पाप हो जाता है। किन्तु डॉक्टर लोग बड़े - बड़े आपरेशन कर ड़ालते हैं और कइयों के अंग भी काट

डालते है, फिर भी वे पुण्यात्मा समझे जाते हैं, इसका कारण यही है कि हमारा कृत्य, हिंसा द्वेष एवं पर पीड़न की भावना से भरा होता है। और डॉक्टर का काम देखने से अत्यन्त दोष पूर्ण होते हुए भी प्रेम, उपकार एवं हित की पवित्र भावना से प्रेरित है । वस्तुतः क्रिया का महत्व भावना के सामने बिल्कुल गौड़ है।बस गो चिकित्सा के विषय में हमे इस सिद्धान्त को सामने रखकर बिना किसी प्रकार के संकोच के कार्य करना चाहिए। जिस प्रकार मनुष्य की डाक्टरी चिकित्सा में काटना, चीरना आदि आवश्यक होने के कारण किसी को उसमें घृणा नहीं हैं और सभी तरह के लोग निःसंकोच भाव से यह कार्य करते हैं, उसी प्रकार गो चिकित्सा के विषय में सभी तरह के सुयोग्य पुरुषों को पूरे उत्साह के साथ भाग लेना चाहिए।

गायों के रोग उनके लक्षण और चिकित्सा :-

पशुओं को भी रोग उतना ही कष्ट देते हैं जितना कि मनुष्यों को अन्तर इतना ही है कि हम मनुष्य विवेक-साधन तथा उपायों द्वारा किसी सीमा तक रोग दूर करके कष्ट का निवारण कर लेते हैं। किन्तु विचारे मूक- असहाय, विवश तथा केवल पूँछ हिलाने तक का उपाय करने वाले पशु रोग ग्रसित होकर कष्टों को सहते रहते हैं। और मनुष्य जाति की शोभा इसमें नहीं हैं जिसमें अपनी बुद्धि तथा समर्थ का उपयोग अपने ही लिये किया गया है। उसने क्या किया? मनुष्य का यह कर्तव्य है कि परिवार के प्राणी के समान एक ही घर में रहने वाले अपने पशुओं को भी दुःख को दूर करने के लिए कुछ उठा न रखें। सोचा जाय तो ऐसा करने में वह पशुओं के ऊपर कोई एहसान नहीं करेगा, यह उसका धर्म है क्योकि मनुष्य ने ही प्रकृति की गोदी से छीनकर अपने काम के लिये अपने घर में बाँध रखा है। जंगली पशुओं की दवा करने कौन जाता है? प्रकृति माता स्वयं उनकी देखभाल करती है।

अतः यदि मनुष्य प्रकृति माता के इन पशुओं के दुःख सुख कर परवाह नही क़रता तो यह उसकी कृतध्यता है और वह प्रकृति देवी का कोप भाजन बनकर दण्ड का भागी होगा।

हमारे शास्त्रों में कहा हुआ है कि जब तक रोगिणी भयभीत(चकित) बाघ अथवा चोर आदि से सताई हुई ऊँचे स्थान से गिरी हुई दल दल से फँसी हुई सर्दी गर्मी से पीड़ित अन्य किसी प्रकार से दुखित गौ का उद्धार न कर लें तब तक आर्य सन्तान कोई दूसरा कार्य न करें। यथा -

आतुरां मार्गत्रस्तां का व चौरव्याघ्रादिभिर्भयैः।
पतितां पङ्कलग्नां वा सर्वोपायै विमोचयेत्।।
ऊष्मे वर्षति शीते वा मारुते वाति वा भृशम्।

न कुर्वीतात्मनस्त्राणं गोरकृत्वा तु शक्तितः।।

तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार अपने किसी घर वाले को खाँसी, बुखार हो जाने पर हम वैद्य के पास दौड़ने लगते हैं, उसी प्रकार अपनी चालित पशुओं के रोगों को दूर करने के लिए भी हमें सचेष्ट होना चाहिए।

पशुओं की रोगावस्था में पशुशाला का प्रबन्ध :-

किसी पशु के रोग ग्रस्त हो जाने पर उसे पशु शाला से हटा कर किसी अलग स्थान पर रखना चाहिए। इस प्रकार दूसरे निरोग पशुओं की रक्षा होगी। यदि छूत की बीमारी न हो तो भी रोगी पशु को अलग हटा देना चाहिए, क्योकि प्रेम,द्वेष तथा सहानुभूति का भाव पशुओं में भी होता है। जब अन्य पशु अपने किसी साथी को दुःखी या उदास देखेगें तो वे भी उदास होकर खानापीना छोड़ सकते हैं। रोगी पशु का दाना,पानी दूसरे के पशुओं को दाना- पानी में न मिलने पायेरोगी पशु की देखभाल- रोगी पशु की देखभाल बड़ी सावधानी से करना चाहिए। उसको ऐसे स्थान पर रखना चाहिए जहाँ हवा और प्रकाश अच्छी तरह जाय। किन्तु पशु के ऊपर न हवा का झोका सीधा लगे न तो धूप लगे मक्खी - मच्छरों से बचाने के लिए गूगल गन्धक की धूप या साधारण धुआँ कर देना चाहिए। पशु को दवा आदि पिलाते समय उसके साथ बहुत जबर्दस्ती करके उसे अधिक कष्ट न दिया जाय। यदि पशु एक दिन से अधिक एक करवट पड़ा रहे तो उसे करवट बदलाने की चेष्टा करनी चाहिए। रोगी की पहचान एवं निदान जल्दवाजी में नहीं वरं ठीक से किसी चतुर ब्यक्ति या चिकित्सक से कराना चाहिए। अच्छे हो जाने पर उसे अन्य पशुओं के साथ मिलने में बहुत जल्दी करना ठीक नही। कोई तेज या जहरीली दवा लगानी होतो ध्यान रखना चाहिए कि इधर उधर न लग जाय। मालिक को ऐसे पशु नौकरों के भरोसे पर ही न छोड़ कर स्वयं ही देखना चाहिए।

रोग होने के सामान्य कारण :-

1. चारादाना आवश्यकता से कम मिलना
2. खुरांक में आवश्यक पौष्टिक तत्वों का मेल न होना।
3. सड़ा गला दाना चारा खाना तथा गन्दा पानी पीना।
4. गन्दे स्थान अधिक सर्दी गर्मी और वर्षा से बचने का प्रबन्ध न होना।
5. छूत की बीमारियों से स्वस्थ्य पशुओं को बचाने के विषय में गोपालक की अनभिज्ञता।

रोगी पशु के लक्षण :-

1. दूध कम देना या न देना
2. उदास रहना
3. झुंड से अलग रखने की इच्छा
4. जुगली न करना
5. चारे दाने कात्याग
6. गोबर न करना या पतला करना
7. बार बार उठना बैठना
8. आँखों का लाल हो जाना
9. जल्दी-जल्दी साँस लेना
10. मुख सूखना तथा नांक से पानी गिरना स्वस्थ गाय बैल और भैस का तापमान 101 डिग्री से 104 डिग्री तक होता है, नाडी की गति प्रति मिनट 45 से 50 बार तक है सांस प्रति मिनट में 10 से 12 बार आती है इससे विपरीत होतो पशु को रोगी समझना चाहिए।

दवा की मात्रा-

रोगी पशुओ के लिए आगे जो दवाओ की मात्रा लिखी गयी है वह पूरे प्रौढ़ पशु के लिए है जिसका वजन लगभग 10 मन के बराबर हो। अवस्था तथा वजन के अनुसार इस मात्रा मे अन्तर पडेगा।

जंन्म से एक मास तक	1/16 मात्रा
2 मास से 4 मास तक	1/8 मात्रा
4 मास से 6मास तक	1/4 मात्रा
6 मास से 12 मास तक	1/3या 1/2 मात्रा
1 साल से दो साल तक	1/2 या 3/4 मात्रा
2 साल से ऊपर	पूरी मात्रा

एक रोग की कई - कई दवाइयां दी गयी है उनमें से कोई एक करनी चाहिए। एक लाभ न करे तो दूसरे का प्रयोग करना चाहिए

छोटे बच्चों के रोग और उनकी चिकित्सा -

मनुष्य के बच्चो की भाँति गाय भैस के बच्चे भी मिट्टी चाटने मे बडे हातिम होते हैं। कभी वे इतनी मिट्टी चाट जाते है कि वह उनके पेट में सड जाती है और कीडे पड जाते हैं। कीडे पडते ही प्रायः बच्चा निर्बल होकर मर जाता है। पहली रोक तो यह है कि बच्चो के मुख

में मुसका (जाली) चढा दे, जिससे वे मिट्टी न चाट सकें और यदि कीडे पड गये हो तो आधा छटाँक कबीला पीसकर आध पाव देने से लाभ होता है। कभी- कभी बच्चों के पेट में दूध जम जाता है जिससे पाचन शक्ति मारी जाती है। इस रोग में मट्ठा एक पाव सरसों का तेल आध पाव तथा नमक आधी छटाँक मिलाकर बच्चो को पिलाना चाहिए। इसमें एक छटाँक अमकली को पानी में भिगोकर और आधपाव सरसो के तेल में मिलाकर देना भी लाभकारी है। यदि सड़ा गला- चारा खा लेने से अथवा गर्म और गन्दा पानी पी लेने से बच्चे को पेचिस हो गयी हो और गोबर के साथ खून आता हो तो आध पाव लिसोढ़ा के पत्तो को पानी में पीस कर छानकर पिलाना चाहिए अथवा आधी छटाँक ईसबगोल एक छटांक आँवलें के पानी में देने से बहुत लाभ होता है।

जब बच्चे को खाँसी हो जाय तो केले के सूखे पत्तो की राख बनालें और इस राख को आधी छटाँक घी में मिलाकर एक पाव कच्चे दूध के साथ बच्चे को पीलाना चाहिए।

मूत्र के साथ खून आने पर कलमी शोरा चौथाई छटाँक से आधी छटाँक तक एक पाव कच्चे दूध और इतने ही पानी के साथ पिला देना चाहिए।

पेट में दर्द हो तो चौथाई से आधी छटाँक तक पीने का तमाकू पीने में घोल छानकर पिलाना ठीक है।

खुजली की भयंकर बीमारी भी बच्चे को प्रायः हो जाती है इसके लिये निम्न लिखित पाँच प्रकार की दवाईयाँ है-

1. छटाँक भर लहसुन को आध पाव चने या जौ के आटे में मिलाकर पाँच दिन तक खिलायें।
2. सूखे नीम के पत्तों का चूरा नमक में डालकर चने या जौ के आटे के साथ मिलाकर देना चाहिए।
3. मसूर की दाल, सुपारी दोनो को जलाकर इनकी राख को नीम के तेल में डालकर शरीर में लेप करें।
4. पीली सरसों को कपड़े धोने वाले साबुन में मिलाकर शरीर में लेप कर दें। और 4-6 घन्टे पीछे फिनायल के पानी के साथ नहला देना चाहिए।
5. एक पाव कडुवे तेल में एक छटाँक गन्धक मिलाकर रस लें और शरीर पर लेप करते रहें।

यदि बच्चे के मसूढ़े फूल गये हों और उनमें घाव हो गये हों तो उन्हे मॉसे अलग करके नीचे लिखी दवा करनी चाहिए।

एक पाव घी और एक पाव एटसम साल्ट मिलाकर पिलाना चाहिए। घी न मिल सके तो कोई दूसरी जुलाब की दवा दे देनी चाहिए। बच्चे के मुंह को फिटकरी के पानी से भली भाँति दिन में चार बार धोना चाहिए।

रोग साधरणतः तीन प्रकार के होते है-

1. छूत वाले
2. बिना छूत वाले साधारण और
3. शरीर के ऊपर के साधारण रोग

छूत के रोग :-

छूत वाले बडे भयकर और बडी जल्दी फैलने वाले होते हैं। इनसे अपने पशुओं की सदा रक्षा करते रहना चाहिए। इन रोगो से पशुओं को बचाने के लिए नीचे लिखे उपाय करना चाहिए-

1. जिस इलाके में छूत की बीमारी हो गयी हो वहाँ अपने पशु न जाने दें। न वहाँ के पशु अपने गाँव में आने दे।
2. अपने पशुओं की देखभाल ठीक से करें तथा उन्हे सड़ा गला चारा-दाना न खिलायें।
3. जहाँ सब पशु पानी पीते हों उस तालाब या नदी में पानी न पिलाकर अपने पशुओं को कुँए से पानी खींचकर पिलायें।
4. छूत की बीमारी से मरे हुए पशु को गाड़ देना चाहिए।
5. पशु- डाक्टर से अपने पशुओं को टीका लगवा लें।

१- माता -(RIDNERPEST)

इसके कई नाम है, पर इसका मुख्य लक्षण है- आँखो से पानी और मुंह से लार गिरना,शरीर कांपना,कमर का टेढ़ी हो जाना, मुंह में छाले पडना और अत्यन्त बदबूदार पतला गोबर होना तथा उसमें कुछ खून आना।

इसकी सर्वश्रेष्ठ दवा टीका लगवाना है। अच्छे जानवरों को 'गोट वाइरस आर सीरम साइमल्टेनियस मेथड से रिडरपेस्ट का टीका लगवा देने पर फिर यह बीमारी नहीं आती। रोग हो गया हो तो उसकी दवाइयाँ ये है-

1. रात को मिट्टी के बर्तन में एक पाव आंवला भिगोकर सबेरे छान लें ,फिर उस पानी में एक पाव दही एक छटाँक ईसबगोल और आधा पाव शक्कर डालकर दिन में दो बार खिलावें । आँवला न मिले तो धनियाँ का पानी काम लायैं
2. बांसी घास के बीज 1 सेर बारीक पिसवाकर रख लें और आधा पाव सबेरे तथा आधा पाव शाम को दही या मट्ठा के साथ देने से बड़ा लाभ होता है।

२- जहरी बुखार अथवा गडी का सूत-(ANTHARY)

यह रोग रक्त के विकार से होता है पशु की बेचैनी होती है आंखे बाहर निकल सी पड़ती हैं,ज्वर बहुत हो जाता है और गोबर वाले रक्त से सना हुआ होता है। रोग होने पर पशु चिकित्सक को शीघ्र बुलाना चाहिए।

1- तारपीन का तेल आधी छटाँक

2- फिनायल आधी छटाँक

3- अलसी का तेल,आधी छटाँक

4- गरम पानी आधा सेर

३- गला घोंटू-(haemorrhagic septicaemia)

यह रोग क्या है मानो मृत्यु की सूचना है इससे गले में सूजन हो जाती है और पशु का गला घुटने लगता है। प्रायः यह आश्विन के महीने में होता है। यह रोग रक्त दोष से होता है। नाक - मुँह से लार टपकती है। मुंह में दुर्गन्ध और जीभ पर घाव हो जाता है। गोबर-मूत्र बन्द हो जाता है। इसकी दो तीन दवाइयाँ है सम्भव है लाभ कर जायँ।

1. दो सेर,घी एक सेर एप्सम साल्ट,एक पाव ,काली मिर्च और एक पाव काला जीरा मिलाकर पिला दें।
2. जमाल गोटे का तेल 30 बूंद, मीठा तेल 5 छटाँक और अलसी का तेल 5 छटाँक पिलायें तथा फिटकरी के पानी से मुंह धोयें।
3. गन्धक का चूर्ण 2 तोले तथा सोंठ का चूर्ण 1 तोला आधा सेर भात के या तीसी के मांड़ के साथ मिलकार खिलाना चाहिए। इससे दस्त रोग मिट जाता है।

४- फेफड़े का बुखार या छूत का निमोनिया-(CANTAGIOYS PLEURO PNEUMONIA)

यह रोग रोगी पशु से छू जाने ,उसके फोड़ा-फुंसी की मवाद लगने या उसके मुंह के सामने सांस लेने से होता है। इससे फेफड़े पर असर होता है। पशु की भूख कम हो जाती है,दूध घट जाता है,हल्का ज्वर सदा बना रहता है। धीरे-धीरे पशु असक्त होकर पैर पीटने लगता है।

बुखार की दवा ही इसमें देनी चाहिए। नीम, सफेदा,मरुआ के पत्ते या तारपीन का तेल पानी में ड़ालकर उबालिये और उसकी भाप में प़शु को सांस लेने दीजिए। 1 हिस्सा तारपीन का तेल 10 हिस्सा तिल के तेल में मिलाकार छाती में मालिश करनी चाहिए।

ऐसे रोगी पशु का दूध नही पीना चाहिये। बहुत लाचारी हो तो खूब ऊबाल लेना चाहिए।

५- खुर तथा मुंह का पकना -(FOOT AND MUTH DISESASE)

इस रोग में पशु के मुँह तथा खुर में घाव हो जाते हैं , जिससे पशु चारा पानी छोड़ देता है और निर्बल हो जाता है। यह रोग हवा के द्वारा भी फैलता है। एक पशु के होते ही बहुतों को हो जाता है। ऐसी स्थिति में निम्नलिखित उपायों से लाभ होता है-

1. अमकली आधा पाव, कटेली पीली का फूल 1 छटाँक- इन दोनो को औटाकर काढ़ा बनाकर पिलायें।
2. पुराना गुड़ 1 सेर तथा सौंफ 1 पाव 1 सेर पानी में औटाकर पिलायें।
3. आधा सेर एप्सम साल्ट गर्म पानी में डालकर पिलाना चाहिये।

उपर्युक्त दस्तावर दवाइयाँ पेट साफ करने के लिए हैं। इसके बाद और भी दवा करनी चाहिए-

(1) आंवले के पानी,बबूल की छाल-उबले हुए पानी,फिट्करी या सुहागे के पानी अथवा तूतिया के पानी से मुंह और पैर धोयें। आँवले का पानी पिलायें। नीम का तेल या कोलतार पैरों के घाव पर लगायें।

(2) खड़िया मिट्टी 2 छटाँक,कोयला आधी छटाँक,फिट्करी आधी छटाँक,तूतिया(नीला थोथा) चौथाई छटाँक इसके चूरन को घाव पर भुरभुराना चाहिये।

(3) कपूर,तारपीन का तेल,नीला थोथा और पत्थर का कोयला मिलाकर घाव पर लगाना चाहिये।

(4) बेर के पत्तो का उबालकर उस जल से खुरों को धोना चाहिये। खाने के लिये सूखी घास,चोकर या सहज पचने वाली चीज देनी चाहिये।

६- छूत से गर्भ गिरना -(CONTAGIOUS ABORTION)

समय से पहले गाय-भैसों का बच्चा फेंक देना साधारण बात है,किन्तु यह भयानक रोग है। आगे चलकर यह अन्य पशुओं में फैल जाता है। तेज भागने से ,छलांग मारने से ,मर्मस्थल पर चोंट लग जाने से ,तोप के शब्द से तथा किसी विषैली चीज खाने से गर्भपात हो जाता है।

सबसे पहले गिरे हुए बच्चे को अलग कर देना चाहिये मरा बच्चा हो तो दूर गढ्ढ़े में दबा देना चाहिये। गरम पानी में पोटाश,फिनायल अथवा नीम के पत्ते डालकर पशु के गर्भ स्थान को पिचकारी से धोना चाहिए। 8 बूंद कार्बोनिक एसिड़ गरम पानी में डालकर पशु को पिलाना चाहिये। पीने को गरम पानी दें। पशु को एक महीने तक सांड के पास न जाने दीजिये। गर्भ पात के साथ पशु ने जेर न फेका हो तो निम्नलिखित दवाओं से उसे अवश्य निकालने का प्रयत्न करना चाहिये-

1. पुराना गुड़ या साफ शीरा 2 सेर,अजवाइन 2 छटाँक, सोंठ2 छटाँक पीपल 1 छटाक और पीपलामूल आधी छटाँक-सबका काढ़ा बनाकर गर्मी में केवलरात को और सर्दी में दो बार देना चाहिये।
2. एक सेर मिश्री के टुकड़े-टुकड़े करके गाय को खिला दें इसके पीछे बहुत सा पानी पिलाने से जेर अवश्य निकल जाता है ।
3. दो सेर छिलके सहित धान खिलाने से भी जेर गिर जाता है ।
4. दो सेर तिल खिलना भी लाभदायक है।

खूनी पेशाब-(RED WATER)

यह रोग कीटाणुओं द्वारा खून में विकार पैदा हाने से होता है । बीमार पशु को काटकर मच्छर जब अच्छे पशुओं को काटता है तब उसे भी हो जाता है। पशु को तेज बुखार हो जाता है, आंखे पीली पड़ जाती है और पेशाब में खून आता है। इस रोग में एक नीली दवा का जिसे 'ट्रिपन' कहते है- इंजेक्शन दिया जाता है।

८. दूध का ज्वरः-

आँखे चढ़ जाती है, वह खड़ा नही रह सकता है,पैर पेट के नीचे सिकोड़ लेता है और सिर एक ओर मोड़ लेता है। गर्दन सीधी करने पर फिर वैसा ही कर लेता है। थन सूज जाते हैं और पशु घबराता है।

रस कपूर की उडद के बराबर डली केले को चीर कर उसके बीच में रख दे और पशु को खिला दें। थोडे कपूर युक्त और सादे तेल की मालिश करनी चाहिये।.

९-माता या चेचक (COW POX)

यह रोग मनुष्यों की भांति पशुओं के लिये उतना कष्टप्रद नहीं है,फिर भी सावधान रहना चाहिये; क्योकि रोग ही है। इस रोग में शरीर में दर्द होता है गाय सोना चाहती है कुछ खाती नहीं,उसे निगलने में कष्ट होता है। कभी-कभी पेशाब और गोबर रुक जाता है। थन या शरीर पर छोटी-छोटी फुसिंया निकलती है और 10-15 दिन बाद सूख जाती हैं।ऐसे पशुओं को अलग रखकर उसको खाना पीना देना या दुहना सफाई के साथ करना चाहिये। पशु को कोई जुलाब की दवा या 1 सेर एप्सम साल्ट गरम पानी में मिलाकर पिला देना चाहिये। ऐसी गाय का दूध निकाल कर फेक देना चाहिये। या खूब उबाल कर दही,घी, बनाकर काम में लाना चाहिये।

माता पकने से ही पहले सेमल रुई के बीज खिला देने से बड़ा लाभ होता है। पहले दिन तीनबार में 50(25,18,7,) दूसरे दिन दो बार में 25(15,10) और तीसरे दिन एक बार केवल 10। बहुत कमजोर पशु हो या छोटी उम्र हो तो कम खिलाना चाहिये।

१० गज चर्म- (MENGE)

यह एक प्रकार की भयंकर खुजली है जो पहले पूँछ पर होती है,फिर धीरे- धीरे सारे शरीर में फैल जाती है। पशु खुजलाते ,खुजलाते घाव कर लेता है,चमड़ी मोटी पड़ जाती है।

जहाँ पर खाज पर खाज हो वहाँ के बाल काट कर गरम पानी और साबुन से साफ कर देना चाहिए फिर गोबर और सरसों का तेल मिलाकर तथा पशु को धूप में खडा करके 10-15 मिनट तक मालिश करनी चाहिए। एक भाग घी या तिल का तेल 8 भाग और नीम का तेल में चौथई भाग गन्धक को महीन पीसकर सब चीजें मिला लीजिय और आग में भलीभांति गरम मालिश कीजिये।

खाने का नमक 1 छटाँक महीन पीसी हुई गन्धक आधा तोला आधा सेर पानी में घोल कर पिला देना चाहिये या रोटी में रख कर खिला देना चाहिये।

खुजली और दाद भी ऐसे रोग हैं, पर गज चर्म से कम भयंकर है। इनकी दवा भी प्रायः वही है।

११. कीडों में दुंबल या मनिया फूटना -(WARBLE FLIÈ)

जिन पशुओं को खरहरा नहीं होता या मल-मलकर जो नहलाये नहीं जाते, उनको यह रोग हो जाता है वर्ष के अन्त में इस रोग के कीडे शरीर पर आ जाते है और गर्मी के आरम्भ में अच्छी तरह बन्दहो जाते हैं। इस रोग से पशु को कोई विशेष कष्ट तो नहीं होता किन्तु उसकी खाल रद्दी हो जाती है। अतः इस रोग से पशु की रक्षा करनी चाहिये।

चूने और तम्बाकू के गर्म पानी से पहले पीडित स्थान को धो देना चाहिये एक पाव महीन पीसी हुई तमाकू खूब मिला कर घोल देना चाहिये। 24 घन्टे रखने के बाद पतले कपडे से छान लेना चाहिये कि दवा छेदो के भीतर पहुँच जाय। यह दवा तैयार न हो तो नीम का तेल लगाना चाहिये । 2 तोला खारी नमक और आधा तोला गन्धक एक पाव गुनगने पानी में घोलकर पशु को एक सप्ताह तक पिलाना चाहिए। कब्ज करने वाली खुराक कम देनी चाहिये।

१२ -जूँ-(LICE)

यह रोग भी स्पर्श मात्र से एक पशु से दूसरे पशु को लग जाता है,किन्तु यह उतना हानिकारक नहीं होता। यह प्रायः बच्चों को होता है । 1 भाग तमाकू और 2 भाग हांथ मुंह धोने का साबुन 40 भाग पानी में डालकर उबाल लें फिर ठंडा हो जाने पर 1 भाग मिट्टी का तेल मिला कर मालिश करें।

थन, पूँछ,कान तथा अन्य स्थानों में किलनी चिपट जाने से पशु को बड़ा कष्ट होता है और उसका दूध कम हो जाता है पशुओं को किलनियों के कष्ट से बचाना आवश्यक है।

1. भाग नीला थोथा 2 भाग गन्धक या वैसलीन या कड़ुवा तेल 8 भाग मिलाकर लगाने से किलनी मर जाती है।
2. नमक 4 भाग ,मिट्टी का तैल 1 भाग और कड़ुवा तेल 4 भाग मिलकार लगाने से भी किलनियों का नाश होता है।

बिना छूत के साधारण रोग :-

यद्यपि बिना छूत के रोग उतने भयंकर नहीं होते जितने कि छूत वाले ,फिर भी इनमे से कोई - कोई ऐसा हो जाता है,जो आगे चलकर बढ़ जाता है और पशु को उससे बचाना कठिन हो जाता है। रोग के समय दवा की अपेक्षा पशु के रहन सहन तथा खाने पीने की सुन्दर ब्यवस्था होना चाहिये। दवा तो केवल रोग के थामने अथवा पशु को असली हालत में जल्दी लाने में सहायक मात्र है,वास्तव में उचित देखभाल से ही अधिकांश रोग नष्ट हो जाते है पशु के रहने का साफ रखना, उसे हल्का सहज में पच जाने वाला और स्वादिष्ट भोजन कुंए का स्वच्छ जल पीने को देना एवं उसे अलग रख कर अधिक सर्दी गर्मी से बचना ही उसकी देखभाल करना है यह जानवर है इसका रोग यो ही अच्छा हो जायेगा -ऐसा न सोंचकर उसके रोग की उचित चिकित्सा करनी चाहिये।

१. अपच

कभी सर्दी गर्मी लगने से या कम ज्यादा खा लेने से पशु को अपज हो जाता है। ऐसी दशा मे पशु पूरा खाना नही खाता ठीक से जुगाली नही करता और सुस्त रहता है। ऐसी स्थिति मे

खारा नमक आध सेर और दो तोला सोठ को कूट पीसकर आध सेर गुनगुने पानी मे घोलकर पिला देना चाहिए इससे दस्त होने लगेंगे। दस्त न हो तो आधी खुराक फिर देनी चाहिए। दस्त होने के अगले दिन से सोंठ 1 तोला, राई 1 तोला, अजवाइन 2 तोला, सेंधा या सांभर नमक सवा तोला कूट पीसकर पाव भर गरम पानी के साथ कुछ दिन सुबह शाम पिलाना चाहिए । यह दवा पिलाने के दो घण्टे बाद तक पशु को पानी नही पिलाना चाहिए।

२.अफरा या पेट फूलना :-

यह रोग अधिक चरने या बहुत चारा दाना खा जाने से होता है। पशु का पेट फूलकर ढोलकी तरह हो जाता है।.बायी ओर सूंजन हो जाती है। इसमें नीचे लिखी कोई दवा पिलानी चाहिए-

1-आध सेर एप्सम साल्ट या 1 सेर नमक सरसो या रेडी के तेल मे मिलाकर

2- आम का अचार आध पाव और उसका तेल आध पाव

3- गाजर की कांजी एक सेर

4- आध पाव राई पीसकर गरम पानी के साथ

5- सोठ 1 छटाँक, हींग 4 माशे काला नमक 1 छटाँक लाहौरी नमक 1 छटाँक, सोचल नमक 1 छटाँक- सबको पीसकर गरम पानी के साथ

३- पेट मे कीडें पड जाना-(TAPE WORMS)

कभी -कभी पशुओ के पेट मे केंचुए (कीडें) पड जाते है। जिससेवह दुर्बल हो जाता है ये कीडे गोबर के साथ निकलते है। गोबरमे कीडें दिख पडें तो इस प्रकार से दवा करनी चाहिए ।

1- सुपारी या चूर्ण 4 तोला 1 सेर दूध मे मिलाकर दिन मे दो बार 3 दिन तक दीजिये ।

2- आधी छटाँक तारपीन का तेल और आध सेर अलसी का तेल हर आठवें दिन महीने भर तक पिलाइये।

४. पेचिस या आँव पडना- (DYSENTERY)

जब पशु बार - बार रक्त तथा आँव मिला हुआ गोबर करें, तब समझना चाहिए की उसे पेचिस का रोग हो गया है। इसमे पहले आधा सेर एप्सम साल्ट गरम पानी के साथ दे, या सरसों, रेडी, अलसी या तिल मे से किसी एक का आध सेर तेल 1 छटाँक सौफ के साथ पिला दे, फिर 1 छटाँक बेलगिरी और एक छटाँक ईसबगोल के छिलके को 1 सेर चावल के मॉड मे मिलाकर पिलाना चाहिए या सूखा ऑवला 2 तोला सोंठ 1 तोला और शक्कर या बतासा 2 तोला आध सेर पानी मे पीस छानकर दे अथवा जस्ता दो आना भर भात के गाढे माँड के साथ दिन मे दो बार दे। बछडे बछडी के लिए खडिया मिट्टी सवा तोला, अफीम दो आना भर और रेवाचीनी 12 आना भर चूर्ण करके तीसी के माँड के साथ देना चाहिए ।

५- पेट चलना या दस्त लगना -(DIARRHOEA)

इस रोग वाला पशु पतला गोबर करता है। यह अर्जीण का चिह्न है। जल्दी दवा न करने से रोग बढ जाता है और पशु मर जाता है। इसके बचाव के लिए

1. आधी छटाँक पीसा हुआ काला नमक और 1 तोला हीरा कसीस मिलाकर जौ आटे मे चार दिन तक देना गुणकारी है।

2. सौफ 1 तोला, अजवाइन 1 तोला, इलाइची बडी 1 तोला तथा चिरायता 3 ताला कूट्कर आधा सेर जौके आटे मे चार दिन तक खिलाये ।
3. चार आने भर पीसा हुआ नीला थोथा आध सेर गरम पानी मे घोलकर पिलाना चाहिए
4. एक छटाँक सूखा या हरा बेल का का गूदा तथा खडिया मिट्टी सवा तोला आध सेर गौ के मट्ठे मे मिलाकर सबेरे शाम पिलाइये ।
5. कत्था आधी छटाँक, ईसबगोल एक छटाँक खडिया मिट्टी 1 छटाँक अफीम दो माशा, बेलगिरी 1 छटाँक और रसौत दो माशे इन सबको कूटपीसकर दिन मे दो बार देना चाहिए ।
6. पलास की गोंद सवा तोला, चिरायता पौन तोला, खडिया मिट्टी 6 आना, भर अफीम 1 आना भर भाँत माँड के साथ खिलाना चाहिए।

६. गले में कुछ अटकना -(THROAT CHOKING)

कभी- कभी कोई कडी या गोल चीज पशु के गले में अटक जाती है। जिससे पशु खाना पीना छोड देता है। उसका गला घुटने लगता है। यदि शीघ्र ही अटकी हुई चीज निकालने का प्रयत्न न किया जाये तो पशु की मृत्यु हो सकती है।

इसके लिए - पहले मुँह मे हाथ में डालकर चीज बाहर निकालने की चेष्टा करनी चाहिए । बाहर न निकले तो लम्बी पतली व चिकनी लकडी से धक्का देकर उसे भीतर ठेल देनी चाहिए। गले में वैसलीन या तेल की मालिश करे आधा सेर कडुवा तेल पशु को पिला दे या थोडे तिल के तेल में थोडा सुहागा मिलाकर देना चाहिए ।

७. पित्ती उछालना :-

मनुष्यो कि भाँति पशुओं को भी कभी - कभी पित्ती उछल आती है। शरीर में बडे बडे चकते पड जाते है। और खाज होने लगती है। ऐसे पशु को जुलाब की दवाई देकर कम्बल या झूल उढा देना चाहिए फिर नीचे लिखे में से कोई एक दवा पिलानी चाहिए ।

1. आध पाव गेरू आध पाव शहद पाव भर गरम पानी के साथ पिलायैं
2. नीम के पत्ते तीन तोला अडूसा (बासा) के पत्ते 3 तोला, शीशम के पत्ते 3 तोला - इन सबको आध सेर पानी में उबाल लो, जब डेढ पाव रह जाय तो तब ठंडा करके पिला दे।

८. खाँसी - (BRONCHITIS)

पशुओं के समस्त रोगो में यह सबसे बुरा रोग है। इस रोग के बढ जाने से गाभिन पशु कभी - कभी बच्चा फेंक देता है। इस रोग की चिकित्सा तुरन्त करनी चाहिए -

1. नौसादर, सोठ तथा अजवाइन एक- एक तोला लेकर पाव भर गरम पानी के साथ पिलाना चाहिए।
2. एक छटाँक नमक की डली लेकर कुछ आक के पत्ते में लपेटकर रात में भून लीजिये। सवेरे नमक को पाव भर गरम पानी के साथ लगातार 3 दिन तक पिलाये।
3. एक छटाँक सूखे अनार के के छिलके को पीसकर एक छटाँक मक्खन के साथ खिलाइये।
4. केले के सूखे पत्तो की राख 2 तोला, मक्खन 4 तोला, तथा कच्चा दूध 10 तोला 3 दिन तक दीजिये।
5. आध सेर अलसी के तेल के साथ 1 तोला तारपीन का तेल पिलाना भी लाभदायक है।
6. कपूर छः माशा , कलमी शोरा 1 तोला, अजवाइन 2 तोला सोठ 2 तोला, नौसादर एक तोला, अलसी पीसी हुई 1 छटाँक इन सबको कूट पीसकर गुड के साथ दिन में तीन बार खिलाना चाहिए ।

9. निमोनिया- (PNEUMONIA)

बहुधा यह रोग शीतकाल में होता है। सर्दी लग जाने से पशु को ज्वर आ जाता है।नाक से पानी बहता है और खाँसी भी कुछ आने लगती है। इस स्थिति में पशु को गरम स्थान में रखना चाहिए और पीठ पर कम्बल या झूल डाल देना चाहिए

१०. पेशाब में खून आना :-

यह बीमारी चोट लगने या अधिक गर्मी से यह रोग हो जाता है। इस रोग में बबूल के पत्ते 6 छँटाक और हल्दी 2 तोला पीसकर सुबह-शाम पिलायें अथवा आध सेर दूध में बारीक पीसी हुई फिटकरी 1 तोला मिलाकर कई दिन तक पिलायें।

११. पेशाब न होना :-

यह रोग पुट्ठे की कमजोरी या पथरी हो जाने से होता है। सूखा चारा खिलाने और कम पानी पिलाने के कारण भी हो जाता है। इसमें शोरा 1 तोला, धनिया 2 तोला और कपूर 2 मासा घोटकर-पीसकर ठण्डे पानी में घोलकर पिलाना चाहिए। नीम के पत्ते उबालकर और नमक मिलाकर मूत्र स्थान पर लगाइये।

१२. पेशाब टपकते रहना :-

यह रोग भी प्रायः पथरी हो जाने से होता है। अतः पशुओं के डाक्टर से आपरेशन द्वारा पथरी निकलवा डालनी चाहिए। दवा नीचे लिखी है -

1. मक्का की बाल 2 छँटाक तथा कालीमिर्च एक तोला पीसकर सबेरे-शाम पिलाइये।

2. मक्का की बाल न मिले तो खरबूजे के छिलके एक पाव एक तोला कालीमिर्च के साथ पीसकर पिलाइये।

१३. फोतों का सूजना :-

कभी चोट से कभी वादी से या कभी इस रोग के कीटाणुओं से फोते सूज जाते हैं। पशु को बड़ा कष्ट होता है, वह पिछले पैर फैलाकर चलता है। निम्न उपचार करने चाहिए -

1. गीले कपड़े से बार-बार ठंडा फोतों पर डालकर ठंडा पहुचाँये।
2. हल्दी, चूना, फिटकरी- सबको बारीक पीसकर कडुवा तेल में मिलाकर गरम कर लें और फोतों पर सुहाता हुआ लेप करें।
3. इमली के पत्ते और नमक पीसकर गरम कल रें और फोतों पर लगा दें।

यदि वादी से सूज गये हों तो रेडी का तेल 3 छँटाक और त्रिफला का पानी पाव भर मिलाकर पिलाइये तथा तमाकू के पत्ते गरम करके बांधिये।

१४. मिरगी : -

यह रोग प्रायः बच्चों को होता है या किसी कारण से सिर की ओर रक्त का बहाव हो जाने से बड़े पशुओं को भी हो जाता है। पशु सहसा कांपने लगता है, गिर जाता है, नेत्र लाल हो जाते हैं इसके लिए -

रोगी को दिन में चार बार स्नान कराना चाहिए।

1. बबूल और बेर के आध-आध पाव कोमल पत्ते पीसकर आध सेर ठण्डे पानी में पीसकर पिलाइये।
2. ढाक के बीज एक तोला, अनार की छाल एक तोला, सौंफ एक तोला, अमलतास 1 तोला- इन सबको आधा सेर पानी में पकायें जब पानी पाव भर रह जाय तब गुनगुना पानी पिला देना चाहिए। इसके बाद मीठा सरसो या अलसी का आधा सेर तेल तथा आधी छँटाक तारपीन का तल पिलायें। बेहोशी की दशा में रीठे का छिलका पीसकर सुँघावे या कंडे की राख में आक का दूध मिलाकर सुँघाये।

१५. ज्वर :-

खाने-पीने की गड़बड़ी से, मौसम बदलने से या मच्छर काटने से पशु को ज्वर हो जाता है। इसमें निम्न उपचार करें -

1. 225 ग्राम एप्सम साल्ट में 4 ग्राम कुनैन मिलाकर गरम पानी में घोल लें फिर 4 ग्राम कपूर और 8 ग्राम शोरा मिलाकर दिन में 3 बार पिलायें।
2. गोमा घास के फूल एक छँटाक और कालीमिर्च एक तोला आधा सेर पानी में गरम करके पिलायें।

3. शोरा सवा तोला, नमक ढ़ाई तोला तथा चिरायता ढ़ाइ तोला आधा पाव राब या गुड़ में मिलाकर खिला दीजिए।

१६. बिल्ल या सफेद झाग वाला कीड़ा :-

घास में एक प्रकार का कीड़ा होता है, जिसको खा जाने से पशु का शरीर अकड़ जाता है हाथ-पाव न हिलाकर वह चुपचाप खड़ा रहता है। ऐसी दशा में उसे आराम से पड़े रहने देना चाहिए। उसके ऊपर कम्बल डालकर ऊपर छाया भी कर देनी चाहिए। इसके लिए निम्न उपचार का प्रयोग कर सकते हैं।

1. एक सेर प्याज खिलाकर थोडी देर के लिए मुंह बांध दीजिये ।
2. आध पाव सज्जी पानी में घोलकर पिलाइये ।
3. एक तोला पिसी हुई काली मिर्च पाव भर घी में मिलाकर और गरम करके पिला दीजिये

१७- ताव या घामडा - (SUNSTROKE)

,कडी गरमी में लू लगने से या धूप में अधिक समय तक काम करने से यह रोग हो जाता है। पशु छाया या पानी में बार - बार बैठता है। कम खाता है और दुबला होता जाता है इसके लिए निम्न उपचार है

1. कच्चे आम का पना शवेरे शाम पिलाइये।
2. पाव भर सफेद तिल रात को भिगो दीजिये और सवेरे पीसकर सात दिन तक पिलाइये।
3. शीतकाल में यह रोग हुआ हो तो पुरानी मूँज 1 पाव काट्कर उसे एक सेर गुड में डालकर उसे अच्छी तरह औटाना चाहिए और दिन में दो बार 4 दिन तक देना चाहिए या पशु को पूँछ में थोडा नश्तर लगाकर 2 स्त्री अफीम भर दे और पट्टी बांध दे।
4. यदि ग्रीष्म ऋतु हो तो आध सेर मसूर की दाल उबालकर और 4 तोला नमक डालकर 4 दिन तक खिलाये।
5. शीशम, लिसोडा, और बबूल - तीनो को आध आध पाव पत्तिया लेकर 24 घण्टें पानी में पडी रहने दें फिर निकालकर आध पाव सूखे आँवले और एक पाव कच्ची खाँड डालकर पिला दे।
6. पशु की सांस तेज चलती हो तो थोडी सी कपास कड़ुवे तेल में भिगोकर खिलाना लाभदायक है ।

१८- विष खा जाना - (PIOSONING)

कभी - कभी कोई पशु चोर के साथ कोई घोर विषैला कीडा खा जाता है या दुष्ट मनुष्य विष खिला देते है ऐसी दशा में नीचे लिखी दवाइयाँ करनी चाहिए।

1- डेढ सेर घी में एक सेर एप्सम साल्ट मिलाकर पिलाना चाहिए ।

2- कोई जुलाब की दवा दे दनी चाहिए ।

3- एक सेर गरम दूध में आँधी छटाँक तारपीन का तेल अच्छी तरह मिलाकर पिलाइये और फिर केले की जड का रस एक पाव तथा एक तोला कपूर मिलाकर पिलाना चाहिए ।

१९- चरी द्वारा विष खा जाना-(CORN STALK)

वर्षा के दिनो में जब पानी पडना बन्द हो जाता है और चरी छोटी हो जाती है, तब उसमें एक प्रकार का विष उत्पन्न हो जाता है वही चरी खा लेने से पशु को विष चढ जाता है और तत्काल गिर पडता है। दांत जीभ काले पड जाते है। इस स्थिति में -

पशु को शीघ्र किसी नदी या तालाब में डाल दे। यह सम्भव न हो तो उसके ऊपर खूब पानी छोडे। गीली जगह से कीचड लेकर सारे शरीर में पोत दे । जुलाब की कोई औषधि दे।

1- आध सेर सब्जी 2 सेर पानी में घोलकर पिलाये।

2- एक सेर कडुवा तेल पिलाये या एक सेर चूल्हे की (लकडी की) राख पानी में घोलकर पिलाये।

3- आध सेर घी और दो सेर दूध पिलाये या आध पाव कत्था एक सेर ठंडे पानी में पिलाये

4- काली मिर्च एक तोला, हींग एक तोला , सोठ एक तोला, अजवाइन एक तोला, काला नमक 2 तोला, सबको महीन पीसकर आध सेर गुनगुने पानी में मिलाकर पिलाना चाहिए ।

२०- लकवा -(PARALYSIS)

इस रोग में पशु आधा या सारा अंग निर्जीव हो जाता है। उस स्थान पर सुई चुभाने से दर्द नही होता इसके लिये निम्न उपचारो को काम में लाना चाहिए ।

1- शरीर को गरम रखना और लकवा मारे हुए अंग पर कपूर तथा मीठे तेल की मालिश करना ।

2- कुचला 4 माशा, सोठ 6 माशा, हीरा कसीस 6 माशा, नमक आधी छटाँक, सबको कूट -पीसकर आध सेर गरम पानी में घोलकर पिलाइये ।

3- आधी छटाँक सरसो पीसकर पानी में लेप बना लीजिये और लकवे के स्थान पर लगाइये।

२१- गठिया जोड का दर्द (RHUMATISM)

सर्दी से वर्षा में भीगने से या रक्त - विकारं से यह रोग हो जाता है। पैरों के जोडों पर सूजन आ जाती है। इसमें निम्न उपचार का प्रयोग करना चाहिए ।

1- दो सेर सूखी या तीन सेर हरी गोमाबूटी (मलडोडा) को कतरकर 5 सेर पानी में औटाये, 1 सेर रह जाने पर बूटी निकालकर फेक दें । दो छटाँक पिसी हुई काली मिर्च और एक पाव काला नमक डालकर 7-8 दिन तक पिलाये।

2- एक सेर कडुई तरोई 5 सेर पानी में उबाले जब पानी एक सेर रह जाये तब उसे छानकर आधपाव काली मिर्च तथा पाव भर काला नमक डालकर दो भाग कर ले और सबेरे शाम पिलाये

3- एक सेर पिसी हुई मेथी में आध सेर गुड और एक छटाँक अजवाइन मिलाकर 15 दिन तक पिलाये ।

4- दो घुंघची (सोना तौलने वाली रत्ती) पीसकर आध सेर गुड में 4 दिन तक खिलाना चाहिए।

5- एक तोला कपूर, एक छटाँक तारपीन का तेल तथा एक पाव तिल का तेल को खूब मिलाकर मालिश करना चाहिए ।

6- एक पाव लहसुन कुचलकर आध सेर तिल के तेल में पकाये और फिर मालिश करे ।

२२ प्रसूत का ज्वर -

यह रोग प्रसूत के दुःख दर्द से बच्चो की उतरी हुई झिल्ली भीतर रहकर सड जाने से अथवा व्याते समय ग्वाले के मैले- कुचैले हाथ लगकर नाखूनो का विष चढने से हो जाता है इस स्थिति में पहले घी मिली हुई दस्तावर दवा देनी चाहिए । फिर ग्लिसरीन और जरा सा कार्बोलिक एसिड पानी में डालकर पिलाना चाहिए।

सोठ अलसी तथा काली मिर्च एक - एक तोला एवं नौसादर आधा तोला कूट पीसकर एक पाव गुड में खिलाइये।

पीने के लिये एक तोला कलमी शोरा मिलाकर गुनगुना पानी दीजिये ।

२३-थन सूजना-(UNDER INFLAMMATION)

कभी - कभी बच्चे के जोर से मुँह मार देने से, दूसरे पशु के सींग मार देने से या दूध का अत्यधिक जोर होने पर थन सूज कर कडे हो जाते है।इसमें

1-एक छटाँक कलमी शोरा आध सेर गरम पानी में मिलाकर तीन दिन तक पिलना चाहिए ।

2- नीम के पत्तो को उबले हुए पानी में सेंक करने के बाद गेरू और अजवाइन पानी मे मिलाकर पकाये और फिर लेप करे दे।

२४- योनि में कीडें पडना :-

नीम के पत्ते पानी में उबालकर उससे पिचकारी द्वारा धोइये, फिर तारपीन का तेल और मीठा तेल मिलाकर रूई के फाहे डुबोकर अन्दर कर दीजिये । इस प्रकार सबेरे शाम कई दिनो तक दवा लगानी चाहिए।

२५- बच्चेदानी का बाहर निकलना -

बुढापे या कमजोरी के कारण या जेर गिराते समय जोर लगने के कारण बच्चादानी बाहर निकल आती है। जब ऐसा अवसर आये, तब उसे फिटकिरी के पानी से अच्छी तरह धोकर भीतर दवा देनी चाहिए और उस स्थान पर एक मुसका चढा दे। साथ ही निम्न उपाय करे ।

1- आध पाव फिट्करी पानी में घोलकर पशु को पिलाये ।

2- एक पाव सूखा कतीरा गोद सबेरे शाम खिलाकर आधी छटाँक रसौत 2 सेर पानी में घोलकर पिलाये ।

3- आधा तोला सोठ और एक तोला काली मिर्च पाव भर गरम घी में मिलाकर 3-4 दिन तक पिलाये। बच्चे दानी को भीतर करके पशु को ऐसा खडा करे कि पिछला भाग ऊपर रहे ।

२६- साडू रोग -(GARGET OR MAMMITIS)

दूध वाले पशुओं के लिए यह बहुत बुरा रोग है। इसमें थन सूझ जाते है। पशु थनो में हाँथ नहीं लगवाने देता। यह रोग कुसमय पर बार बार - बार दूध निकालने से थनों में चोट लगने से गोबर करते समय पिछले पुट्ठों पर लाठी मारने से दुहते समय थन जोर से खीचने से या धान का छिलका खा जाने से होता है। इसमें -

1- रेंड़ी का तेल गरम करके थनों पर मलना चाहिए।

2-पोस्ता के एक डोड़े को या तीन नीम के पत्तों को शेर भर पानी में ड़ालकर भाप से सेंक करें।

3- आध सेर दही और पाव भर मीठा तेल तीन दिन तक शाम को देना चाहिए।

4-आध सेर सहजन की पत्ती घोट्कर एवं छान कर आधी छटाँक काली मिर्च और एक छटाँक नमक मिलाकर तीन दिन तक देना चाहिए।

5- आध सेर घी एक छटाँक काली मिर्च आधी पाव नीबू का रस तीन दिन तक पिलायें।

6- जाड़े की ऋतु होतो नमक तेल और अजवाइन ड़ालकर काँसी के बर्तन से पुट्ठों पर मालिस करें।

7-बीमारी अधिक बढ़ गयी हो तो एक सेर घी चार सेर गुड़ या शीरा आध सेर काला जीरा तथा आध सेर काली मिर्च ड़ालकर पिलाना चाहिये।

8- दूध निकाल कर फेक देना चाहिये। पीब पड़ गयी हो तो चिरवाना ठीक है।

२७- मुँहसड़ी या अँगियारी-

यह भी थनों का रोग है और इसके भी वे ही कारण है जो साडू रोग के हैं। मन के स्रोत के ऊपर एक छोटी पीली सी पपड़ी जम जाती है और फिर फुंसी की तरह हो जाती है। इसके लिये -

1-रेंड़ी के तेल में थोड़ा नमक ड़ालकर गर्म करें और दिन में चार पाँच बार मालिस करें।

2- नीम के पत्ते गरम भांप से सेंके।

3- एक सेर पानी में एक पाव कत्था घोलकर छान कर पिलाना चाहिए।

२८- चन्द्री-

यह बहुत बुरा और हानिकारक रोग है पहले थन के ऊपर एक छोटी सी एक गिल्टी होती है। फिर थन सूजकर उसमें पीब पड़ जाती है। गिल्टी फूटकर थन में छेद हो जाय तो निम्न दवाईयाँ भर देना चाहिए।

1- आक का दूध, साँप की केंचुल और लहसुन इनको बराबर पीस कर घाव के ऊपर लगा दें और सावधानी से पट्टी बाँध दें।

2- नीम की कोपलों को पीस कर एक टिकिया बनायें, उसे गाय के घी में लाल करें। फिर टिकिया फेक कर उस घी को घाव में दिन में चार- पाँच बार लगायें।

२९- थन का मारा जाना-(BLIND TEATS)

थन की किसी बीमारी से थन मारा जाता है और दूध नहीं निकलता, यह रोग तो असाध्य, किन्तु सम्भव है कि नीचे लिखी दवाइयाँ लाभ कर जायँ।

जब थन मारी हुई गाय गाभिन हो जाय तब एक पाव सरसों का तेल प्रत्येक शुक्ल पक्ष की दूज को बच्चा देने तक बराबर देते रहना चाहिए। बच्चा देने के कुछ घन्टे पहले आधी छटाँक हींग चने या जौ की रोटी में खिला दें।

यदि किसी पशु का थन जल्दी दो चार दिन से बन्द हुआ हो तो आध पाव काली जीरी और आध पाव काली मिर्च पीस कर आध सेर गरम पानी में मिलाकर दिन में दो बार तीन दिन तक देना चाहिए। अथवा चार पाँच कागजी नीबुओं का रस एक पाव घी में मिलाकार दोनो समय दीजिये।

३०- थनो का कट जाना -(SORE TEATS)

दूध पीते समय बच्चे का दाँत लगने से या ऊपरी चोंट लगने से थन पर घाव हो जाता है, इसकी दवा शीघ्र कर लेनी चाहिये-

1- तव गर्म करके थन के नीचे रखे और दूध की धार छोड़े। उसके भाप से लाभ होगा।

2- थोड़ा मक्खन या घी लेकर पिसी हुई हल्दी और थोडा नमक डालकर दूध दुहने के पीछे घाव के ऊपर लगा दें।

३१- बच्चा देने के पीछे दूध न उतरना या थोडा उतरना -

गाभिन होने पर कोई- कोई लोग पशु को दुहना एक दम बन्द कर देते हैं, जिससे थनों का दूध सूख जाता है और रोग हो जाता है। अतः धीरे- धीरे दूध सुखाना चाहिये-

1- गरम घी और नमक से पर मालिश करना चाहिए तथा दूध थोड़ा बहुत अवश्य निकाल लेना चाहिए।

2- एक सेर सन की बीज का आटा 1 शेर शीरे में मिलाकार 3 भाग करें और दिन में तीन बार आठ रोज तक दें तो पूरा दूध उतर आता है।

3-गाय का दूध 2 सेर ,गुड़ या शीरा 1 सेर, गेहूँ का दलिया 1 सेर , मोटा चावल 1 सेर - इन सबको 2 सेर पानी में औटाकर आधा सबेरे और शाम को देने से अच्छी जाति के पशु का दूध अवश्य बढ़ जाता है।

३२- बाँझपन -(BARRENNESSSS)

पैदा होते ही पूरा दूध न पाने पर अच्छी खुराक न मिलने पर समय पर साँड न मिलने पर या जुडवाँ बच्चों में से एक नर या एक मादा होने पर उस मादा को प्रायः बांझपन का रोग होता है-

1- आधी छटाँक फास्फेट सोडा गरम पानी में ड़ालकर योनि को बराबर धोते रहना ।

2- किसी निपुण चिकित्सक से गर्भाशय का मुँह खुलवा देना।

3- गाय को बराबर सांड के साथ रखना।

4-दो सेर सन के पत्ते रोज खिलाना ।

5-एक सेर सन के बीज का आँटा आध सेर गुड़ में मिलकार 15 दिन तक खिलाना चाहिए।

6- सात छुहारों की गुठली बासी जौ की रोटी में रख कर सात दिन तक खिलाना।

7-दो सेर अंकुर निकले हुये गेहूँ या जौ पन्द्रह दिन तक खिलाना।

8- ढ़ाई पाव मेंथी महीन पीस कर पानी में लुगदी बनाकर तीन चार दिन तक सवेरे देना।

३३- गाय का बार- बार गर्भस्राव होना -

यह रोग गर्म खुराक या गाय की गर्भ धारण की शान्ति कम हो जाने से होता है। गर्भ दूर करने के लिये गाय को ठंडी खुराक देना चाहिये। एक बार गाभिन होते ही पाव भर घी में आधा तोला पिसी काली मिर्च मिलाकारं दीजिये। इसके बाद निम्नलिखित दवा लें।

1-गाभिन होने के बाद दो सेर लिसोढ़े के हरे पत्ते खिला दीजिये। जिस दिन गाभिन हों उस दिन खाना न दीजियें। और दें तो कम तथा ठंडा।

2-गाभिन होने के दो एक दिन पहले अंकुर निकले हुये चार सेर गेहूँ या जौ खिला दीजिये। इसे चार पाँच दिन तक खिलाइये।

3- पावभर सफेद तिल रात में भिगों दें , सवेरे घोंटपीस कर गाभिन होने के दिन और दो दिन बाद तक पिला दें। सर्दी के दिनों में इसे नहीं देना चाहिये।

३४- सर्प का काटना -

सर्प के काटने का विश्वास हो जाने पर पाँच भाग परामाग्नेट पोटास 95 भाग पानी में मिलाकर काटी जगह के भीतर पिचकारी से भर दें। और कटी जगह के ऊपर रस्सी से कस कर बाँध दें।

३५-कुत्ते का काटना -

पशु को कुत्ते से काटने से जो घाव हो जाय, उसको कास्टिक पोटास से जला देना चाहिये। यह दवा न मिले तो लाल मिर्च के बीज घाव में भर देना चाहिये।

शरीर के ऊपर साधारण रोग -

पशु परस्पर लड़ते भिडते रहते हैं जिससे उनके किसी अंग पर चोट आ जाती है। चोंट आदि न लगने पर भी कभी- कभी आँख कान आदि में कोई बिकार हो जाता है रक्त के विकार से भी कहीं पर सूजन हो जाती है। इस सब रोगों का साधारण समझ कर उपेक्षा नहीं करना चाहिये। इनको अच्छा कर ड़ालना ही ठीक है। नहीं तो आगे चल कर पशु को भारी कष्ट हो सकता है।

१- सूजन और दर्द-

चोट, सर्दी गर्मी या रक्त के विकार से शरीर के किसी भाग पर सूजन आ जाती है। चोट की सूजन को तो नीम के पत्ते उबालकर उस पानी से सेंकना चाहिये। फिर सुहागा तवे पर फुलाकर तिल, घी, वैसलीन या मक्खन के साथ सूजन के जगह पर चुपड़ देना चाहिये।

यदि रक्त विकार से सूजन हो गई हो तो नीम के पत्ते उबाल कर सेकें। फिर एक तोला गेरु, दो तोला मकोय के रस में मिलाकार लेप कर दें या हल्दी चूना मिलाकार लेप करें। भीतर के किसी भाग में दर्द हो जाय तो 15 मिनट से आधे घन्टे तक फलानेल या कम्बल को गरम जल में डुबोकर निचोड़ कर उसकासेंक करना चाहियें। फिर सूखे कपड़े से भलीभाँति पोंछकर सरसों का तेल 4 भाग औरं तारपीन का तेल 2 भाग खूब मिलाकार मालिस करनी चाहियें।

२-रसौली और मस्सा -

कई बार खाल के नीचे से गेंद बनकर सूजती या बढ़ती चली जाती है। या काले - काले मस्से निकल आते हैं। इनसे पशु को किसी भी प्रकार से कष्ट नहीं होता , पर उसकी खाल बिगड़ जाती है इससे इनको हटाना चाहिये।

रसौली में सूजन की भाँति सेंक करना चाहियें । इससे न दबे तो तीन हिस्सा पानी एक हिस्सा कच्चा पपीतें का दूध मिलाकर रख लीजिए। और रुई के फाहे से दिन में कई बार लगाइये ।

मस्से में नाइट्रिक एसिड़ पपीते के दूध में मिला हुआ पानी या चूना सब्जी में थोड़ा पानी ड़ालकर दिन में कई बार लगाइये।चूना सब्जी काँच के बरतन में या सीपिया रखे।

३- फोड़ा फुन्सी और घाव -(ABSEESS)

किसी पशु को फोड़ा हो जाय तो उसे अच्छी तरह पक जाने दीजिये। फिर चीर कर उसकी पीब निकाल देना चाहिये। इसके बाद नीम के पत्तों को पानी में उबाल कर उस पानी से घाव को धोइये और नीम का तेल लगा दीजिये अथवा सरसों का तेल, तारपीन का तेल और कपूर एक - एक छटाँक लेकर और उसमें चौथाई छटाँक फिनायल डालकर घाव पर लगाते रहिये। अथवा पत्थर का कोयला, खड़िया , मिट्टी और फिटकरी, नीला थोथा चारो को बराबर लेकर उनका चूर्ण करके लगाइयें।घाव बड़ा हो तो नीम का तेल और मोम मिलाकर लगाना चाहियें।

घाव को कभी खुला नहीं छोड़ना चाहिये नहीं तो स्थाई नाम की मक्खी उस पर बैठ जाती है और घाव पर कीड़े पड़ जाते हैं। यदि कीड़े पड़ गये हो तो आड़ू या मरुए के पत्तो को पीसकर उसकी टिकिया घाव पर रख दीजिये और मुल्तानी मिट्टी घाव के उपर लीप दीजिये, जिससे घाव को हवा न लगें ऐसा करने से कीड़ा मर जायेगें, तब पीछे घाव को अच्छा कर लीजिये। गहरे घाव में कपूर एक भाग , इसका चतुर्मास, तारपीन का तेल और इतना ही तीसी का तेल खूब मिलाकर लगाना चाहिये।

४- हड्डी पसली की चोट-

बहुधा लड़ने भिड़ने से हड्डी में चोट पहुँच जाती है या हड्डी टूट जाती है।हड्डी टूट गई हो या उतर गई हो तो किसी जानकार से या पशुओं के डॉक्टर से उसे ठीक कराना चाहियें। किसी जानवर आदमी के मिलने के पहले नीचे लिखे दवाईयाँ करें।

1- पीपल की हरी छाल

पाँच सेर पानी में उबाले, जब पानी दो सेर रह जाय तो चोंट पर सेंक करें।

2- भेंड के दूध में पीली कटेरिया औटावे और चोंट की जगह सेंक करें तथा लेप कर दें।

3- एक छटाँक फिटकिरी, आधी छटाँक हल्दी तथा एक सेर दूध पशु को तुरन्त पिला देना चाहियें।

५- खुर में कील काँटों का चुभना -

यदि खुर में कील काँटा या कोई नुकीला चीज चुभ गई हो तो उसे निकाल कर कपूर और तारपीन में मिले हुये तिल के तेल को रुई फाहा भिगोंकर कर सावधानी से भीतर कर देना चाहिये। और आसपास भी तेल चुपड़ देना चाहिये दो चार रोज करने आराम हो जायेगा ।

६- सींग टूटना या सड़ना -

लड़ने भिड़ने से या लाठी के चोंट से सींग टूट जातेहैं। सींग दो प्रकार से टूटते हैं।एक तो जड़ से निकल जाते है, दूसरे सींग के उपर का खोल निकल जाता है।

जड़ से टूटने पर छोटी बेरी के पत्ते पीस कर घाव में भर दीजिये और ऊपर क़पड़ा बाँधकर नीम का तेल ड़ालते रहिये। यदि खोल उतर गया हो तो उड़द की पीठी में आदमी के सिर के बाल सान कर सींग के ऊपर थोप दीजिये। और कपड़ा बाँधकर नीम का तेल डालते रहियें।

अथवा मुल्तानी मिट्टी को सींग पर लपेट कर ऊपर से बाल लपेट दें या सीमेंट अथवा चूना घाव में भर कर कपड़ा बाँध दें। और नीम का तेल ड़ालते रहें।

सींग टूटने से घाव सड़ गया हो या कीड़े पड़ गये हों तो नीम के पानी से धोकर तारपीन के तेल में रुई का फाहा दिन में दो तीन बार रखना चाहियें।7- कान में मवाद पड़ना या घाव होना -

कान में घाव हो गया हो तो उसे नीम के पानीसे धोकर एक हिस्सा कपूर ,एक हिस्सा सुहागा (भुना हुआ) और बीस हिस्सा सरसों का तेल मिलाकार घाव पर लगाना चाहिये आक का तेल लगाकर दो चार बूँदे कान में छोड़ दें।

८- आँख का (SORE EYES)

आँख का रोग बहुधा किसी जंगली जड़ी बूटी के लगने से या लड़ने भिड़ने से होता है। आँख के रोग के आँखो से पानी और कीचड़ बहता है। इसके लिये निम्न उपचार करें।

1- फिट्करी पीस कर पानी में घोलकर छान लें और इससे आँख धोयें।

2- नमक और सहजन के पत्ते रात में भिगों दें। सवेरे घोंट छानकर उसे पानी से धोवें।

3- सहजन के बीज को रगड़ कर पानी में ड़ाले और आँख धोंवें कुछ दिन रोशनी से बचावें।

९- बैल का कन्धा आना या फार लगना-

कन्धा आ जाने पर नमक मिले गरम पानी से सेंक करना चाहिये ।

हल जोतते समय बैल के उछलने से यदि फार लग जाये तो घाव पर तुरन्त मूत्र लगा देना चाहिये , तीन चार दिन करने से अच्छा हो जायेगा ।

१०- आग से जल जाना -

पशु के जल जाने पर तुरन्त चूना या चूने के पानी को वैसलीन में लगा कर मिला कर लगाना चाहिये, 100 बार फेटा हुआ गाय का घी भी बहुत लाभ करता है। चूने के पानी में तिल,रेड़ी, या नारियल का तेल मिलाकार फेटने से मलहम बन जायेगा । उसके लगाने से भी अच्छा होता है।

११- बाबनी अथवा पूँछ का घाव -

पहले पूँछ के बाल खुजली से उडते है और छोटे- छोटे घाव होकर पूँछ गलने लगती है। इसके लिये सल्फ्यूरिक एसिड़ को चौड़े मुँह की बोतल में भर कर घाव वाले सिरे को पाँच मिनट तक उसमें ड़ाले रहे और फिर कपड़ा बाँध दें।

इस प्रकार अपने पशुओं की यथा सम्भव चिकित्सा करनी चाहिये । किसी योग्य अनुभवी चिकित्सक का परामर्श अवश्य लेना चाहिये कभी- कभी ठीक अनुपात एवं प्रयोग का ज्ञान होने से लाभ के बदले हानि होने की आशंका भी रहती है। गौशाला में यथा सम्भव साधारण उपयोग में आने वाली औषधियाँ बराबर रखनी चाहिये, ताकि तात्कालिक चिकित्सा की जा सके। पशुओं के प्रति प्रेमभाव रखते हुये उनके दुःख दर्द की कभी उपेक्षा नहीं करनी चाहिये।

आयु :-

गाय और बैल की आयु अधिक से आयु प्रायः 25 वर्ष की होती है। जलवायु लालन पालन तथा परिश्रम आदि के कारण इसमें कमी वेशी भी हो जाती है। आमतौर इनकी औसतन आयु 12 वर्ष के लगभग होती है। एक बछिया तीन वर्ष की उम्र के आस पास प्रजनन प्रारम्भ करती हैं कोई कोई गायें 12 - 14 महीने बाद दुबारा बच्चा जनती है। गाय को सामान्यतः 18 - 20 महीने बाद दुबारा बच्चा जरुर देना चाहिए। 10- 12 वर्ष की उम्र तक गाय 5-7 अच्छे बछड़े - बछिया दे देती है। कोई कोई गाय 10- 12 बच्चे भी जनती है परन्तु 15-16 वर्ष की उम्र के बाद वह बच्चे देना बन्द कर देती है।

दांत और सीगों के द्वारा इनकी उम्र पहचानी जाती है। नये बच्चे के दूध के दांत दो होते है।

15 - 21 दिन के बच्चे के दूध के 4 दांत होते हैं।
एक महीने के बच्चे के दूध के 8 दांत होते है।
तीन चार महीने के बाद ये दांत पुष्ट होने लगते है।और 15 -18 महीने के उम्र तक सब पुष्ट हो जाते है। फिर उम्र पाकर ये उखड जाते है। और इनके स्थान पर पक्के असली दांत निकल आते है। दो - ढाई वर्ष की उम्र में दो पक्के दांत निकल आते है। तीन साढें तीन वर्ष की उम्र में 4 पक्के दांत आ जाते है। पाँच छः वर्ष की उम्र में 8 पक्के दांत निकल आते है।
इस प्रकार मुँह में काफी समय तक रहने वाले आठों दांत पूरे हो जाते है । यदि इनमें से कोई दांत टूट जायेगा तो वह दोबारा नही निकलेगा, इसी से ये स्थाई या पक्के कहलाते है।

गाय बैलो के निचले जबडें में दांत होते है। और ऊपर के जबडे में खाली हड्डी होती है। वे नीचे के दांतो से चारा कुतर कुतर कर पहले अपना जल्दी जल्दी पेट भर लेते है। फिर आराम से खाये हुये चारे को मुँह में वापिस लाकर दोनों जबडों की किनारे वाली मजबूत दाढों से महीन जुगाली करके आमाशय में पहुचाते है।

दस बारह वर्ष की उम्र के बाद जैसे जैसे गाय ढलने लगती है। वैसे - वैसे उनके दांत भी घिसकर ठुण्टी सरीखे हो जाते है।

गौ के प्रमुख रोग और उनकी चिकित्सा -

(क) गौ के रोगो की होम्योपैथिक चिकित्सा-

गाय एक मूक प्राणी है। वह अपने दुःख की व्यथा नही कह सकती । किन्तु उसका दुःख दर्द आपको। समझना होगा वह निरीह प्राणी है अपनी व्यक्षा कैसे बतायेगी उसे तो दर्द सहन करने की असीम शक्ति प्राप्त है।पर आपको कुछ अवश्य ही करना चाहिए । इसी दृष्टि से यहॉ जनकल्याण के लिए गोधन के कुछ रोगो की औषधियों को दिया जा रहा है। किसी योग्य चिकित्सक का परामर्श लेकर इनका प्रयोग करने से अवश्य लाभ होगा ऐसा हमारा व्यक्तिगत अनुभव है।जहॉ दवाई के सम्मुख उसकी शक्ति लिख दी गयी है उसे ही प्रयोग करे, जहाँ शक्ति नही लिखी गयी है 30या 200 शक्ति का जर्मनी का 10एम0 एल0 सील बन्द डायलूशन लेकर या एक या दो बतासे या खाँड बूरा आदि प्लेट में रखकर 10- 15 बूंद उस पर डालकर गायो दिन में एक बार चटा दें । यह ध्यान रखे कि गाय के मुँह में खाद्य पदार्थ पहले से न हो और बतासा भूमि पर न गिर जाये ।

1. भूख न लगना - (नक्स 1.ज) कार्बोविज 1.ज पेप्सिन 1.मिलाकर दिन में 3 बार दे।
2. मुँह के छाले- घाव जीभ पर गालो के अन्दर हो तो बोरेक्स दे, लार के साथ घाव की स्थिति मर्क्युरियस दे।

3. कब्ज – हाइड्रास्ट 2. दे।

4. अतिसार – नये रोग में चाइना और जीर्ण रोग मे फॉस दे।

5. रक्तमय अतिसार – नक्स 200 की एक मात्रा देकर मर्क्युरियस कारो साइवस देना चाहिए ।

6. कमजोरी – एल्फा,एल्फा क्यू एवं फोस एसिड एक दिन के अन्तर से अलग – अलग दे।

7. अफारा – वायु सचय पर एसाफिटेडा कब्ज भी हो तो कार्वोवेज और दर्द में कोलो फाई दें।

8. खाँसी – ड्रोसेरा 200 की केवल एक ही मात्रा, यदि दोहरानी पडे तो 4से 5 दिन पश्चात् दे।

9. ज्वर– अचानक हुआ हो तो एकोनाइट आर धीरे धीरे हुआ हो तो जेल्सियम देना चाहिए ।

10.सूखा रोग – छोटी बछिया खाती तो यथेष्ट है, पर सूखती जाती है, ऐसी सिथित मे एब्रोटेनम देना चाहिए ।

11.बाल झडना– (शरीर में मिनरल की कमी से) फ्लोरिक एसिड दे।

12.गाय का दूध कम हो जाना – अचानक कम होना या पवास न आना (दूध न उतरना) एग्रस सधः प्रसूता के थनो में दूध न आने पर अर्टिका क्यू दिन में तीन बार दें ।

13.बछड़े – बछियाओ के गर्मी के दस्त आर्स दे।

14.गाय के मूत्र में रक्त का आ जाना – प्यास में आर्स मूत्र के साथ जलन हो, जोर लगाकर कूंथ रही हो तो कैन्थेरिस देना चाहिए

15.गाय के मूत्राशय में जलन– सार्सापरिला एवं इक्युयर्क एक दिन छोड़कर अलग–अलग दिन में एक बार दें।

16.मूत्र कष्ट से आना – एपिस अथवा कैन्थरिस दें।

17.जल जाना– छाला, फफोला पड़ जाने से पूर्व और पश्चात कैन्थरिस दें ।

18.स्तनथन की सूजन लाल सूजन में एपिसबेला डोना दें। पत्थर जैसी कड़ी सूजन में कोनियम जब पस पड़ने वाली हो तो बेलाडोना के पश्चात ब्रायोनिया दें।

19.स्तनों में तरेड़ जाना– ऐसी स्थिति में रेटेन्हिया दें।

20.गर्भपात होने की आशंका– कोलोफाइलम दें।

21. प्रसव प्रसवोत्तर पीड़ा– कोलोफाइलम दें।

22.गोबर के साथ मलाशय बाहर निकल जाना- एलोय एवं फोडोफाइलम पर्याय क्रम से दिन में एक बार देना चाहिये।

23.गर्भाशय भ्रंश - सीपिया दें।

24.बांझपन- दुर्बलगाय या बछिया को ब्राइटाकार्व तथा स्वस्थ को एग्रस दें।

25.पेट के कीड़े - गोल और सूत्रकृमियाँ आदि समस्त कृमि के लिये चेलोन मूल अर्क की 10 से 15 बूंद 5 दिन तक क्रमशः दें।

26.चोंट- गुम चोट में अर्निका तथा घाव वाली चोंट में हाइपेरकिम

27.खून बहने वाला घाव- कैलेण्डूला मूल अर्क, यह रक्त बहने को रोक देगा, खाने को भी दें घाव पर भी लगायें।

28.टेटनस-होम्योपैथी में टेटनेस का टीका देने की जगह लीडम की एक खुराक पिला दी जाती है।

29.घाव भरने में - हैक्लालावा 6 एक्स में तथा घाव सुखाने हेतु साइलीशिया एक हजार की एक मा्त्रा दें।

30.बारम्बार गर्भ-पात होना- सिफिलिनम 1 एम0+वैसीलिनम 1 एम की एक खुराक दें।

31.बदिया या गाय का गर्म न होना- जैनोसिया अशोक मूल अर्क एक सप्ताह तक तीन बार दें।

32.कान में मिट्टी धूल पड़ने से पीब आना- हीपर अथवा पल्स दें।

(ख) पशु चिकित्सक का सिर दर्द -दुधार गाय में कैन्सर-

आज कल गाय के थन का कार्सिनोमा पशु - चिकित्सक के लिये एक कठिन प्रश्न बन गया है। शोभा युक्त कार्सिनोमा गर्भवती या दुधारु गाय के थन में तीव्र गति से बढ़ने वाला कैन्सर है, जिसका प्रारम्भ एक पिण्ड के रूप में होता है। स्तन के उपरिस्थ उत्तक शोथयुक्त हो जाते हैं और वह सूज जाता है तथा तीव्रस्तनशोथ के समान दिखाई देता है। कितनी ही बार अन्य थन यहां तक कि पूरा स्तनस्थान (बाँक) भी रोग ग्रस्त हो जाता है। शोथ युक्त कार्सिनोमा की अभी तक कोई विशेष उपयोगी चिकित्सा ज्ञात नहीं हुई है। निर्मूलक स्तनोच्छेदन से लाभ नहीं होता और न उसका परामर्श ही दिया जाता है। महिलाओं में शमनकारी एक्सरे चिकित्सा की जा सकती है और हार्मोन रोह्य उपयों से उसमें सहायता मिल सकती है, किन्तु मूक गौ माता के समक्ष एलोपैथी चिकित्सा भी मूक दर्शन मात्र रह गयी है। बेचारी गौ माता का दुःख समझते हुये भी पशु चिकित्सक अपना समस्त ज्ञान एवं सेवा देकर भी कुछ नहीं कर पाता ।

स्तन जब दूध भरे हो, गाय के बैठते समय या बच्चे के दूध पीते समय थन या बांक में उसका सिर या थूथन के प्रहार से हलकी सी चोंट आ जानेसे या मौसम के प्रभाव से भी हल्की सी सूजन आजाने पर यदि उसकी चिकित्सा कर दी गई तो केवल एकोनाइट या अर्निकाकी एक मात्रा से ही सब ठीक हो जाता है हाँ देर हो जाने पर अन्य औषधियों का सहारा लेना पड़ता है। इसके लिये किसी सुयोग्य चिकित्सक का परामर्श लेना आवश्यक है।

होम्योपैथी की दवाई बूदों में दी जाती है। 10 से 15 बूंद किसी माध्यम से गाय की जिह्वा पर छू जाय। बस दवाई कार्य कर जायेगी। गाय सीधी है तो एक चम्मच पानी में दी जा सकती है, प्लेट में बताशा, बूरा(खाँड) आटे की हल्की सी परत पर दवाई टपका कर चटाई जा सकती है।

मठरी- जितनी मोटी रोटी बनाकर ऊपर का पतला पापड़ हटाकर मोटे भाग पर दवाई टपका कर, दवाई वाला भाग भूमि की ओर कर गाय को देने से उसकी जीभ पर दवाई छू जायेगी। महक वाली वस्तु हाँथों के छू जाने से दवाई का प्रभाव नहीं होता, अतः दवाई लेने से पूर्व हाँथ की सफाई कर लें।

गाय को अचानक शीत का अनुभव हुआ हो, ज्वर हो , तीव्र स्तन पर प्रदाह(सूजन) सी दिखाई देती तो एकनोइट 200 की एक मात्रा दे दी जाय।

यदि थन या बाँक मे किसी चोंट के लग जाने का ज्ञान हो चर्म पर हल्का बैगनी चोंट का चिह्न भी हो, सूजन हो या नहीं तो अर्निका की एक या दो मात्रा भी यथेष्ट होगी। यदि छिल गया है तो कैलेण्डुला,मूल अर्क को वहाँ चुपड़ देने मात्र से घाव ठीक हो जायेगा। दवाई पिलाई भी जाय तो और लाभ मिलेगा। यदि सूजन बढ़ती दिखाई दे तो ब्रायोनियाँ दें। लाल धारियाँ सी सूजन पर दिखाई दे तो बेलाडोना उसके लिये पर्याप्त होगा। किसी भी प्रकार बेला डोना से लाभ न हो रहा हो तो मर्क्युरिस दें, यह उस समय दी जाती है जब लाल - लाल सूजन बड़ी तेजी से बढ़ती जा रही हो। दवाई से तुरन्त ही **घटनी प्रारम्भ हो जाती हैं**

यदि लाली नहीं है और सूजन तेजी से बढ़ रही हो तो केवल कैल्केरिया फ्लु ओरिका, देने से कड़ा पन समाप्त हो जायेगा, बढ़ना बन्द हो जायेगा । यदि ट्यूमर बन गया हो तो दर्द होता हो तो उसे म्यूरेक्स ही शान्त कर देता है।

गाय की आँखों में चमक न हो कीचड़ या पानी आता हो और दूध की अनुपस्थिति हो या दूध प्रवाह कम हो गया हो उसे ' पल्साटिला' से लाभ हो जायेगा। यदि सूजन के साथ मवाद (पस) आने लगे तो हीयर उस कंपड़े को घोलकर मवाद रूप में बाहर निकाल

देगा। यदि मवाद नहीं और चिपचिपा शहद-सा घाव से आता हो, थन फट कर घाव सा हो गया हो तो 'ग्रेफाइटिस'

स्तनों में जलन सी प्रतीत हो पस पड़ने वाली हो तो ' कार्बोवेज' का भी प्रयोग किया जा सकता है। घाव को सुखाने के लिये अन्त में 'साइलीशिया' एक हजार की एक सप्ताह पश्चात् मात्रा दी जाय।

पत्थर की भांति कठोर,चुभने वाले दर्द युक्त ट्यूमर में जब जरा सी सर्दी से ग्रन्थियाँ प्रवाहित हो जाती हो और तीव्र खुजली भीहो तो 'कोनियम'30 वी शक्ति में दिन में एक बार ठीक होने तक दी जाय।

यदि इनमें अभी तक किसी उपचार से लाभ न दिखाई दिया हो तो ' कोनियम' एक हजार में पहले दिन दें पहली मात्रा,दूसरी 15 दिन पश्चात् दस हजार की शक्ति की मात्रा दें फिर 15 दिन पश्चात्'कार्सिनोसिन' की दस हजार शक्ति की एक खुराक दें।

यदि कैन्सर का ट्यूमर घूमता हुआ प्रतीत हो तो ,उसके लिये ' कैल्केरिया फ्लोर' एक हजार की पहले दिन एक मात्रा दें, दस दिन बाद दूसरी मात्रा दें,10 दिन बाद फिर 10 हजार शक्ति की एक मात्रा दें। मुझे आशा ही नहीं पूरा विश्वास है कि इन दवाओं के प्रयोग से रोग ग्रस्त गौओं को लाभ होगा ।

(ग) आक्सीटोसिन(पवास के इंजेक्शन) से गाय को बाँझ न बनायें-

गाय के बाँक में दूध भरा रहता है, जब उसके बच्चे को दूध पिलाने के लिये छोड़ते हैं तब बच्चा स्तनों में जा लगता है। आपने देखा होगा कि गाय उसे चाट्ती है और उसे चूमती है। उस समय उसका ममत्व जाग उठ्ता है। बच्चे के स्तन चूषण द्वारा प्राकृतिक दुग्ध निष्कासन- प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है।

कुछ गायें अधिक चतुर एवं संवेदनशील होती हैं उनका दूध पीता हुआ बच्चा हटाकर दुग्ध दोहन करने पर वे उत्तेजित हो जाती हैं जिसे दूध का निकलना रुक जाता है। गाय के स्तन में अवरोधिनी माँसपेशी होती हैं जिससे गाय अपनी इच्छानुसार दूध का बाहर आना रोक लेती है। जिसे गाय ने दूध चढ़ा लिया ऐसा कहा जाता है। बच्चे को दूसरी बार छोडने पर वह पुनः पवास(पेन्हा) जाती है थन में दूध उतर आता है।

आक्सीरोसिन एक दूध-उत्क्षेपक हार्मोन है और बच्चा न रहने पर गाय का ममत्व नहीं जागता, जिससे वह दूध वह नहीं उतार पाती। इसके लिये कुछ लोग आक्सीटोसिन हार्मोन का इंजेक्शन क्रय कर गाय के शरीर में प्रविष्ट कर दूध निकाल लेते हैं।

गाय को दूध पवासने (दूध उतारने) के लिए इस हार्मोन का इंजेक्शन कदापि न लगायें और अन्य को भी न लगाने के लिये प्रोत्साहित करें। यह स्तनों से ही दूध नहीं

उतरता,अपितु गर्भाशय पर भी बच्चे होने ,जेर डालने आदि में उत्प्रेरक का कार्य करता है। शरीर में इसको अनावश्यक मात्रा पहुँचाने से वह स्तन और गर्भाशय की प्राकृतिक प्रक्रिया को नष्ट भ्रष्ट कर देता है। सगर्भा का गर्भ गिर जाता है। डिम्ब अपरिपक्व अवस्था में टूटकर नष्ट होते - होते गाय बाँझ हो जाती है। ऐसा दूध पीने से अरिरिक्त हार्मोनमय दूध पीने वाले व्यक्ति के शरीर पर भी कुप्रभाव पड़ता है। उसका मानसिक संतुलन बिगड़ जाता है,क्रोध आवेश का सहज ही आना इसका प्रमाण है। अन्य हार्मोन ग्रन्थियों पर भी इसका प्रभाव पड़ता है,क्योकि एक हार्मोन की अन्य हार्मोन पर सहज ही क्रिया होती रहती है।

बहुत सस्ते दामों में आने वाला यह इंजेक्शन प्रायः सब जगह मिल जाता है। दूध बेचने वाले पशु धडल्ले से इसका खुले आम नित्य प्रयोग कर रहे है। नवजात गाय भैंस के बच्चो को भूँखा मार कर मरने दिया जाता है और उसके हिस्से का भी दूध ले लिया जाता है। उन्हे तो बच्चा नहीं इस हार्मोन की आवश्यकता है ताकि दूध अधिक मिले कृपया उन्हे समझाइये, गौ माता को बाँझ होने से बचाइये।

यदि उनके समक्ष किसी कारणवश ऐसी समस्या आ खड़ी हुई कि गाय दूध नहीं उतार रही है तो होम्योपैथिक दवाई एग्नस कैक्टस 6 शक्ति की सुबह शाम 10-15 बूंद एक चम्मच पानी या बतासे पर ड़ालकर देते रहने से उन्हे फिर कभी आक्सीटोसिन का इंजेक्शन नहीं लगाना पड़ेगा वह स्वयं ही दुहते समय दूध उतारती रहेगी।

उपसंहार

उपसंहार

आयुः कामयमानेन धर्मार्थसुखसाधनम्।

आयुर्वेदोपदेशेषु विधेयः परमादरः।। (वाग्भट)

संसार के सभी अभीष्ट कार्यों-धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सिद्धि स्वस्थ शरीर और दीर्घ आयु से ही हो सकती है। अतः दीर्घायु और स्वास्थ्य की कामना करने वाले प्रत्येक मानव को आयुर्वेद का ज्ञान प्राप्त करना और उसके उपदेशों का पालन करना चाहिए।

शरीर, इन्द्रियों, मन और चेतना धातु आत्मा इन चारों के संयोग अर्थात् जीवन को ही आयु और उस आयु सम्बन्धी समस्त ज्ञान को आयुर्वेद कहते हैं। यह आयुर्वेद अनादि है, क्योंकि सृष्टि के आरम्भ से ही जीवन और स्वास्थ्य- रक्षार्थ वायु, जल, अन्न आदि पदार्थों तथा उनके समुचित प्रयोग की आवश्यकता की अनुभूति के साथ ही विविध साधनों एवं उपायों का अन्वेषण और उनका उपयोग भी प्रारम्भ हुआ। यद्यपि परिस्थितिवशात् उनमें अनेक परिवर्तन भी होते आए, किन्तु देश, काल आदि भेद से किञ्चित न्यूनाधिक होते हुए भी द्रव्यों के गुणों या प्राणियों के स्वभाव में मौलिक अन्तर कदापि न हुए और न हो सकते हैं। इसी प्रकार स्वस्थातुर परायण आयुर्वेद के सिद्धान्तों में मौलिक अन्तर तो कदापि न हुए : हॉ देशकालादि परिस्थितिवशात् उन सिद्धान्तों के आधार पर प्रयुक्त द्रव्यों एवं साधनों में विविधता और विचित्रता होना स्वाभाविक है। जैसे-महास्रोत में संसक्त किसी निज या आगन्तुक शल्य के निर्हरण रूप सिद्धान्त के उपायों, वमन, विरेचन, वस्ति या शस्त्र कर्म आदि रूपों में अनेकता हो सकती है।

इससे यह भी सिद्ध है कि आयु-सम्बन्धी समस्त ज्ञान आयुर्वेद का विषय है और आयुर्वेद को किसी एक देश, काल, भाषा या व्यक्ति की सीमा में बॉधा नहीं जा सकता। विचारद्योतन मात्र एक ही उद्देश्य वाली विविध भाषाओं की वर्णमाला और व्याकरण की विविधता की ही भॉति त्रिदोषवाद, जीवाणुवाद या अन्य किसी भी वाद के अनुसार वर्णित चिकित्सा और स्वास्थ्य के नियमों का भी एक ही उद्देश्य होता है।

सर्वप्रथम देवताओं में ब्रह्मा से प्रजापति, उनसे अश्वनीकुमारों और उनसे इन्द्र ने आयुर्वेद का अध्ययन किया तथा उनसे आत्रेय, भारद्वाज और धन्वन्तरि एवं उनके

शिष्य-प्रशिष्यों ने आयुर्वेद का अध्ययन कर मानव समाज में उसका प्रचार किया। भविष्य में होने वाली सन्तति में उत्तरोत्तर आयु एवं बुद्धि की अल्पता का ध्यान कर समूचे आयुर्वेद को कायचिकित्सा, शल्यतन्त्र, शालाक्य, कौमारभृत्य, अगदतन्त्र, भूतविद्या, रसायन और वाजीकरण। इन आठ भागों में विभक्त कर प्रत्येक अंग की अनेक संहिताओं को बनाया।

इसमें काय चिकित्सा और शल्य तंत्र का व्यापक उपयोग होने के कारण इन दो अंको को अधिक महत्व प्राप्त हुआ तथा व्यापकता, अर्थ गांभीर्य, विशदता, भाषासारस्थ, सुबोधता आदि अनेक गुणों के कारण कार्य चिकित्सा में अग्निवेशसंहिता और शल्य तंत्र में सुश्रुत संहिता को सर्वाधिक आदर मिला।

आज से पाँच हजार वर्ष पूर्व भारतीय आयुर्वेद अत्यन्त विकसित था। महाभारत की युद्धाग्नि में लाखों बीरों के साथ सहस्रों विद्वान और वैज्ञानि भी लीन हुए। फिर भी आज से दो सहस्र वर्ष पूर्व तक आयुर्वेद का रूप विकसित ही था। तब तक अनेक विदेशीय विद्वान् यहाँ आकर आयुर्वेद्र का अध्ययन करते रहे तथा हमारे देश के अनेक विद्वान् विदेशों में भी सम्मानपूर्वक अध्यापन कार्य में संलग्न रहे। समय-समय पर वे विदेशी विद्वानों के भी उपयोगी अनुभवों को अपने-ग्रन्थों में समावेश कर भारतीय आयुर्वेद को सुपुष्ट करने में संकुचित न होते थे।

इस प्रकार ज्ञान का आदान-प्रदान करते हुए हमारे देश के विद्वान् आयुर्वेद्र शास्त्र के परिवृंहण में सतत् प्रयत्नशील रहे। प्राचीन ग्रन्थों में ऐसे अनेक अद्भुत चमत्कारों का उल्लेख मिलता है, जिनकी तथाकथित अत्युन्नत अर्वाचीन पाश्चात्य वैद्यों को कल्पना तक नहीं है। वंश परम्परागत रोग-विशेषों की चमत्कारिक चिकित्सा विधि एवं द्रव्यों का ज्ञान कहीं-कहीं अपद ग्रामीण जनों तक में अब भी विद्यमान है।

दैवदुर्विपाक से हमारे देश में भी पारस्परिक ईर्ष्या-द्वेष जनित कलहों और देश पर हुए विदेशियों के आक्रमणों से अनेक राजनीतिक एवं सामाजिक परिवर्तन हुए। पूर्वोक्त परस्परानुग्रह और आदान-प्रदान पूर्वक ज्ञान-विज्ञान के उन्नति पथ में अवरोध ही नहीं, अपितु उनका ह्रास होना प्रारम्भ हुआ। नवीन अनुसन्धानों को होना तो दूर रहा, प्राचीन ज्ञान का भी गोपन होने लगा। अनेक ग्रन्थ रत्न चोरी गए और लूटे गए। इतना ही नहीं

कुछ मदान्ध विजेताओं ने अग्निकुण्ड में हमारी ग्रन्थराशियों की आहुति देने की अदूरदर्शिता का परिचय दिया। इस प्रकार विविध विषयों के साथ आयुर्वेद के भी अनेक ग्रन्थरत्न लुप्त हो गए। इसका परिणाम यह हुआ कि एक विषया का विशेषज्ञ भी अवान्तर विषय से सर्वथ अनभिज्ञ रहने लगा, जबकि आवश्यकता इस बात की हो चुकी हैं एक विषय के विशेषज्ञ को दूसरे विषयों के मौलिक सिद्धान्तों से भी परिचित होना चाहिए।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. गरुड पुराण — मूल तथा गीता प्रेस गोरखपुर, हिन्दी अनुवाद
2. अग्नि पुराण — मूल तथा गीता प्रेस गोरखपुर, हिन्दी अनुवाद
3. ब्रह्मवैवर्त पुराण — हिन्दी साहित्य सम्मेलन, इलाहाबाद
4. चिकितसा चन्द्रोदय — हरिदास वैद्य
5. बुद्धिवर्धक औषधियाँ — व्यास पूनम चन्द्र वैद्य
6. वनौषधि चन्द्रोदय — चन्द्रराज भण्डारी, चौखम्भा प्रकाशन
7. आयुर्वेदीय स्वास्थ्यवृत्तम् — वैद्य दत्तात्रेय शास्त्री जलूकर
8. आयुर्वेदीय हितोपदेश — वैद्य रणजीत राज देसाई
9. अष्टांग हृदय — (अरूणदत्त की सर्वांग सुन्दरी तथा हिमाद्रि की रसायन टीका), निर्णय सागर, मुम्बई – 1939
10. चरक संहिता — दो भाग मोतीलाल बनारसी दास– 1941–42
11. सुश्रुत संहिता — डल्हण टीका, निर्णय सागर– 1938
12. आयुर्विज्ञान कोश — केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय, नई दिल्ली
13. आयुर्वेदीय विश्वकोश — वैद्य दलजीत सिंह, भाग– 1–4
14. धन्वन्तरि राज निघण्टु — आनन्द आश्रम प्रेस, पूना, 1925
15. वनौषधि निदर्शिका — उत्तर प्रदेश शासन, हिन्दी संस्थान लखनऊ, 1982
16. कादम्बरी का वानस्पतिक वैभव — माया त्रिपाठी
17. विनय पिटक का भैषजखण्ड — राहुल सांस्कृत्यायन द्वारा अनूदित
18. इण्डियन मेडिसिनल प्लांट्स — सी0एस0आई0आर0, नई दिल्ली, आर0एन0चोपड़ा – 1956
19. वाल्मीकीय रामायण में आयुर्वेद — पूर्णिमा प्रकाशन, मकरान मुहल्ला जोधपुर–1978
20. आयुर्वेद का वृहद् इतिहास — चौखम्भा प्रकाशन, वाराणसी
21. ब्रह्मपुराण — हिन्दी साहित्य सम्मेलन, इलाहाबाद

22. बृहन्नारीय पुराण — हिन्दी साहित्य सम्मेलन, इलाहाबाद
23. मत्स्य पुराण — हिन्दी साहित्य सम्मेलन, इलाहाबाद
24. वायु पुराण — हिन्दी साहित्य सम्मेलन, इलाहाबाद
25. कूर्म पुराण — हिन्दी साहित्य सम्मेलन, इलाहाबाद
26. स्कन्द पुराण — हिन्दी साहित्य सम्मेलन, इलाहाबाद
27. मार्कण्डेय पुराण — हिन्दी साहित्य सम्मेलन, इलाहाबाद
28. भविष्य महापुराण — हिन्दी साहित्य सम्मेलन, इलाहाबाद
29. वामन पुराण का सांस्कृतिक अध्ययन — हिन्दी साहित्य सम्मेलन, इलाहाबाद
30. पुराणों में गंगा — हिन्दी साहित्य सम्मेलन, इलाहाबाद